WINTERNITZ

प्राचीन भारतीय साहित्य

१

प्रस्तावना

२

वेद-वेदाङ्ग

मोतीलाल बनारसीदास
दिल्ली - वाराणसी - पटना

M. WINTERNITZ'S

INDISCHEN LITTERATUR

I. i.

By arrangement with Koehler & Amelang (VOB) Leipzig
translated from the original German
and brought up-to-date, 1961,

LAJPAT RAI

@

MOTILAL BANARSIDASS
DELHI : VARANASI : PATNA

निवेदन

जैसा कि एक विज्ञप्ति में प्रकाशकों ने पहले-से ही स्पष्ट कर दिया है, प्रस्तुत योजना के अन्तर्गत ग्रन्थों का प्रकाशन ('प्राच्यविद्या' के प्रकाण्ड-पण्डितों के लिए नहीं) जर्मनी के साधारण-शिक्षित वर्ग को दृष्टि में रख कर किया जा रहा है।

सो, 'प्राचीन भारतीय साहित्य की एक गाथा' प्रस्तुत करते हुए लेखक की दिशा, इतिकर्तव्यता, एवं धारा पूर्व-विनिश्चित है: क्योंकि——हमारी इस कथा का पाठक भारतीय साहित्य की गतिविधि से सर्वथा-अपरिचित पश्चिम का वह 'अविशेषज्ञ' है जिसका उद्देश्य——फ़कत एक क्रम-विहीन किस्सा-कहानी पढ़ कर (अपना) फालतू-समय (जैसे-तैसे) गुजार-देना भर नहीं है, बल्कि——जहां तक मूल भाषाओं के परिज्ञान के अभाव में संभव है——भारत के अन्तर्हृदय से (अर्थात् वाङमय की 'भारती' वृत्ति से) पूर्ण-तादात्म्य उपलब्ध कर लेना है। एक अंग्रेजी, जर्मन व फ्रेंच, साहित्य-संकथा का ध्येय उस-उस साहित्य का क्रमिक-विकास देकर ही परिसमाप्त हो जाता है; साहित्य के अंगांग का पग-पग पर परिचय वहां अनपेक्षित है। किन्तु भारत-भारती (जिसके अनुवाद जर्मन भाषा में, दुर्भाग्य-वश, बहुत ही कम सुलभ हैं) के ऐतिहासिक का गुजारा बिना मूल रचनाओं के उद्धरणों एवं कथासारों के द्वारा अपने कथानक को पुष्ट करते-चलने के असंभव है। कहने का मतलब यह कि भारतीय वाङमय का इतिहास साथ-ही-साथ भारतीय वाङमय की एक रूपरेखा भी हो——जरूरी है। [उदाहरण के तौर पर——भारत का "राष्ट्रीय इतिहास-पुराण" (जिसको कि प्रस्तुत इतिकथा का एक बड़ा एकांश स्वतंत्र रूपेण अर्पित भी है) बहुत-कम ही अंशों में अभी तक जर्मन रूपान्तरों में प्रथित हो सका है; अतः बिना किसी प्रकार के विशद वर्णनोपवर्णनों को यथावत् उपहृत किये इन महाप्रबन्धों की आत्मा को किंचिदपि अधिगत कर सकना असंभव है।]

और यही कारण है कि ग्रन्थ का कलेवर 'योजना' की पूर्व-निर्धारित परिधियों को निरन्तर लांघता ही लांघता गया यद्यपि——कुछ और कारण भी थे जिनसे कि हम एतदर्थ विवश थे: और उन कारणों में मुख्य एक-ही: वह यह कि——भारतीय वाङमय की सनातन-तम गतिविधि हमारे प्रस्तुत भाग का विषय है जो, कि काल-दृष्टि से विशेषतः, प्रायः सारी की सारी ही एक अ-विनिश्चित भाव-वृत्त की-सी

अवस्था में अद्यावधि अनिर्णीत, अ-निरूपित, चली आती है। विपुल वेद-वाङ्मय में, ऐतिहासिक महाकाव्यों में, पौराणिक अनुश्रुतियों में. . . शायद ही कोई कवि-कृति ऐसी हो जिसे एक निश्चयात्मक तिथि (एक निश्चित शती ही) दी जा सकती हो। वेदों के युग के सम्बन्ध में, या महाभारत-रामायण, व पुराणों के विषय में ही, "रचना-काल विषयक" कुछ-भी निर्णय उपस्थित कर सकना बिलकुल नामुमकिन है। किन्तु एक साधारण पाठक के संमुख यह स्वीकार कर लेने से भी तो काम नहीं चल जाता कि इन प्रख्यात रचनाओं के विषय में हमारा अ-ज्ञान "क्षन्तव्य" है; अपने अज्ञान की भी हमें कुछ निश्चित-सीमाएं, आरम्भ से ही, दे-देनी होंगी और अपनी उन अर्ध-निर्णीत, अ-स्थित, कल्पनाओं के वे कुछ-न-कुछ विनिश्चित आधार भी हमें दे-देने होंगे। तदनुसार : हमारे विवेचन का एक पर्याप्त बड़ा-अंश स्थान-स्थान पर स्वभावतः वेद, इतिहास, पुराण के तिथि-निर्णय को ही अर्पित होना था——यद्यपि वहां भी हमारा दृष्टिकोण ऐसे-स्थलों को (विशेषज्ञों के लिए कम) अपने प्रिय साधारण-पाठक के लिए कुछ सुलझा-देने का ही अधिक रहा है। इस सब के बावजूद भी यदि इन विवेचनाओं में कुछ सामग्री ऐसी-भी आ गई है, जो स्वयं विशेषज्ञों तक को——हो सकता है--कुछ-नयी, कुछ अ-ग्राह्य, भी लगे——वह केवल इसीलिए कि अनुसन्धान की वर्तमान गतिविधि में ये नयी समस्याएं नयी परिस्थितियां, ये नयी उद्भावनाएं, पिछले कुछ वर्षों से प्राच्य-शोधकों का ध्यान अपनी ओर, निर्वश, आकृष्ट करती आ रही हैं।

टिप्पणियों में निर्दिष्ट संकेतों व सन्दर्भों का प्रयोजन, वि-शेषेण, विशेषज्ञों के संमुख सम्पादक के दृष्टिकोण को प्रमाण-पुष्ट समुपस्थित करने का भी रहा है, क्योंकि——किसी भी देश की "शिक्षित-जनता", स्वभाव-तः, सन्दिग्ध स्थलों के बारे में प्रमाण-पुरुषों के निर्णय को ही यथावत् 'अन्तिम' स्वीकार कर लिया करती है——ऐसा करना उसके लिए उचित भी है। शेष प्रसंगों में लेखक का उद्देश्य पदचन्द्रिका में संस्कृत ग्रन्थों के उपलभ्य जर्मन (संभव हो तो अंग्रेज़ी, फ्रेंच भी) अनुवादों का निर्देश कर देना भर है। इन विदेशी अनुवादों की सहायता हमने वहीं ली हैं जहां कि उनके रूपान्तर हमें मूल की भावना के निकट ज़्यादह प्रतीत हुए हैं; अनिर्दिष्ट अनुवाद स्वयं लेखक के (क्षम्य-प्रयास) हैं।

इस-सब (निवेदन) को पढ़ कर, अब पाठक को यह अनुभव कर सकना मुश्किल न होगा कि "प्राचीन भारतीय साहित्य" को यथा-योजनाम्——तं प्र-थमं कल्पम् अनतिक्रम्य यथा-स्यात्-तथा——उपस्थित कर सकना दुःसाध्य था। लेखक हृदय से अपने प्रकाशकों का अनुगृहीत है कि निर्धारित सीमा को परि-स्तृन करते हुए एक और, और 'एक और' पूर्ण-भाग ही ग्रन्थ में सम्पृक्त करने की

अनुमति उन्होंने सहर्ष दे-दी। प्रस्तावना के प्रथम पृष्ठ पर ही हमारी दृष्टि, सर्व-प्रथम, इस क्षेत्र-विस्तार की ओर ही, दिग्दर्शनाय-मात्रम्, गई है।

भारत के विशाल वाङमय का परिचयाभास "प्रागैतिहासिक" वेद-वेदांग परक प्रस्तुत निबन्ध मे आरम्भ होता है, जिसके अनन्तर महाकाव्य-पुराण के अर्ध-स्पष्ट "ऐतिहासिक पृष्ठ" हमारे ग्रन्थ के दूसरे भाग का विषय होंगे, और—अन्त में—बौद्ध-जैन वाङमय के साथ ही, कही, भारत के तथा भारती के स-तिथि-त, ज्ञात-काल, इति-ह-आस की भूमिका में, अवतरित होकर ही, पाठक के संमुख दृश्य कुछ विशदता के साथ उभरने-उतरने शुरू होंगे।

लेखक की अनुग्रह-आभार भूमि कितनी व्यापक है यह तो "इतिहास" के पृष्ठ-पृष्ठ पर अंकित टिप्पणी-गत संकेत, तत्तत्-स्थलेषु, स्वयं आप कह रहे हैं; किन्तु वेबर के "आकादामिशे वोर्लेसुङ्गन उिबेर इण्डिशे लितेरातुरे-गेशिख्ते" (दूसरा संस्करण, बर्लिन, १८७६)—वह प्रमाण-ग्रन्थ कि जिसने सचमुच भारतीय-साहित्य में इतिहास की एक नूतन (प्रथम) "प्रणाली" का ही पवत्तन कर डाला—(वेबर) का ऋण और लेपल्ड श्रेडर की स्फूर्ति-दायिनी नवोन्मेषी व्याख्यानमाला "इन्दिएन्स लितेरातुर उन्द कुल्तुर इन हिस्तोरिशेर एन्तविकलुङ" (लाइपत्सिश १८८५) का ऋण उसका कितना है इसे पग-पग पर व्यक्त करते चलना लेखक के लिए स्वभावतः असंभव था। इनके अतिरिक्त ए. बार्थ के "रिवू द ल्' हिस्तोये देस् रिलीजिओंस् द ए ल्'इन्द" (I, III, V, XI, XIV, XXVIIIf, XLIf, XLV, १८८०-१९०२) में प्रकाशित "बुलेतिन्स देस् रिलीजिओंस् द ल्'इन्द" का सं-स्मरण भी, सर्वत्र, नहीं हो सका। और फिर—एच. ओल्डनबर्ग के प्रतिभापूर्ण निबन्धों (दिए लितेरातुर दास आल्तेन इन्दिएन, स्तुत्तगार्त्त-बर्लिन, १९०३) की आपूर्ण भारतीय-साहित्य के प्रति एक कलाकार की भावुकता-दृष्टि—वह तो स्वभावतः ही एक ऐतिहासिक की योजना के अन्तर्गत, स्वी-कृत, नही हो सकती थी। ए. बाउगमार्त्तनर (गेशिख्ते देर वेरा लितेरातुर II. दिए लितेरातुरेन इन्दिएन्स उन्द ऑस्तासिएन्स, 3. उन्द 4. ऑल्फ, फाइबुर्ग i. बॉ० १९०२), ए. ए. मैक्डानल (ए हिस्टरी आव संस्कृत लिटरेचर, लण्डन, १९००), तथा वी. हेनरी (ला' लितरातुर्स द ल्'इन्द, पारी, १९०४) की महत्वपूर्ण रचनाएं भी उसी प्रकार उसकी दृष्टि में प्रयोजन-बाह्य ही रही—उनमें कोई नयी युक्ति नहीं मिली, कोई नया प्रश्न नही उठाया गया। "दिए कुल्तुर देर ओरिएन्तलिशेन लितेरातुरेन" (बर्लिन-लाइपत्सिश १९०६) ग्रन्थमाला मे (भाग १, अधिकरण ७, के रूप में) रिचर्ड पिशेल की प्रकाशित भारतीय वाङमय की रूपरेखाओं ("दिए ओरिएन्तलिशेन लितेरातुरेन") की सूत्रवृत्ति एक ऐतिहासिक के

लिए सचमुच एक आदर्श उपस्थित करती है किन्तु वह वर्तमान लेखक के संमुख आयी-ही तभी जब कि उसके अपने विचार, पूर्ण, लिपिबद्ध हो चुके थे—और उनका अधिकांश मुद्रित भी हो चुका था। इसके अतिरिक्त लूसिअन शरमान के 'ओरिएन्तलिशे बिब्लिओग्राफ़िए'' की—हर प्राच्यविद् के लिए अपरिहेय—सहायता का यथास्थान स्वीकार करने में भी हम प्रायः चूके ही हैं। और, विशेषतः वेदवाङ्मय परक (ो वर्ष पूर्व पहली बार प्रकाशित) प्रस्तुत निबन्ध के सम्बन्ध में अपने स-हृदय, स-बोध, आलोचकों का स्मरण भी तो शायद शब्दार्पण की वस्तु नहीं बन सकता। सो—क्षमा मांग लूं ?

Prag, Kgl. Weinberge.
15th October, 1907.

—**M. Winternitz**

समाधिपाद

गच्छतः	स्खलनं	क्वापि
यथावत्	तद् यावत्	१०८.७
अथर्ववेद ६.१३०	अथर्ववेद ६	११२.२४
अन्तर्दृग्	अन्तर्विध	११३.४
'भक्त' नहीं	'शक्ति' नहीं	११५.१
भरा हृदय	भरा	२०५.१

तत् समाधत्त सज्जनाः

क्रम

१

प्रस्तावना

प्राचीन भारतीय साहित्य

क्षेत्र, विस्तार और महत्त्व

प्राचीन भारतीय साहित्य से हमारा अभिप्राय भारतीय साहित्य की उस गतिविधि से होता है जिसकी स्रोतस्विता में इन तीन सहस्राब्दियों से ऊपर कोई अन्तर नहीं आया। वह प्रथम उन्मेष, वह प्रथम स्पन्दन, वह प्रथम उद्गार—वह लोक वाङ्मयता, और वाङ्मय का वह प्रथम स्मृति-बन्धन, लिपि-बन्धन—आज भी तथैव सजीव है, तथैव जीवल है।

सरस्वती के इस 'अ-विनशन' प्रवाह का क्षेत्र हिमालय से कन्याकुमारी तक पन्द्रह लाख वर्गमील की वह भूमि है जिसमें रूस के अतिरिक्त सारा यूरोप समा सकता है। जलवायु की दृष्टि से यह क्षेत्र उत्तर में ८° और ३५° अक्षांश के बीच की वह कटि है जो भूमध्य रेखा के उष्णतम स्थलों से शुरू हो कर समशीतोष्ण-'बन्ध के अन्तरंग तक व्याप गई है। किन्तु प्रभाव-क्षेत्र की दृष्टि से प्राचीन भारतीय साहित्य, उस प्राचीन युग में भी, देश देशान्तर के मनोनभ पर, जीवन पर, छा चुका था; अर्थात्—भारत की सीमाओं का अतिक्रमण करके वह बृहत्तर भारत के बृहन्मानस का 'पर-ब्रह्म' अंग-सा बन चुका था—जिसकी परिसीमा में : उत्तर की ओर—तिब्बत, चीन, जापान और कोरिया; और दक्षिण में—लंका, (हिन्द महासागर तथा प्रशान्त महासागर के अन्यान्य द्वीपों सहित) मलय उपनिवेश; और पश्चिम में—मध्य-एशिया और पूर्वी-तुर्कीस्तान के हृदय को स्पर्श करता-सा—आधा-विश्व आ जाता था (जहां वृद्धभारत के बौद्धिक अभ्युदय के अवशेष आज भी पाए जा सकते हैं);... उधर—(बोगाजकोई, तुर्फान, और खोतन के) रेगिस्तान की रेती में दबी, पुरानी भारतीय पाण्डुलिपियां हाल ही में उपलब्ध भी हुई हैं।...

...विषय की दृष्टि से प्राचीन भारतीय साहित्य में वह सब-कुछ आ जाता है जो शब्द के विस्तृततम अर्थों में 'साहित्य' के अन्तर्गत माना जा सकता है—धार्मिक तथा लौकिक साहित्य, महाकाव्य, गीतिकाव्य, नाटक और नीति के दोहे, तथा आख्यानात्मक एवं शास्त्रीय गद्य...।

तथापि भारतीय साहित्य की सर्वंकष अभिव्याप्ति में धार्मिक साहित्य का स्थान ही प्रमुख है। और इस धार्मिक साहित्य में योगदान वेद के रचयिता ब्राह्मणों ने

ही नहीं, तिपिटक के उपदेष्टा बौद्धों ने और, समय-समय पर भारत में आने वाले, अन्यान्य धार्मिक सम्प्रदायों ने भी दिया है। इन सभी सम्प्रदायों का अपना-अपना—सूक्तात्मक, यज्ञतन्त्रात्मक, मन्त्र, उपाख्यान, स्तोत्र, उपदेश, कल्पशास्त्र, धर्मशास्त्र और कर्मकाण्ड तथा योगसाधनापरक—प्रभूत वाङ्मय है। और इस वाङ्मय में राष्ट्र की इतनी अमूल्य सम्पत्ति भरी पड़ी है कि उसकी उपेक्षा प्रागैतिहासिक धर्म का कोई भी गवेषक नहीं कर सकता। धार्मिक वाङ्मय की यह परम्परा आज भी खत्म नहीं हो गई। कितनी ही सहस्राब्दियों में प्रवहमान वीर-काव्य की धाराएं संगृहीत होकर, अन्त में, महाभारत और रामायण का रूप धारण कर गई। मध्ययुगीन भारत के कवियों ने इन दोनों महाकाव्यों के उपाख्यानों को लेकर स्वतन्त्र महाकाव्य रचे; **महाभारत** और **रामायण** लोक-वाङ्मय के, लोक-जीवन के, स्वाभाविक प्रतिरूप थे; परतर महाकाव्यों में वहां कुछ कृत्रिमता, कुछ अलंकारबुद्धि, कुछ अ-प्रकृतिकता का निवेश प्रत्यक्ष है। इन काव्यों की कृत्रिमता प्रायः सीमोल्लंघन भी कर जाती है (जो कि पाश्चात्य अभिरुचि को संभवतः अभिमत नहीं हो सकता); कुछ हो, भारतीय कवियों ने पर्याप्त गीतिकाव्य, नाटक आदि विश्व को उपहृत किए हैं जिनकी अनुभूति की उद्वलता तथा नाटकीय नव-कल्पना यूरोप के वर्त्तमान साहित्य की सुन्दरतम कृतियों की तुलना में किसी भी अंश में कम नहीं उतरती। सूत्र शैली में तो, विशेषतः, भारतीय विद्वानों ने वह निपुणता प्राप्त कर ली थी जिसकी मिसाल दुनिया में और कहीं दुर्लभ है। भारतवर्ष परीकथाओं और पशुकथाओं की मूलभूमि भी है। इन भारतीय परीकथाओं की, पशुकथाओं की, तथा गद्यात्मक आख्यान-संग्रहों की—विश्व-साहित्य के इतिहास को देन कुछ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। अनुसन्धान में परीकथाओं की मूलभूत स्पन्दनाओं का और उनकी देशदेशान्तर यात्राओं का एक अपना-ही पृथक् विभाग अपिवा अध्याय है जिसका महत्त्व आज बेनफी के पंचतन्त्र-सम्बन्धी मौलिक अनुसन्धानों की कृपा से सुनिश्चित हो चुका है।

किन्तु भारतीय मनोमय की यह एक निजी विशिष्टता ही है कि वह विशुद्ध कलाकृतियों में तथा शास्त्रीय वाङ्मय में कोई विभाजन-रेखा नहीं खींच पाता। भारत में विशुद्ध साहित्य में और नीति के दोहों में भेद कर सकना असम्भव है। जो चीज हमें परीकथाओं और पशुकथाओं का एक संग्रह-मात्र लगती है स्वयं भारतीय उसे 'युगों से' नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्र के 'संक्षिप्त संस्करणों' के रूप में स्वीकृत करते आए हैं। इसके अतिरिक्त, इतिहास को और जीवन-कथा को लेकर भारत में, कवियों को छोड़ कर, अन्य किसी ने कुछ लिखा ही नहीं—इतिहास और जीवन-कथा भारतीय वाङ्मय में महाकाव्य के ही एक अंग माने जाते हैं; और, ना ही—भारतीयों में गद्य और पद्य को दो पृथक् वृत्तियां मानने की कोई प्रथा है। साहित्य में

यदि रूढ़ियों का कुछ मूल्य (मान्य) है, तो संस्कृत के कवि को किसी भी विषय को, मन की मौज के मुताबिक, पद्यबद्ध अथवा गद्यबद्ध करने की पूर्ण स्वतन्त्रता है। संस्कृत में कितने ही ऐसे 'उपन्यास' हैं जो महाकाव्यों से इसी अंश में भिन्न हैं कि उन्हें किसी छन्द में नहीं बांधा गया। बड़े पुराने समय से गद्य और पद्य के मिश्रण की एक विशिष्ट प्रवृत्ति ही चली आती है। जिसे हम आज वैज्ञानिक साहित्य कहेंगे—उसके प्रतिपादन में भी प्रमुखता भारत में पद्य को ही दी जाती थी (उसका बहुत थोड़ा-सा अंश दो-चार गद्यात्मक वाक्यों द्वारा सूत्रित होता था, बस)। दर्शन-शास्त्र, धर्मशास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिषशास्त्र, और वास्तुशास्त्र—सभी क्षेत्रों में यही स्थिति है; यहां तक कि व्याकरण और कोश भी भारत में छन्दों में ही निबद्ध हुए। और यह विशेषता जैसे हद तक पहुंच चुकी लगती है जब हम सुनते हैं कि संस्कृत में एक महाकाव्य ऐसा भी है जिसकी रचना २२ सर्गों में व्याकरण-नियमों के सोदाहरण प्रतिपादन के लिए ही हुई थी! भारत में, बहुत समय तक, साहित्यिक गतिविधि का आधारभूत विषय, (पहले धार्मिक वाङ्मय का अंग बनकर तो पीछे स्वतन्त्र रूप से) दर्शनशास्त्र रहे हैं। इसी प्रकार, उस प्राचीन युग में भी, कानून और लोकतन्त्र, स्वयं स्वतन्त्र शास्त्र बनने से पूर्व, 'धर्म' शास्त्र के अन्तर्गत माने जाते थे; और उनके निरूपण में भी गद्य और पद्य का वही व्यामिश्रण उपलब्ध होता है। इस धर्मशास्त्रीय वाङ्मय के महत्त्व को, युगाद्-युगान्तर, धर्मशास्त्र तथा समाजशास्त्र-गत तुलनात्मक अध्ययनार्थ विश्व के मान्य धर्मशास्त्री तथा समाज-शास्त्री आज सब, एकमत्या, स्वीकार करते हैं। ईसा से सदियों पूर्व, व्याकरणशास्त्र का इतना पूर्ण विश्लेषण भारत में हो चुका था कि उसकी तुलना में कोई भी प्राचीन देश भारतीय कौशल के कहीं निकट नहीं पहुंचता। कोशशास्त्र का विकास भी भारत की एक बड़ी प्राचीन सिद्धि है। परतर युगों के भारतीय कवि अपने काव्यों में किसी 'देववाणी' को (खुदा के इलहाम को) प्रस्तुत नहीं करते थे—वे काव्य को देवताओं का प्रसाद नहीं मानते थे; अपितु, व्याकरण शास्त्र के गहन अध्ययन और कोश शास्त्रों के दुर्लभ (अ-सामान्य) कवि-समयों से उद्भूत, अलंकृत उनकी रचनाओं में अलंकार-शास्त्र तथा काव्यशास्त्र के विनिश्चित वैज्ञानिक नियमों का पालन ही (कवि का) मुख्य ध्येय होता था। बड़े पुराने समय से भारतीयों की यह एक विशिष्ट प्रवृत्ति ही रही है कि वे किसी भी (सम्भाव्य) वस्तु के पूर्ण विश्लेषण और शास्त्रीय प्रतिपादन से बाज नहीं आते, नहीं आ सकते। यही कारण है कि हमें आज भी राजनीति, अर्थशास्त्र, आयुर्वेद, फलित तथा ज्योतिष, गणित तथा ज्यामिति के अतिरिक्त वाद्य, संगीत, नृत्य, अभिनय, इन्द्रजाल और भविष्य-कथा, तथा कामशास्त्र आदि विषयों पर भी, पूर्णतः शास्त्रीय रीति से प्रतिपादित 'शिक्षा-ग्रन्थ' तथा 'बटुक' देखने को मिलते हैं।

साहित्य के इन उपरिनिर्दिष्ट विभिन्न अंगों में सदियों के साथ-साथ, कितना ही वाङ्मय निरन्तर उपचित होता गया—जिसका एक विहंगम-पर्यवेक्षण प्रस्तुत कर सकना तक मुश्किल है; क्योंकि—धार्मिक साहित्य के प्रायः सभी विभागों में और, उसी प्रकार, काव्य तथा विज्ञान के अंगोपांगों में, टीकाकारों की एक अविच्छिन्न परम्परा बड़े मनोयोग के साथ प्राचीन वाङ्मय को विकसित करने में पीढ़ी-दर-पीढ़ी जुटी रही है। इसीलिए वृद्धभारत के व्याकरण, दर्शन, एवं धर्मशास्त्र विषयक जितने भी प्रामाणिक और महत्त्वपूर्ण ग्रंथ आज हमें मिलते हैं—वे, अधिकांश, प्राचीनतर 'सूत्रों' के व्याख्यान मात्र हैं। और प्रायः ऐसा भी हुआ कि इन टीकाओं पर अन्य टीकाएं लिखी गईं; भारत में, सचमुच, यह भी अक्सर देखने में आता है कि ग्रन्थकार अपनी ही कारिकाओं पर आप-ही एक वृत्ति जोड़ जाता है। सो, यह आश्चर्य की बात नहीं कि भारतीय साहित्य की विपुलता को देखकर बुद्धि दंग रह जाती है। और, इसके बावजूद कि भारतीय पाण्डुलिपियों की विपुल सूचियां भारत तथा यूरोप के पुस्तकालयों में, सर्वत्र सहस्रों लेखकों और ग्रन्थों के नाम गिनाती हैं, कितनी ही—संख्यातीत, अमूल्य-रचनाएं (भारतीय साहित्य की) काल के गर्त में नष्ट हो चुकी हैं—उनका निर्देश भी कहीं नहीं हो सका! कितने ही लेखक ऐसे हैं जिनका नाम हम परतर लेखकों के उल्लेखों में, या उद्धरणों में, ही पाते हैं: उनका और उनकी कृतियों का कुछ भी चिह्न इस 'स्मृति-शेष' के अतिरिक्त —यदि था, तो,—मिट चुका है।

भारतीय साहित्य की प्राचीनता, भूगोल तथा विषय की दृष्टि से व्यापकता, उसकी आन्तरिक सम्भूति एवं कमनीयता, और मानव संस्कृति के इतिहास की दृष्टि से उसका मूल्य—ये सब चीजें हैं जो पाश्चात्य जगत् को इसकी महत्ता, मौलिकता, तथा प्राचीनता की ओर बरबस आकर्षित कर लेती हैं। इसके अतिरिक्त, कुछ और विशेषता भी है जो केवल भारतीय साहित्य में ही पाई जाती है: वह यह कि इण्डो-आर्यन भाषाओं (तथा ईरानी भाषा) का सम्बन्ध उस महान् भाषा-परिवार से रहा है जिसके अन्तर्गत जर्मन भाषा और यूरोप की प्रायः सभी भाषाएं एक संयुक्त परिवार की भांति आ जाती हैं। इण्डो-ईरानी भाषाएं वस्तुतः इण्डो-यूरोपियन मूल परिवार की ही एक सुदूर-पूर्वी शाखा हैं। और सच बात तो यह है कि (संस्कृत में लिपि-बद्ध) भारत का यह प्राचीन साहित्य ही था जिसके द्वारा विश्व के इतिहास में एक युगान्तर आया और, परिणामतः, अब हम पूर्व और पश्चिम के बिसरे, प्रागैतिहासिक, सम्बन्धों को कुछ-कुछ समझने लगे हैं। भाषाओं की एक-वंशता का सिरा पकड़कर हम स्वभावतः इन विभिन्न भाषाओं के उस आदिमूल की ओर चले भी जो इण्डो-यूरोपियन भाषाओं की विभिन्न जातियों को परस्पर एकसूत्रित करता है। यह सच है कि इण्डो-यूरोपीय जातियों के

परस्पर-सम्बन्ध के विषय में काफी गलत-फहमियां प्रचलित हैं, क्योंकि—कुछ लोगों ने भाषा-साम्य के आधार पर एक इण्डो-यूरोपियन जाति की कल्पना की जो न कभी थी और न है; और—अक्सर यह भी समझा जाता है कि हिन्दुस्तानी, पारसी, यूनानी, रोम में और जर्मनी में रहने वाले, स्लाव (लोग) एक ही प्रागैतिहासिक माला के जहां-तहां बिखरे-गिरे मनके हैं। इन परिणामों पर पहुंचने में कुछ जल्द-बाजी की गई प्रतीत होती है; फिर भी, भले ही हमें यह सन्देह बना रहे कि हमारा मूल (स्रोत) एक ही था या नहीं, कुछ हो—भाषा का एक-मूल होना निस्सन्देह हमारी संस्कृति को, एवं हमारी बौद्धिक प्रगति को, परस्पर-सम्बद्ध सिद्ध करता है। यद्यपि हम यह तो नहीं कह सकते कि हिन्दुस्तान के लोग हमारे ही हाड़-मांस और जिगर के टुकड़े हैं, फिर भी—हमारी बुद्धि, हमारे मन, हमारे विचार हम भारतीय बुद्धि, भारतीय मन, और भारतीय विचारों में—अर्थात् पश्चिम को पूर्व में—छायात्म-वत् प्रतिबिम्बित पाते हैं। किंतु वह हमारा इण्डो-यूरोपियन मनोलोक क्या था, हमारी इण्डो-यूरोपियन विचारधारा, चिन्तना और कवित्व-बुद्धि, वह प्रतिभा मूल में कैसी थी, क्या-क्या विशेषताएं लिए हुए थी—इस जिज्ञासा के सही समाधान के लिए अब आवश्यक है कि जो धारणा एवं आस्था हमारी आज तक यूरोपियन साहित्य और कला-आदि के अध्ययन से स्थिर हो चुकी है, उसका संशोधन, अथवा परिपूरण, हम पूर्व की एतद्विषयक साक्षी द्वारा कर लें। इस दृष्टि से, विशेषतः प्राचीन ग्रीस और रोम के समादृत साहित्यों के अध्ययन से जो एक-देशिता हमारे विचारों में आ चुकी है उसकी आवश्यक सम्पूर्ति भारतीय साहित्य के अध्ययन द्वारा बखूबी हो जाएगी। यह सच है कि कला की कसौटी पर भारतीय साहित्य यूनानी साहित्य के करीब नहीं उतरता, और यह भी सच है कि भारतीय विचारधारा का यूरोपीय विचारधारा पर वह प्रभाव भी कभी नहीं पड़ा जो कि ग्रीक और रोमन संस्कृतियों का हम इधर पग-पग पर अनुभव करते हैं; किन्तु, यदि सचमुच हम अपनी संस्कृति के मूल स्रोतों से कुछ परिचय प्राप्त करना चाहते हैं, इन्डो-यूरोपियन संस्कृति के प्राचीनतम रूप को अवगत करना चाहते हैं, तो इसके लिए हमें भारत का ही मुखापेक्षी होना पड़ेगा—जहां कि इण्डो-यूरोपीय साहित्य का प्राचीनतम रूप आज भी प्रायः-यथावत् सुरक्षित है। भारतीय इतिहास की प्राचीनता के विषय में मतभेद हो सकता है, किन्तु इस सम्बन्ध में दो विरोधी सिद्धान्त नहीं हो सकते कि भारतीयों का प्राचीनतम 'लोक-वाङमय' (ऋग्वेद) इण्डो-यूरोपियन साहित्य का भी प्राचीनतम स्मृतिशेष है—जो कि आज भी उपलभ्य है!

निकट वर्तमान में भी भारतीय साहित्य का जो प्रभाव हमारे साहित्य पर प्रत्यक्ष है, उसका मूल्य भी कुछ उपेक्ष्य नहीं है; हम देखेंगे कि यूरोप का आख्यान-साहित्य, बहुत अंशों तक भारतीय पशुकथा वाङमय से ही उद्भूत है। खास कर

जर्मन साहित्य और जर्मन दर्शन, १९ वीं सदी के आरम्भ से ही, भारतीय विचार-धाराओं द्वारा प्रभावित होने लगे, और यह प्रभाव निरन्तर बढ़ता ही चला आ रहा (दिखाई देता) है।

इण्डो-यूरोपियन भाषाओं की साक्षी से विभिन्न जातियों की जो आन्तरिक-एकता स्पष्ट होती है उसका सबसे बड़ा प्रमाण, शायद, यह भारतीय विचारधारा और जर्मन विचार-धारा का परस्पर साम्य है। इस साम्य की प्रमुख विशेषताओं को कई बार दिखाया भी जा चुका है। श्रेडर[1] का कहना है कि भारतीय यदि उस प्राचीन युग के, रसिक-आख्यानकार थे तो हम जर्मन आज के, सिद्ध रसिक तथा आख्यानकार हैं। ब्रैन्डीज[1] ने भारतीयों और जर्मनों में सूक्ष्म चिन्तन, मनन एवं सर्वात्मानूभूति के प्रवृत्ति-साम्य को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। कई बार तो जर्मन तथा भारतीय उद्गार इतने निकट आ जाते हैं कि सुननेवाला दंग रह जाता है। 'विश्वव्याकुलता' के गीत जर्मन कवियों ने ही सुनाए हों, ऐसी बात नहीं; सम्पूर्ण बौद्ध दर्शन का आधार भी तो यही 'सब्बं दुक्खं' ही है, और संस्कृत में तो जैसे संसार को 'दुख के सागर' के रूप में देखना एक कवि-सम्प्रदाय ही बन चुका प्रतीत होता है। भारतीयों की सांसारिक जीवन को विनश्वर एवं निस्सार समझने की यह दृष्टि, निर्वेश, हमें अपने ही महान् कवि लेनो का स्मरण करा देती है। क्या हाइने ने एक स्थान पर कहा नहीं है?—

नींद कितनी मधुर होती है!
किन्तु मृत्यु नींद से भी कहीं अधिक सुखद होती है;
और सबसे बड़ा सुख है—मर कर फिर पैदा न होना।

क्या यह वही विचार नहीं जिसे भारतीय दार्शनिक 'मृत्यु से अपुनरावृत्ति' की पर्युत्सुकता के रूप में प्रगट करते हैं। यही नहीं, हृदय की संवेदनशीलता और प्रकृति-प्रेम जर्मन और भारतीय कविता का एक ऐसा सामान्य लक्षण-सा है जो कि हिब्रू और ग्रीक कविता में हमें नहीं मिलता। जर्मन और भारतीय कवियों को प्रकृति-वर्णन से जैसे एक मोह-सा है। दोनों ही देशों के कवि अन्तः-प्रकृति और बाह्य-प्रकृति को सुख-दुख की एक-सूत्रता में मानो पिरो देना चाहते हैं। एक और क्षेत्र में भी हम दोनों देशों के मनोमय में एक-सी प्रवृत्ति देखते हैं: हम ऊपर संकेत कर आए हैं कि किसी भी प्रत्यक्ष को अथवा अनुभव को एक क्रम में, व्यवस्था में, बांध देना भारतीयों की एक विशेषता-सी है, लक्षण-सी है। यह शास्त्रीय-विश्लेषण बुद्धि यदि प्राचीन भारतीयों में थी तो आज वही पुनः, जर्मन विद्वानों में भी सजग है! उस पुराने जमाने में भारतीयों ने अपने धर्मग्रन्थों का भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सूक्ष्म विश्लेषण किया था और उस विश्लेषण के निष्कर्षों को, वैज्ञानिक रूप देते हुए, जो व्याकरण उन्होंने (बाबा आदम के) उस जमाने में बनाया था वह, इतनी

सदियाँ बीत चुकीं, आज के भाषाविज्ञों के लिए एक आधारशिला का, मूल प्रेरणा का, काम दे सकता है; और इधर भाषाविज्ञान तथा व्याकरण के इस क्षेत्र में, आज, जर्मन विद्वान् ही संसार के अग्रणी हैं।

भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अनुशीलन में तथा भारतीय साहित्य के नूतन अनुसन्धान में भी, निकट वर्तमान में, नेतृत्व तथा नूतन दिशा, शुरू से, जर्मन विद्वान् ही देते आए हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हम, बहुत अंशों में, अंग्रेजों के अनुगृहीत हैं: क्योंकि वर्षों भारत के शासक होने के नाते भारतीय भाषाओं और साहित्य का परिचय प्राप्त करना, परदेश में, उनके अपने 'दैनिक स्वार्थ' के लिए भी आवश्यक था। और, इस प्रसंग में फ्रेंच, इटैलियन, डच, डैनिश, अमेरिकन, रशियन और— जिन्हें भुला देना कृतघ्नता होगा—स्वयं भारतीय मनीषियों ने भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के क्षेत्र में अ-संख्य, अनुपेक्ष्य, महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान किए हैं; तथापि, प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों को—प्रामाणिक संस्करणों, स्पष्टीकरणों तथा गवेषणाओं सहित—प्रकाशित करने में, और प्रामाणिक एवं तुलनात्मक शब्दकोशों तथा व्याकरणों को लिखने में—जर्मन विद्वानों का हाथ औरों से कुछ ज्यादह रहा है। भारतीय वाङ्मय के, तथा तत्सम्बद्ध अन्यान्य अध्ययनों के, एक विहंगमावलोकन से ही यह बात स्वयं स्पष्ट हो जाएगी।

१ Cf. Leopold von Schroeder: *Indiens Literatur und Cultur*, Leipzig, 1887, p. 6 f.; G. Brandes: *Haupströmungen der Literatur des neunzehnten Jahrundertz*, Berlin, 1872, I, p. 270.

यूरोप में भारतीय साहित्य के अनुशीलन का सूत्रपात

भारतीय साहित्य के विपुल वैभव (जो कि अनुसन्धान के लिए प्राय: पिछली एक शती में ही उपलभ्य हुआ है) का पर्यवेक्षण भी किसी अकेले आदमी का काम नहीं।

सत्रहवीं सदी में कुछ-कुछ, तो अट्ठारहवीं सदी में मनोयोग और कुछ नैरन्तर्य के साथ, विदेशी यात्री और प्रचारक इधर, थोड़े-बहुत अन्तर पर, आते ही रहे और उन्होंने भारतीय भाषाओं मे, और कुछ-कुछ भारतीय साहित्य से भी, परिचय बढ़ाना शुरू किया; किन्तु उनके ये परिचय-बीज उर्वर भूमि में गिरे नहीं प्रतीत होते। १६५१ में एब्राहम रोजर ने, जो उन दिनों मद्रास के उत्तर में पालिअकत्ता

(पूलियत) में एक डच पादरी की हैसियत से रह रहा था, सर्व प्रथम, भारतीयों के ब्राह्मणधर्म-सम्बन्धी वाङ्मय के विजय में कुछ सूचना दी और भर्तृहरि के कुछ नीति के दोहों का अनुवाद भी प्रकाशित किया। भर्तृहरि के दोहों का यह अनुवाद रोजर के लिए एक हिन्दू ब्राह्मण ने किया था और इसी अनुवाद के आधार पर उनका जर्मन रूपान्तर, कुछ वर्ष बाद, हर्डर ने किया था। १६९९ में जैसुइट पादरी जोहान अर्न्स्ट हैंक्सलैडन भारत में आया और, तीस वर्ष तक, मालाबार मिशन में प्रचारक रहा। हैंक्सलैडन को भारतीय भाषाओं से पर्याप्त परिचय हो गया और उसका संस्कृत-व्याकरण-परक निबंध एक यूरोपियन द्वारा लिखा सर्वप्रथम संस्कृत-व्याकरण है। हैंक्स का यह व्याकरण कभी मुद्रित नहीं हुआ, किन्तु फ्रा पोलिनो ने अपनी पुस्तक में इसका पर्याप्त उपयोग किया है। फ्रा पोलिनो एक आस्ट्रियन कार्मेलाइट था; उसका असल नाम था वैस्डिन, और इस बात से कोई इन्कार नहीं कर सकता कि भारतीय साहित्य को विश्व के सम्मुख लाने में इन पादरियों में सर्वप्रथम स्थान वैस्डिन का ही है। वैस्डिन, अर्थात् फ्रा पोलिनो, १७७६-१७८९ तक एक ईसाई पादरी की हैसियत से भारत में रहा, और १८०५ में रोम में उसकी मृत्यु हुई। इस अन्तर में उसने दो संस्कृत-व्याकरणों के अतिरिक्त कितने ही और विद्वत्तापूर्ण ग्रंथ तथा निबन्ध लिखे। वैस्डिन की इन कृतियों में **सिस्टेमा ब्राह्मँनिकम** (१७९२) और **राइज नाख ऑस्टिन्डियन** (फॉर्स्टर का जर्मन अनुवाद, बर्लिन १७९८)—ये दो ग्रंथ ही—वैस्डिन के भारतविषयक ज्ञान, ब्राह्मणधर्म-सम्बन्धी साहित्य से परिचय, भारतीय भाषाओं में तथा भारतीयों के धार्मिक जीवन एवं चिन्तन में उसकी अन्तर्गति की सूक्ष्मता को सिद्ध करने के लिए पर्याप्त हैं। किन्तु वैस्डिन के इतने महत्त्वपूर्ण कार्य का भी आज प्रायः कोई स्थायी चिह्न अवशिष्ट नहीं है।

इसी समय अंग्रेजों ने भी भारतीय भाषाओं और साहित्य की सुध लेनी शुरू कर दी। अंग्रेज विद्वानों में भारतीय वाङ्मय के प्रति उत्सुकता वारेन हेस्टिंग्ज की मूल प्रेरणा से प्रसूत हुई। हेस्टिंग्ज को ही भारत में ब्रिटिश राज्य का सच्चा संस्थापक माना जाना चाहिए; खैर, हेस्टिंग्ज की यह प्रेरणा तब से लेकर कभी भी शिथिल नहीं हुई। वारेन हेस्टिंग्ज ने अनुभव किया था (और अंग्रेज उसके उस अनुभव को कभी नहीं भुला सके) कि भारत में ब्रिटेन की हकूमत तभी सुरक्षित रह सकती है जब अंग्रेज भारतवासियों के सामाजिक एवं धार्मिक विश्वासों को यथोचित मान्यता दें। वारेन हेस्टिंग्ज के ही परामर्श पर भारतीय-शासन कानून में एक प्रस्ताव यह भी समाविष्ट कर लिया गया कि स्वयं भारत के पण्डित न्यायालयों में अंग्रेज जजों की सब कार्रवाइयों के समय उपस्थित रहा करेंगे कि जिससे निर्णय देते वक्त अंग्रेज जज के हाथों भारतीय स्मृति-ग्रन्थों की उपेक्षा न हो

जाए। और जब, १७७३ में, ब्रिटिश सरकार ने हेस्टिंग्ज को भारत में सारी अंग्रेजी सल्तनत पर पूर्णाधिकार-सा देते हुए, बंगाल का गवर्नर-जनरल नियुक्त किया, उसने कतिपय ब्राह्मण कानूनदानों की सहायता से पुराने धर्मशास्त्रों के आधार पर एक **विवादार्णव-सेतु** (नामक ग्रंथ) संकलित करवा लिया जिसमें उत्तराधिकार, दायभाग, आदि (भारतीय परिवार की जटिल समस्याओं के) सम्बन्ध में प्राचीन धर्मशास्त्रों का निचोड़ उपस्थित किया गया था। और जब यह प्रामाणिक ग्रंथ तैयार हो गया तब, उसे संस्कृत से अंग्रेजी में उतारने के लिए कोई योग्य विद्वान् मिलना मुश्किल था; सो, उसका अनुवाद पहले फारसी में करवाया गया और फारसी से, फिर, नैदेनियर ब्रेसी हालहैड ने उसका अंग्रेजी में उल्था किया। १७७६ में इस अनुवाद को ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने '**ए कोड आव गेन्टू ला**' के नाम से मुद्रित किया।

चार्ली विल्किन्स पहला अंग्रेज व्यक्ति था जिसने वारेन हेस्टिंग्ज से प्रेरणा पा कर बनारस के पण्डितों से संस्कृत सीखी। १७८५ में विल्किन्स ने अपने इस उद्योग का प्रथम फल **भगवद्गीता** के अंग्रेजी अनुवाद के रूप में प्रस्तुत किया जो एक यूरोपीय भाषा में अनूदित संस्कृत की सर्वप्रथम पुस्तक है। दो साल बाद **हितोपदेश** की पशुकथाएं, और १७९५ में महाभारत का **शाकुन्तलोपाख्यान** अनूदित होकर छपे। १८०८ में उसने एक संस्कृत-व्याकरण भी लिखी (जिसमें सर्वप्रथम देवनागरी लिपि का प्रयोग हुआ—जिसके देवनागरी टाईप विल्किन्स ने स्वयं अपने हाथों से तैयार किए थे!)। विल्किन्स ही पहला यूरोपीय विद्वान् था जिसने भारतीय अभिलेखों से प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त किया और उनमें से कुछ का अंग्रेजी में उल्था भी किया।

ये सब प्रकीर्ण—परस्पर अ-सम्बद्ध, और अ-नियमित—प्रयत्न थे। प्राच्यशोध की वैज्ञानिक संस्थाओं के रूप में अभी भारतीय साहित्य का अध्ययन शुरू नहीं हुआ था। इसका श्रीगणेश करना प्राच्यविद् विलियम जोन्स (१७४६-१७९४) के भाग्य में लिखा था। जोन्स १७८३ में फोर्ट विलियम में चीफ जस्टिस के पद पर नियुक्त होकर भारत में आए।

जोन्स को युवावस्था से ही पूरब की कविता से विशेष प्रेम था और जवानी में, वहां, उसने कुछ अरबी और फारसी कविताओं का अंग्रेजी में अनुवाद किया भी था। सो, इसमें कुछ आश्चर्य नहीं कि भारत में आते ही उसका वह पूरब से प्रेम संस्कृत और भारतीय वाङमय के अध्ययन की ओर प्रवृत्त हो गया। अभी उसको भारत में आए एक ही वर्ष हुआ था कि जोन्स ने '**एशियाटिक सोसाइटी आव बंगाल**' की स्थापना कर दी जिसने अगले ही दिन से त्रैमासिक-पत्रिकाओं का, तथा अन्यान्य भारतीय ग्रन्थों के संस्करणों का, सिलसिला

करना शुरू कर दिया। १७८९ में जोन्स का किया (संस्कृत के प्रसिद्ध नाटक) **शकुन्तला** का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित हुआ। इस अंग्रेजी अनुवाद के सहारे जार्ज फॉर्स्टर ने शकुन्तला का जर्मन रूपान्तर १७९१ में छापा जिस पर कि हर्डर और गेटे जैसे मनीषी और कवि तत्क्षण मुग्ध हो गए! कालिदास की एक और रचना, अर्थात् **ऋतुसंहार** (के गीति काव्य), को जोन्स ने कलकत्ता में १७९२ में मूलसंस्कृत में प्रकाशित कराया—जो संस्कृत में छपी सबसे पहली पूर्ण-पुस्तक है। सम्भवतः इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य जो जोन्स ने किया, वह था उस का मनु के प्रसिद्ध धर्मग्रन्थ **मनुस्मृति** का अंग्रेजी में अनुवाद जो १७९४ में कलकत्ता से **इन्स्टिटयूट्स आव हिन्दू ला**, और **दी ऑर्डिनेन्स आव मनु**, के नाम से प्रकाशित हुआ। इसीका एक जर्मन रूपान्तर १७९७ में वाइमर ने छापा। अन्त में यह कहना भी अप्रासंगिक न होगा कि जोन्स ही पहला व्यक्ति था जिसने संस्कृत का ग्रीक और लैटिन के साथ वंशानुगत सम्बन्ध स्थापित किया और (साथ ही) जर्मन, केल्टिक और पर्शियन के साथ संस्कृत के सम्बन्ध की भी एक 'स्थापना' प्रस्तुत की। भारतीय,तथा ग्रीक-रोमन पौराणिक-गाथाओं में साम्य एवं तुलनाएं तो जोन्स बहुत-पहले ही दिखा चुके थे।

जोन्स का उत्साह यदि भारतीय साहित्य की निधियों को प्रकाश में लाकर, मुख्यतया, विदेशी विद्वानों को उस दिशा में प्रेरित करने का था, तो हेनरी टामस कोलब्रुक ने, विलियम जोन्स के उसी उत्साह को उत्तराधिकार में लेते हुए, भारतीय भाषा-विज्ञान तथा पुरातत्त्वविज्ञान की सच्चे अर्थों में आधारशिला रखी। कोलब्रुक एक प्रकृति से गम्भीर, और अध्यवसायी युवक था जिसने १७८२ में १७ वर्ष की कच्ची उम्र में कलकत्ता में आकर सरकारी नौकरी शुरू की। यद्यपि भारत में अपने प्रवास के पहले ११ वर्षों में उसका संस्कृत अथवा संस्कृत-साहित्य से कुछ भी संसर्ग नहीं बन पाया, किन्तु जोन्स की मृत्यु (१७९४) के समय कोलब्रुक ने, अभी हाल ही में कुछ संस्कृत सीखकर, स्वयं जोन्स की छत्रछाया में भारतीय विद्वानों द्वारा भारतीय धर्मशास्त्रों के आधार पर तैयार किए गए दायभाग एवं वाग्व्यवहार-परक एक महाग्रन्थ का अनुवाद शुरू कर दिया था! १७९७-९८ में यह अनुवाद '**ए डाइजेस्ट आव हिन्दू ला औन कान्ट्रेक्ट्स एन्ड एक्सैशन्ज**' चार फोलियो वौल्यूम्स में छपा। तभी से कोलब्रुक ने भारतीय साहित्य के अन्वेषण में अपने आप को अथक उत्साह के साथ खपा डाला: जिसका परिणाम यह है कि विद्वज्जगत्—न केवल भारतीय कानून के सम्बन्ध में कुछ और ग्रन्थों के लिए ही, अपितु भारतीय दर्शन, धार्मिक जीवन, व्याकरण, ज्योतिष और गणित के सम्बन्ध में प्रामाणिक और मौलिक छानबीन से पुष्ट कितने ही निबंधों के लिए—कोलब्रुक का ऋणी है। इसके अतिरिक्त, १८०५ में प्रकाशित हुआ कोलब्रुक का एक

निबंध—**औन दी वेदाज्**—ही था जिसके द्वारा हम पाश्चात्यों को भारतीयों की उस प्राचीन 'संहिता' के विषय में कुछ सच्चा, प्रामाणिक, ज्ञान प्राप्त हुआ। यही नहीं, कोलब्रुक ने अमरकोश आदि कितने ही शब्दकोशों का, और पाणिनीय व्याकरण, हितोपदेश तथा किरातार्जुनीय का सम्पादन भी किया। एक संस्कृत व्याकरण भी कोलब्रुक ने स्वतन्त्र रूप से लिखी, और कुछ अभिलेखों का अनुवाद भी किया; और जाते वक्त, वह भारतीय पाण्डुलिपियों के अपने निजी विविध-संग्रहों को (जिन पर कि उसका कोई दस हजार पौंड, तब, खर्च आया था) ईस्ट इण्डिया कम्पनी को उपहार रूप में देता गया। लन्दन के इण्डिया आफिस की लायब्रेरी में सुरक्षित साहित्यिक निधियों में इन अमूल्य हस्तलिखित प्रतियों की कीमत आज कौन लगा सकता है?

जोन्स और कोलब्रुक की तरह एक और भी अंग्रेज था जिसने १८वीं सदी के अन्तिम दिनों में संस्कृत सीखी। संस्कृत सीख कर एलेग्जैण्डर हैमिल्टन १८०२ में फ्रांस के रास्ते यूरोप वापिस पहुंचा और कुछ समय के लिए पेरिस में रुक गया। उसी समय एक अप्रत्याशित घटना घट गई जो संस्कृत-सम्बन्धी अध्ययन आदि को बड़ी लाभकर सिद्ध हुई (यद्यपि खुद हैमिल्टन के लिए नहीं)। हुआ यह कि फ्रांस और इंग्लैण्ड की पुरानी दुश्मनी, जो कुछ समय के लिए आमीन्स की सन्धि के कारण स्थगित-सी हो गई थी, फिर से फूट उठी और नेपोलियन ने फरमान जारी कर दिया कि युद्ध-घोषणा के समय जो अंग्रेज फ्रांस में रह रहे हैं वे घर वापिस नहीं जा सकते। इन्हीं अंग्रेजों में–एलैग्जैन्डर हैमिल्टन को भी पकड़कर रख लिया गया! दैववशात्, १८०२ में ही प्रसिद्ध जर्मन कवि फ्रीड्रिख श्लीगल भी उन दिनों पेरिस में रहने आया हुआ था और वह, कुछ दिन छोड़ दें, १८०७ तक पेरिस में ही रहा। वैसे तो अंग्रेज विद्वानों के संस्कृत में अध्यवसाय की ओर जर्मनी का ध्यान काफी देर से खिच चुका था, विशेष कर जोन्स के **शाकुन्तलानुवाद** के (१७९१ में) जर्मन भाषा में रूपान्तरित होने के बाद; १७९५-९७ में जोन्स के अन्य ग्रन्थों का अनुवाद भी जर्मनी में उपलभ्य हो चुका था। १७९७ में जोन्स का **मनुस्मृति** का अनुवाद भी पुनः अनूदित हो चुका था। फ्रा पोलिनो तथा सेन्ट बार्थोलोमियो के ग्रन्थ भी अब जर्मनी में अज्ञात न रह गए थे, किन्तु भारतीय साहित्य के प्रति विशेष आकर्षण जर्मनी में रोमैण्टिक स्कूल के कलाकारों की बदौलत प्रसृत-प्रवृद्ध हुआ। श्लीगल, और श्लीगल का भाई, दोनों रोमाण्टिक स्कूल के कर्त्ता-धर्त्ता थे। परिणाम यह हुआ कि विदेशी साहित्यों के प्रति जनता में कुतूहल जग गया। कुछ ही समय पूर्व हर्डर ने दो ग्रन्थ लिख कर जर्मन विद्वानों का ध्यान पूर्व के प्रति आकर्षित किया भी था, किन्तु सच यह है कि यह रोमाण्टिक कवियों का सुदूर एवं अद्भुत अनुश्रुतियों में अदम्य उत्साह ही था जो उन्हें भारत और भारतीय

वाङ्मय के प्रति उत्सुकता से भर गया। श्लीगल ने तो यहां तक कह डाला कि "भारत से हमें आज प्राचीन विश्व के उन पृष्ठों पर प्रकाश की आशा है जो कि आज तक अन्धकार में आच्छादित थे। **शकुन्तला** के प्रकाशन के अनन्तर तो विशेषतः कविता-प्रेमी जगत् में एक नई प्रत्याशा-सी जग चुकी है कि एशिया के कवि आत्मानुभूति की इसी प्रकार की सुन्दर स्निग्ध तथा सुकुमार कृतियां हमें दे सकते हैं।"

—और यह वही समय था जब एलैग्जैण्डर हैमिल्टन मुफ्त में, बेगुनाह, कैद भुगत रहा था। हैमिल्टन के साथ प्रथम परिचय के अनन्तर ही, श्लीगल ने उससे संस्कृत सीखने का यह सुअवसर हाथ से न जाने दिया। १८०३-०४ तक उसने हैमिल्टन की पेरिस में उपस्थिति का लाभ उठाया और शेष तीन वर्ष पेरिस लायब्रेरी की छान-बीन में लगा दिये (क्योंकि उन दिनों भी वहां दो सौ के करीब हस्तलिखित ग्रंथ सुरक्षित थे)। इन अध्यवसायों का परिणाम फ्रीड्रिख श्लीगल की पहली संस्कृत-सम्बन्धी पुस्तक थी जिसने जर्मनी में भारतीय भाषाविज्ञान और व्याकरण की नींव डाली। इस पुस्तक के पृष्ठ-पृष्ठ में उत्साह और प्रेरणा भरी पड़ी है, यही नहीं —वही उत्साह और प्रेरणा वह हर पढ़ने वाले में भी डाल देती है। पुस्तक का एक भाग **रामायण**, **मनुस्मृति**, **भगवद्गीता**, के कुछ उद्धरण तथा **महाभारत** से संकलित **शकुन्तलोपाख्यान** को अर्पित है। ये उद्धरण ही वस्तुतः संस्कृत से जर्मन भाषा में प्रथम अनुवाद कहे जा सकते हैं, क्योंकि—भारतीय साहित्य से हमारा पिछला परिचय अंग्रेजी के माध्यम द्वारा ही, जो-कुछ था, था।

फ्रीड्रिख श्लीगल का कार्य जहां प्रेरणात्मक है, वहां आगस्ट विल्हेम वान श्लीगल सम्भवतः पहला ही जर्मन विद्वान् था जिसने कोलब्रुक की तरह संस्कृत-सम्बन्धी प्रामाणिक ग्रन्थों, अनुवादों, तथा भाषाविषयक ग्रन्थों के लेखन-सम्पादन द्वारा जर्मनी में एक व्यापक पैमाने पर संस्कृत अन्वेषण की आधार-शिला रखी। १८१८ में बॉन की नई यूनिवर्सिटी स्थापित हुई थी और श्लीगल को वहां जर्मनी में पहली संस्कृत-प्रोफेसरशिप मिली। विल्हेम ने भी संस्कृत-अध्ययन का आरम्भ अपने भाई की तरह पेरिस में ही, १९१४ में, किया था। विल्हेम का गुरु था—ए० एल० शेजी, फ्रांस का सर्वप्रथम संस्कृत विद्यार्थी तथा उपाध्याय! शेजी ही 'कालेज दे फ्रांस' में सस्कृत विभाग के सर्वप्रथम अध्यक्ष था; कितने ही भारतीय ग्रन्थों का अनुवाद तथा सम्पादन शेजी ने खुद किया था। १८२३ में विल्हेम के भारतीय भाषा-विज्ञान तथा व्याकरण के सम्बन्ध में अन्यान्य महत्त्वपूर्ण लेख **इन्डीश बिब्लियोथेक** (त्रैमासिक) के पहले अंक में (जिसे खुद विल्हेम ने ही निकाला था) प्रकाशित हुए। उसी साल **भगवद्गीता** का एक सुन्दर संस्करण भी लैटिन अनुवाद के साथ छपा; १८२९ में श्लीगल का सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ (जिसे वह पूर्ण नहीं कर सका) **रामायण** सम्पादित हुआ।

विल्हेम का ही एक और समकालीन था—फ्रैंज बॉप (जन्म १७९१), जो स्वयं विल्हेम की भांति, श्लेजी की छत्रछाया में, संस्कृत अध्ययन के लिए और अन्यान्य प्राच्य वाङ्मयों की गवेषणा के उद्देश्य से १८१२ में पेरिस पहुंचा; किन्तु, दोनों श्लीगल-भाइयों के विपरीत (क्योंकि दोनों ही रोमाण्टिक स्कूल के कवि थे) बॉप का भारत के प्रति प्रेम निरा एक धीर ललितप्रेमी का नहीं था, अपितु अन्वेषण-अध्येषण की गम्भीरता ने बॉप को एक नूतन 'विज्ञान' का संस्थापक ही बना दिया—तुलनात्मक भाषाविज्ञान तथा व्याकरण का जो भविष्य आगे चल कर निर्धारित हुआ, उसकी मूल भित्ति बॉप की प्रथम पुस्तक ने १८१६ में खड़ी कर दी थी। यह नहीं कि भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में बॉप ने कुछ कम या कुछ घटिया लिखा हो; अपनी **व्याकरण** के आख्यातिक प्रकरण में एक परिशिष्ट भी बॉप ने जोड़ दिया था जिसमें **रामायण** तथा **महाभारत** के कुछ उपाख्यानों के (मूल से) छन्दानुवाद प्रस्तुत थे, और साथ ही कोलब्रुक के अंग्रेजी अनुवाद पर आधारित कुछ वैदिक संदर्भ भी। जिस निपुणता के साथ महाभारत की **नल और दमयन्ती** की उस अद्भुत कथा का एक सुन्दर, तुलनात्मक तथा प्रामाणिक, सम्पादन, लैटिन अनुवाद के साथ बॉप ने प्रकाशित किया, वह बॉप की ही वस्तु है। महाभारत से संकलित असंख्य उपाख्यानों में नल-दमयन्ती का यह उपाख्यान इतना स्वस्मिन्-पूर्ण है कि यह न केवल व्यास के महाकाव्य के अन्तर्गत एक सुन्दरतम कृति है अपितु भारतीय काव्य-कला का एक अद्भुततम चमत्कार भी है जो, स्वतः, संस्कृत वाङ्मय के प्रति उत्साह और संस्कृत अनुशीलन के प्रति प्रेम जगाने के लिए पर्याप्त है; और इसकी भाषा भी इतनी सरल और हृदयस्पर्शी है कि पाश्चात्त्य विश्वविद्यालयों में, जहां भी संस्कृत-अध्यापन का प्रबन्ध है, **नल-दमयन्ती** के उपाख्यान से ही उसका श्रीगणेश करने की एक प्रथा-सी तब से बन चुकी है। और भी कितने ही उपाख्यान महाभारत से उद्धृत कर, जर्मन-अनुवाद सहित, बॉप ने सर्वप्रथम छापे। बॉप के तीन संस्कृत व्याकरणों ने, और उसके संस्कृत-कोश ने, जर्मनी में संस्कृत के अध्ययन को अमूल्य प्रोत्साहन दिया।

इसे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान तथा संस्कृत अनुशीलन (की परिपाटी) का सौभाग्य ही समझना चाहिए कि दोनों के उस शैशव में ही विल्हेम वान हम्बोल्ड्ट जैसे प्रतिभावान्, सर्वतोमुखी तथा प्रभावशाली, व्यक्ति की प्राच्य-वाङ्मय के अध्ययन में अभिरुचि जाग उठी। १८२१ में हम्बोल्ड्ट ने संस्कृत पढ़ना शुरू किया और तभी, जैसे कि विल्हेम श्लीगल को उसने एक पत्र में लिखा भी, हम्बोल्ड्ट को यह स्पष्ट हो चुका था कि "बिना संस्कृत के सर्वांगपूर्ण विश्लेषण के—भाषा-विज्ञान अथवा भाषा-विज्ञान से सम्बद्ध इतिहास में किए-गए अनुसन्धानों का मूल्य कुछ-भी नहीं हो सकता"। और १८२८ में श्लीगल ने भारतीय अनुशीलनों का विहंगमा-

वलोकन करते हुए स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया कि भाषाविज्ञान के नूतन शास्त्र के लिए सचमुच यह खुशकिस्मती ही है कि उसे हम्बोल्ड्ट जैसे मित्र और संरक्षक का सहयोग प्राप्त हो सका। **भगवद्गीता** के श्लीगल-कृत अनुवाद ने हम्बोल्ड्ट का ध्यान इस धार्मिक कविता की ओर खींचा। परिणामतः, हम्बोल्ड्ट ने कितने ही निबन्ध गीता पर लिखे और फ्रैंज गेन्त्स (१८२७)को लिखे एक पत्र में उसने स्वीकार भी किया कि गीता सम्भवतः विश्व की सर्वश्रेष्ठ, उदात्त एवं हृदयस्पर्शिनी रचना है। १८२८ में उसने गेन्त्स को भगवद्गीता पर छपे अपने निबन्ध भी भेजे जिनकी कि, इसी बीच में, हीगल ने कुछ कटु आलोचना की थी। हम्बोल्ड्ट ने लिखा कि "हीगल के विचार गीता के सम्बन्ध में भले ही कुछ हों, मुझे भारत की यह दार्शनिक कविता बहुत भाती है। मेरी दृष्टि में इसका मूल्य बहुत है और मेरे लिए यही पर्याप्त है। मैंने इस सुन्दर कृति को पहले पहल सिलीशिया में पढ़ा था, और, पढ़ते वक्त, मेरा हृदय तब क्षण-क्षण कृतज्ञता से भर आता था कि इस ग्रंथ से परिचय प्राप्त करने के लिए भाग्य ने मुझे इतने दिन जीवित रखा।"[१]

जर्मन साहित्य के एक और महारथी को भी भुलाया नहीं जा सकता जिसमें, भाषाविज्ञान के सौभाग्य से, भारतीय कविता की ओर अभिरुचि उद्बुद्ध हुई। जर्मन कवि फ्रीड्रिक रैकर्ट अनुवाद-कला में एक सिद्धहस्त कलाकार था। भारतीय काव्यों तथा गीतियों में कितने ही मनोहर रत्न हैं, जो—

> **हजारों बरस हुए,**
> **भारत के ताल-वृक्षों के शिखरों पर**
> **झिलमिलाते थे**

और जो—रैकर्ट के अनुवादों के माध्यम से—आज जर्मन लोक वाङ्मय की सामान्य सम्पत्ति बन चुके हैं।

१८३० तक अवस्था प्रायः यह थी कि यूरोपीय विद्यार्थियों का ध्यान (उन दिनों) संस्कृत साहित्य के तथाकथित "लौकिक" अंश की ओर ही लगा रहता! **शकुन्तला, भगवद्गीता, मनुस्मृति, भर्तृहरि, हितोपदेश** और **महाभारत** तथा **रामायण** के कुछ उपाख्यान—बस, इन्हीं में ही हमारा अनुसन्धान, हमारा गवेषण पर्यवसित था, और इसी को हम भारतीय साहित्य का 'मूल धन' समझे थे; अभी भारतीय इतिहास के मूर्धा एवं मूलोद्गम, **वेद**, की महत्ता न हमें ज्ञात थी और न-ही हमें बौद्ध वाङ्मय से तनिक भी परिचय प्राप्त था। वैदिक वाङ्मय के सम्बन्ध में, १८३० तक, जो कुछ अधूरा एवं नगण्य ज्ञान हमें था वह भारत के सम्बन्ध में हमारे पुराने लेखकों द्वारा प्रकट किए गए उद्गारों पर ही आश्रित था। वेदों के सम्बन्ध में पहली प्रामाणिक सूचना जो हमें मिलती है वह कोलब्रुक के १८०५ के **'मिस्सेलेनिअस एस्सेज'** (मद्रास १८७२) से मिलती है। उपनिषदों के सम्बन्ध में तथा

वेदांगों की दार्शनिकता के सम्बन्ध में अलबत्ता हमें कुछ सही ज्ञान था। इन उपनिषदों का एक अनुवाद, फारसी में, १७वीं सदी में कभी (मुग़ल बादशाह शाहजहां के पुत्र और औरंगजेब के भाई) **दाराशिकोह**[१] ने किया था। इसकी फारसी के आधार पर १९वीं सदी के शुरू में प्रसिद्ध फ्रेंच मनीषी पेरों ने उपनिषदों का एक लैटिन रूपान्तर पश्चिम में प्रकाशित किया। यद्यपि इस लैटिन अनुवाद में कितनी ही अपूर्णताएं, कितनी ही ग़लतियां मौजूद हैं, ज्ञान के प्रसार की दृष्टि से इसका महत्त्व काफी है, क्योंकि—शेलिंग और शोपनहा'र सरीखे जर्मन दार्शनिक, भारतीय दर्शन के प्रति, इसी ग्रंथ के द्वारा आकृष्ट हुए थे। पेरों के ग्रन्थ में हम उपनिषदों का वह स्वरूप नहीं पाते जो भारतीय भाषाविज्ञान तथा भारतीय दर्शन की व्यापक भूमिका पर आज हमें स्पष्ट है, किन्तु पेरों के अनुवाद के विषय में ही शोपनहा'र का उद्गार था कि "यह ग्रन्थ मानवी चेतना का उत्कृष्टतम चमत्कार है।" और साथ ही मजा यह था कि जिस समय जर्मनी में शोपनहा'र, उपनिषदों से कुछ नई चीज सीखने की बजाय, अपने ही दार्शनिक विचारों को, उलटे, उन्हींमें घुसेड़ रहा था, उसी समय भारतवर्ष में ब्राह्म-समाज की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। ब्राह्म समाज के संस्थापक राममोहन राय की गिनती सचमुच भारत की सर्वकालीन महान् विभूतियों में होनी चाहिए।

ब्राह्म समाज एक नई धार्मिक संस्था है जिसमें हिन्दुओं तथा यूरोपीय धर्मों के श्रेष्ठ विचारों को समन्वित करने का प्रयत्न किया गया है। राममोहन ने ब्राह्म-समाज की स्थापना उपनिषदों के विशुद्ध एकेश्वरवाद पर आधारित की और उपनिषदों के आधार पर ही अपने देशवासियों को यह समझाया कि यद्यपि भारत के वर्तमान सम्प्रदायों में मूर्तिपूजा में विश्वास कोई अच्छी वस्तु नहीं है, तथापि **इसी कारण** हमें ईसाइयत कबूल करने की जरूरत नहीं, क्योंकि—धर्म के सच्चे स्वरूप को हम अपने ही धर्मग्रन्थों (वेदों) में भी पा सकते हैं; आवश्यकता है सिर्फ उन्हें समझने की। अपने इस विचार की सत्यता को सिद्ध करने के लिए (जो कि एक नया विचार था भी और नहीं भी, क्योंकि प्राचीन साहित्य में यह पहले से संस्कृत में अनुस्यूत है-ही) १८१६-१९ में बहुत-सी उपनिषदों का एक अंग्रेजी अनुवाद (राममोहन राय ने) छापा जिसके साथ दो-चार उपनिषदों के मूल शब्द भी अन्त में संकलित थे। इस अनुवाद का एक ध्येय और भी था : वह यह कि राममोहन के दिल में ईसाई धर्मोपदेशकों एवं पादरियों के प्रति बड़ा आदर था और उन्हें भी वह यह बता देना चाहते थे कि ईसाई धर्म का 'आत्म'-गौरव भारत की इन उपनिषदों में पहले से ही विद्यमान है।

किन्तु भाषा-विज्ञान की कसौटी पर वेदों के सच्चे अनुसन्धान की परम्परा १८३८ में लन्दन में छपे फ्रीड्रिख रोजेन के ऋग्वेद के प्रथम आष्टक के साथ होती

है। दुर्भाग्य से रोज़ेन अपने संस्करण को पूर्ण करने से पूर्व ही स्वर्ग सिधार गया; सो, यूरोप में वैदिक अनुशीलन की आधारशिला का श्रेय फ्रांस के महान् प्राच्य-विद् (जो १९ वीं सदी के पंचम दशक में 'कालेज दे फ्रांस' में संस्कृत प्रोफेसर थे) यूजीन बर्नूफ को है। यूजीन ने संस्कृत तथा वैदिक में शिष्यों की एक विशिष्ट परम्परा तैयार किया जो आगे चल कर सभी प्रसिद्ध वैदिक विद्वान् बन गए। बर्नूफ के इन्हीं शिष्यों में एक रूडोफ रोथ था जिसने १८४६ में जर्मनी में वैदिक अनुशीलन की आधुनिक परम्परा चलाई। यही नहीं, अगले दो-तीन दशक रोथ का ध्येय भी इसी शिष्य-परम्परा को आगे बढ़ाने का ही रहा, जिससे कि उनमें पश्चिम और पूर्व के इस प्राचीनतम साहित्य के प्रति एक अदम्य अनुराग प्रज्वलित रहे। बर्नूफ का एक और विश्व-विख्यात शिष्य मैक्समूलर था जिसने 'वेदारम्भ की दीक्षा' रोथ के साथ ही पाई थी। बर्नूफ से प्रेरणा पा कर मैक्समूलर ने **ऋग्वेद** के सूक्तों को सायण-भाष्य सहित प्रकाशित करने की एक योजना बनाई : ऋग्वेद का यह संस्करण (जो १८४९-७५ में प्रकाशित हुआ) वेद-सम्बन्धी अगले सारे अनुसन्धानों के लिए अपरिहेय है। इस संस्करण के छपने से पूर्व भी, वैदिक अनुसन्धान की जो अमूल्य सेवा थिओढोर औफ्रैख्त ने **ऋग्वेद** का एक पूर्ण किन्तु लघु संस्करण निकाल कर की, उसे कौन भुला सकता है?

बर्नूफ ने जहां वैदिक अनुशीलन को शिशुवत् (मातृ-हृदय की उद्भावनाओं के साथ) पाला, वहां उसने साथ ही—(लैस्सन के सहयोग से) पालि तथा बौद्ध साहित्य गवेषणा की आधारशिला भी रखी।

वैदिक वाङ्मय की, इस प्रकार एक स्वतन्त्र विभाग के रूप में, प्रतिष्ठा के साथ, तथा बौद्ध वाङ्मय के उद्घाटन के साथ, भारतीय शोध का शैशव-काल समाप्त हो जाता है। अनुसन्धान में अब यह स्व-तः एक विपुल विभाग बन चुका है जिसमें प्रतिवर्ष नए-से-नए सहयोगी हाथ बटा रहे हैं। अब तो कार्य की गति इतनी तीव्र हो चुकी है कि प्रमुख ग्रन्थों के प्रामाणिक संस्करण तो आए-दिन प्रकाशित हो ही रहे हैं, साथ ही—इन ग्रन्थों को स्पष्ट करने में जैसे विश्व के सभी राष्ट्र परस्पर-प्रतिस्पर्धी दीख पड़ते हैं। पिछले दशकों में भारतीय वाङ्मय के, विभिन्न क्षेत्रों में जो कुछ हो चुका है उसका उल्लेख, अधिकांश, प्रस्तुत इतिहास के विभिन्न अधिकरणों में किया जाएगा। यहां तो भारतीय शोध की प्रगति में मुख्य-मुख्य सोपानों—एवं उस शोध के इतिहास में महत्त्वपूर्ण घटनाओं—का संक्षेप में जिक्र ही किया जा सकता है।

इस प्रसंग में सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य विल्हेम श्लीगल के शिष्य क्रिस्टियन लैस्सन ने किया है, जिसने अपनी **इण्डीश आल्तेरथुमस्कुन्दे** में भारत के विषय में उपलब्ध सम्पूर्ण तात्कालिक ज्ञान को संगृहीत करने का प्रयत्न किया

था। १८४३ में इस महान् ग्रंथ का पहला भाग प्रकाशित हुआ और १८६२ में चौथा और अन्तिम भाग। यदि आज लैस्सन के निष्कर्ष कुछ पिछड़े हुए जंचते हैं तो इसमें दोष लेखक का नहीं, अपितु यह इस बात का प्रमाण है कि १९वीं सदी के उत्तरार्ध में हमारा तुलनात्मक विज्ञान कितनी अविश्वसनीय प्रगति कर चुका है।

किन्तु इस प्रगति का सर्वाधिक शक्तिशाली स्रोत, और सम्भवत: संस्कृत अनुसन्धान के इतिहास की मुख्यतम घटना, व्हिट्लिङ और रोथ का संस्कृत-कोश **संस्कृत वेर्तेरबुख** थी जिसे 'एकेडमी आव आर्ट्स एण्ड साइन्सेज इन सेन्ट पीटर्स-बर्ग' ने १८५२-७५ में सात फोलियो वौल्यूम्स में प्रकाशित किया। यह प्राच्य-स्वाध्याय में जर्मन उद्योग का जीवित-जागरित स्मारक है।

१८५२ में ही, जब कि **सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी** छपनी शुरू हुई, आलब्रेख्त वेबर ने भारतीय साहित्य का एक 'परिपूर्ण' इतिहास लिखने का सर्वप्रथम प्रयत्न किया। १८७६ में इसका द्वितीय संस्करण भी प्रकाशित हो गया जिससे भारतीय-शोध के इतिहास में इसकी महत्ता स्वत:-प्रमाणित हो जाती है, क्योंकि—शैली आदि के व्यक्तिगत दोषों के बावजूद (जो इसे एक साधारण पाठक के लिए कहीं-कहीं दुर्बोध कर देते हैं) कितने ही दशकों से भारतीय वाङ्मय के सम्बन्ध में वेबर की यह पुस्तक अब भी पूर्ण-तम है और सम्पूर्ण प्रामाणिक-तम सामग्री—एक ही स्थान पर—उपस्थित कर देती है।

भारतीय वाङ्मय के अनुशीलन ने इतनी आश्चर्यजनक प्रगति कैसे की, और इतने थोड़े समय में—इसका कुछ परिज्ञान पाठक को विल्हेम श्लीगल के १८१९ में छपे एक निबन्ध से बखूबी हो सकता है जिसमें लेखक ने दर्जन से ऊपर ऐसे (प्रकाशित) संस्कृत-ग्रन्थों का परिगणन किया है जो, संस्करणों अथवा अनुवादों के माध्यम से, हमारे सम्पूर्ण अनुसन्धान का स्रोत रहे हैं। इसके अनन्तर १८३० में सेन्ट पीटर्सबर्ग से प्रकाशित फ्रीड्रिख आदेलुङ की एक पुस्तक में इन प्रामाणिक ग्रन्थों की संख्या ३५० तक पहुंच गई है, और तभी—वेबर के १८५२ में प्रकाशित इतिहास में जिन ग्रन्थों की आलोचना अथवा विवेचना हुई है उनकी संख्या—५०० हो जाती है! १८९१-१९०३ में मुद्रित आफ्रेख्त के **कैटालोगस कैटेलोगोरम** के तीन भागों पर यदि दृष्टि डालें तो बुद्धि दंग रह जाती है, क्योंकि—१९०३ तक उपलब्ध सभी हस्तलिपियों की सूचियों पर चालीस वर्ष के निरन्तर अध्यवसाय का परिणाम यह है कि भारत में तथा यूरोप में जहां-कहीं भी पाण्डुलिपियों की खबर मिली उनका नाम-संकेत इस बृहत् **कैटालोगस** में दे दिया गया! किन्तु इस बृहत् 'संदर्भ-ग्रंथ' में भी अभी बौद्ध साहित्य का उल्लेख नहीं हुआ और ना-ही भारत की संस्कृतेतर अन्य भाषाओं की गतिविधि का ही।

और—१९०३ के बाद तो कितनी अन्य 'नई' रचनाओं के बारे में हमें खबर मिल चुकी है।

बौद्ध साहित्य के अनुसन्धान को उचित दिशा में प्रोत्साहित करने का श्रेय १८८२ में राईज़ डेविड्स द्वारा संस्थापित 'पालि टेक्स्ट सोसाइटी' को है। वेबर ने पुनः १८८३-८५ में जैन धर्म-ग्रन्थों के सम्बन्ध में दो बृहत् निबन्ध प्रकाशित करके प्राच्य अनुसन्धान के लिए वाङमय की एक और महती शाखा, 'जैन-साहित्य शोध' (जो स्वयं बौद्ध धर्म के समान ही प्राचीन है), भी खोल दी।

प्राचीन भारतीय साहित्य के उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या दिनों-दिन इतनी बढ़ती जा रही है, यहां तक बढ़ चुकी है, कि आज एक ही विद्वान् के लिए उसके सभी क्षेत्रों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सकना असम्भव है। इसीलिए यह आवश्यक अनुभव हुआ कि भारतीय शोध की विभिन्न शाखाओं में आज तक जो कुछ भी हो चुका है, उस सब को एक विश्वकोश की संक्षिप्त दृष्टि से एक ही स्थान पर उपस्थित कर दिया जाए। इसी उद्देश्य से एक विश्वकोश की योजना इन पिछले दशकों के सर्वाधिक प्रतिभावान् तथा विश्वतोमुख विद्वान् जार्ज-ब्यू'लर, ने बनाई थी—जिसके प्रश्रय में १८९७ से प्रस्तुत 'इतिहास योजना' का प्रकाशन जारी है। जर्मनी, आस्ट्रिया, इंग्लैण्ड, हालैण्ड, भारत और अमेरिका के तीस विद्वान् इस **विश्वकोश** के विभिन्न भागों को सम्पादित करने के लिए, सबसे पहले ब्यू'लर की अध्यक्षता में, उसके बाद फ्रैंज कीलहार्न की, और अब ल्यूडर्स तथा वाकर्नागेल की अध्यक्षता में, सहयोगी हुए। इस प्राच्य शोधकोश का प्रकाशन सचमुच भारतीय शोध-विकास के इतिहास में अभिनव एवं 'आधुनिक'—सब से महत्त्वपूर्ण एवं सर्व-अभिमत—पग है। **ग्रुन्ड्रिस** की यह प्रकाशन-योजना अनुसन्धान के इतिहास में कितनी महत्त्व-पूर्ण घटना है यह हम लैस्सन के **इण्डिश आल्तेरतुमस्कुन्दे** में संगृहीत 'भारत तथा भारतीय साहित्य के सम्बन्ध में तत्कालीन तथ्यों' की तुलना ब्यू'लर के इस 'विश्वकोश के आज तक प्रकाशित भागों के साथ करके 'प्रत्यक्ष' अनुभव कर सकते हैं और, ,अ-मिथ्या, गर्व कर सकते हैं कि कितने थोड़े समय में हमारे भारतीय शोध-विज्ञान ने कितनी अधिक प्रगति तथा उन्नति कर ली है!

१ Schriften von Friedrich von Gentz : *Heransgegeben von Gustav Schlesier*, Mannheim, 1840, V, 291, 300.

२ L. von Schroeder : *Dara oöder Schah Dschehan und Seine Söhne* (Milan 1891).

भारतीय साहित्य की काल-परम्परा

भारतीय साहित्य के ग्रन्थ तो नए से नए प्रकाश में आ रहे हैं किन्तु उनका ऐतिहासिक क्रम अभी प्रायः अन्धकार में ही विलीन है जिसका अन्वीक्षण अपेक्षित है। इस कालानुपूर्वी की अस्तव्यस्तता को देख कर कभी-कभी मन आंतकित हो उठता है। प्रायः सभी समस्याओं का समाधान अभी अपेक्षित है। कितना ही अच्छा होता, और कितनी सुगमता इससे हो जाती, यदि हम भारतीय साहित्य को तीन या चार कालों में कुछ निश्चित तिथियों के साथ विभाजित कर सकते और —उन कालों में इन साहित्यिक कृतियों को मोटे तौर पर स्थापित कर सकते। परन्तु हमारे ज्ञान की वर्तमान स्थिति में ऐसा कोई भी प्रयत्न सफल होता नहीं दीखता; हां, कुछ काल्पनिक तिथियां ही रखी जा सकती हैं, परन्तु वह तो एक भ्रान्ति ही, लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक, उपस्थित करेंगी। बेहतर यही होगा कि हम यह मान लें कि भारतीय साहित्य के इतिहास की प्राचीनतम अवस्था को हम निर्धारित नहीं कर सकते और यह कि, उसके बाद के युगों में भी, कुछ ही तिथियों के सम्बन्ध में हम कुछ निश्चय से कह सकते हैं। बरसों हुए व्हिटनी[1] ने एक बार कहा था, और व्हिटनी के वे शब्द कितनी ही बार दोहराए जा चुके हैं, कि "भारतीय साहित्य के इतिहास की सारी तिथियां ऐसी ही हैं जैसे हम कुछ पिन खड़े करके एक योजना को रूप देना चाहें किन्तु बार बार हमें नक्शा बदलना ही पड़े।" आज भी स्थिति प्रायः वही है। भारत के प्राचीन साहित्य की तिथियों के सम्बन्ध में प्रमुख गवेषकों में पर्याप्त मतभेद है—वर्षों व दशकों का नहीं, सदियों का—और कभी-कभी तो सहस्राब्दियों का—मतभेद है। यदि हम कुछ निश्चय के साथ किसी तथ्य पर पहुंच सकते हैं तो वह तथ्य भी इस कालानुपूर्वी के सम्बन्ध में एक आपेक्षिक तिथिपत्र के अतिरिक्त और कुछ बन नहीं पाता। प्रायः हम यही कहते भी हैं कि फलां पुस्तक अथवा साहित्य का फलां अंग फलां पुस्तक अथवा साहित्य के फलां अंग से पुराना है; लेकिन उसकी सही तिथि के विषय में बस एक कल्पना-भर ही पेश कर सकते हैं, और हमारे इस सापेक्ष काल-विभाजन का आधार अब तक मुख्यतया भाषा-विकास ही होता है। शैली की युक्ति हमारे प्रश्न पर कोई बहुत प्रकाश नहीं डाल सकती, क्योंकि—भारतवर्ष में लेखक प्रायः प्राचीन साहित्य की शैली का अनुकरण करते आए हैं कि जिससे उनके ग्रन्थों में 'प्रामाणिकता' का कुछ आभास आ सके। और अक्सर तो यह आपेक्षिक तिथिक्रम भी स्थिर नहीं रहता, क्योंकि—भारतीय साहित्य में जो-जो ग्रन्थ लोकप्रिय होते गए समय के साथ-साथ उन्हीं की सुरक्षा को भारतीयों ने अपना कर्त्तव्य समझा—लेकिन, साथ ही साथ, साहित्य के ये संरक्षक इन प्राचीन ग्रन्थों में यत्र-तत्र परिवर्तन-संशोधन भी करते

रहे ! उदाहरणतया जब हम **रामायण** या **महाभारत** का एक उद्धरण किसी पुस्तक में पाते हैं—किसी ऐसी पुस्तक में पाते हैं जिसकी तिथि के सम्बन्ध में कि प्रायः सन्देह नहीं होता, तो हमारे मन में स्वभावतः सबसे पहला प्रश्न यही उठा करता है कि क्या यह उद्धरण हमारी हस्तगत पुस्तक के इसी संस्करण में है या मूल (रामायण तथा महाभारत) में भी था। और हमारी यह अनिश्चितता और भी बढ़ जाती है जब हमारे अनुसन्धान का विषय कोई ऐसा प्राचीन ग्रन्थ हो जिसके रचयिता के विषय में हमें कुछ भी (नाम-धाम तक का) परिचय न हो। इन प्राचीन ग्रन्थों पर (जैसे कि हमें ये मिलते हैं) वंशों, सम्प्रदायों, आश्रमों या बाबा आदम के युग के पौराणिक ऋषि-मुनियों की मोहर लगी होती है। और अन्त में जब हमारे अध्ययन का विषय कोई अपेक्षया-आधुनिकतर लेखक होता है तब भी हमें लेखक के अपने नाम की बजाय उसके वंश-नाम का ही किंचित् परिचय होता है; ऐसी अवस्था में भारत का ऐतिहासिक कोई निष्कर्ष निकाले भी, तो कैसे ? यह तो ऐसे ही है जैसे जर्मन साहित्य के इतिहास में मेयर, शुल्स, मूलर आदि दो-चार वंशानुगत नाम ही हमें पता हों किन्तु किसी भी लेखक का अपना निजी नाम हमें अज्ञात रहे। उदाहरण के तौर पर, जब भी हमें कालिदास के नाम की कोई कृति मिलती है हम निश्चय से नहीं कह सकते कि यह भारत के प्रसिद्ध महाकवि की ही कृति है।

सन्देहों और अनिश्चयों के इस सागर में जो दो-चार स्थिर-बिन्दु हमें ज्ञात हैं, उनका उल्लेख अब पाठक के परिज्ञान के लिए सावसर प्रतीत होता है।

मुख्यतया भाषा की साक्षी पर अब यह सिद्ध ही समझ जाना चाहिए कि वेद के सूक्त, और गान, मन्त्र और यजुष् निस्सन्देह भारतीय साहित्य के प्राचीनतम अवशेष हैं। दूसरी बात जो बगैर किसी शक के कही जा सकती है वह यह कि बौद्ध-धर्म में (जिसका अभ्युदय ईसा से प्रायः ५०० वर्ष पूर्व हुआ था) सम्पूर्ण वैदिक साहित्य को (उसके सांगोपांग रूप में) परिनिष्ठित स्वीकार किया जा चुका है। अर्थात् सम्पूर्ण वैदिक साहित्य का युग एक प्रकार से पांच सौ ईसवी पूर्व तक समाप्त हो चुका था। बौद्ध और जैन साहित्य की स्थिति उतनी अनिश्चित नहीं है जितनी कि ब्राह्मण-धर्मी वैदिक साहित्य की। बौद्धों में तथा जैनों में उनके प्राचीन एवं प्रामाणिक धर्मग्रन्थों के रचना-काल, संग्रह-काल तथा व्यवस्था-काल के सम्बन्ध में जो परम्पराएं प्रचलित हैं, वे बहुत कुछ विश्वसनीय हैं। इसके अतिरिक्त, बौद्ध तथा जैन विहारों, चैत्यों और स्तूपों आदि पर जो धार्मिक अभिलेख मिलते हैं उनसे भी उनके धार्मिक साहित्य का काफी अच्छा तुलनात्मक समीक्षण सम्भव है।

तथापि भारतीय इतिहास के सम्बन्ध में निश्चित तिथियां हमें स्वयं भारतीय ऐतिहासिकों से नहीं मिलती। भारत के प्राचीन इतिहास में यदि कोई एक निश्चित

स्थिर-तिथि है तो वह है ३२६ ई० पू० में एलैग्जैण्डर का भारत पर आक्रमण। विशेषतः, भारत के साहित्य के सम्बन्ध में सिकन्दर के आक्रमण का यह साल एक ऐसी कसौटी है कि जिस पर हम किसी भी भारतीय ग्रन्थ पर अथवा कलाकृति पर यूनानी प्रभाव की सत्यता परख सकते हैं; और यह भी हमें यूनानी लेखकों से ही पता लगता है कि चन्द्रगुप्त ने ऐलैग्जैण्डर के सामन्तों के खिलाफ एक सफल बगावत की थी और उसके बाद पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) पहुंच कर, नन्दों की वंशानुगत गद्दी हथिया कर, मौर्य साम्राज्य की स्थापना की थी। और प्रायः इसी समय, या उक्त घटना के कुछ-ही वर्ष पश्चात्, सैल्यूकस के प्रतिनिधि रूप में मैगास्थनीज चन्द्रगुप्त के दरबार में पहुंचा था। मैगास्थनीज के भारतीय उल्लेखों में जो-कुछ बच सके हैं उनसे चौथी सदी ईसवी पूर्व की भारतीय संस्कृति का चित्र बखूबी हमारे सामने आ जाता है और उसके सहारे हम कितनी ही भारतीय साहित्यिक कृतियों का काल प्रायः निर्धारित कर सकते हैं। सम्राट् अशोक इसी चन्द्रगुप्त का ही एक पोता था जो २६४ ई० पू०[२] में राजसिंहासन पर बैठा। भारत के प्राचीन-तम अभिलेख भी, जिनकी तिथि हम निश्चयपूर्वक जानते हैं, (वे भी) अशोक के ही हैं। शिलाओं तथा स्तूपों पर अंकित इन लेखों की लिपि भारत की प्राचीन-तम (उपलब्ध) लिपि है। इन अभिलेखों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि यह शक्तिशाली सम्राट् बौद्ध धर्म का संरक्षक था; उत्तर से दक्षिण तक व्याप्त साम्राज्य की शक्ति को उसने पूर्णरूपेण बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ लगा दिया, किन्तु अन्य राजाओं की तरह वह इन धंमलिपियों में अपनी विजयों और कारनामों को नहीं बखानता अपितु शिलाओं और स्तूपों की अविनश्वरता में मानव प्रेम एवं सहिष्णुता, और निष्पाप परार्थ-जीवन के उपदेशों को ही अंकित करता है। पत्थरों पर खुदे सम्राट् अशोक के ये आदेश एक राजा के हृदय-परिवर्तन के 'स्मारक' तो हैं ही, एक ऐतिहासिक के लिए उनकी लिपि और भाषा की उपयोगिता भी कुछ कम नहीं है; भारतीय वाङमय और धर्म के विकास में उनका अपना स्थान है। १७८ ई० पू० में (अर्थात् चन्द्रगुप्त के राज्याभिषेक के १३७ साल बाद) मौर्यों के अन्तिम वंशज को पुष्यमित्र ने पदच्युत कर दिया। और कालिदास के एक नाटक में सम्राट् पुष्यमित्र का उल्लेख अपने-आप में भारतीय साहित्य के अनेक ग्रन्थों की तिथि निर्धारित करने में एक महत्त्वपूर्ण युक्ति है। यही अवस्था ग्रीक-बैक्ट्रियन सम्राट् मैनाण्डर की है जो प्रायः १४० ईसवी पूर्व में जीवित था और जो बौद्ध धर्म के **मिलिन्दपञ्हो** में मिलिन्द के नाम से अमर है।

यूनानियों के अतिरिक्त, भारतीय साहित्यिक इतिहास के तिथि-निर्धारण में, हम चीनी लेखकों के भी अनुगृहीत हैं। ईसा की पहली सदी से ही बौद्ध भिक्खुओं ने चीन की ओर धर्म-यात्राओं का सिलसिला, और बौद्ध धर्मग्रन्थों का चीनी में

अनुवाद, शुरू कर दिया था ; और, उधर से, चीन और भारत में दूतावासों, तीर्थ-यात्राओं के परस्पर सांस्कृतिक दानादान की परम्परा भी शुरू हो चुकी थी। भारतीय साहित्य के कितने ही ग्रन्थ हमें चीनी अनुवादों में ही मिलते हैं और इन अनुवादों की निश्चित तिथियां हमें मालूम हैं। बौद्ध तीर्थों के दर्शनार्थ, विशेषतः, तीन चीनी यात्री, भारत में आए : फा हीन ३९९ ई०; च्वान च्वाङ—जो ६३०-४५ में कितनी ही बार भारत में आया, और इ-चिङ जिसने ६७१-९५ में सम्पूर्ण भारतवर्ष की 'परिक्रमा' की। इन तीनों यात्रियों के यात्रा-संस्मरण आज भी मौजूद हैं और इनमें भारत के प्राचीन वाङ्मय तथा इतिहास के सम्बन्ध में अमूल्य सामग्री संगृहीत है। भारतीयों के विपरीत, चीनियों की काल-बुद्धि—काल-'रक्षा-बुद्धि' —आश्चर्यजनक है, और सच्ची है। भारतीय ऐतिहासिकों के विषय में अरबी यात्री अल्बेरूनी ने १०३० में जो कुछ लिखा था वह आज भी कितना सच है: "दुर्भाग्य से हिन्दू लोग अपने मुल्क के वाकयात की तवारीख के बारे में कुछ ध्यान नहीं देते—वे अपने ही राजाओं को आगे पीछे धकेलते रहते हैं; और जब कोई ऐतिहासिक उनसे सही सही वाकयात मालूम करना चाहता है और वो कुछ बता नहीं सकते, तब उनके पास एक ही रास्ता रह जाता है—वो किस्से घड़ना शुरू कर देते हैं।"[१]

फिर भी पाठक यह न समझ लें (जैसा कि एक विश्वास-सा ही साधारणतया आजकल बन चुका है) कि भारतीयों में इतिहास-बुद्धि का सर्वथा अभाव है। भारत में भी इतिहास-सम्बन्धी ग्रंथ लिखे गये; और कम-से-कम अभिलेखों तथा शिलालेखों की एक विपुल संख्या तो ऐसी है ही कि जिनकी तिथियां निश्चित रूप में अंकित हैं। यदि भारतीयों में सचमुच ऐतिहासिक बुद्धि न होती, तो इन अभिलेखों में भी हम उसे प्रमाणित देखते; यद्यपि यह सच है कि इतिहास लिखते हुए भारतीय कवि इतिहास तथा आख्यान में भेद नहीं करते, उनकी दृष्टि में स्वयं घटनाओं का महत्त्व, सदैव, घटनाओं-के-अनुक्रम से अधिक होता है : सो, जब वे साहित्य-क्षेत्र में उतरते हैं तो इन्हीं घटनाओं की पूर्वोत्तरी को वे सर्वथा भुला देते हैं। भारतीय कवि 'सत्यं, शिवं, सुन्दरं' को हमेशा प्राचीनता की ओर उठा ले जाता है; और यदि यही लेखक अपने किसी सिद्धान्त को कुछ विशेष प्राचीनता, आदर और लोकप्रियता देना चाहता हो तो वह, बड़ी सरलता के साथ, किसी पुराण, ऋषि मुनि का नाम अपनी कृति को देकर स्वयं 'अ-पौरुषेय' हो जाता है! भारत में यह प्रक्रिया आज भी चल रही है, और प्राचीन शतियों में स्थिति इससे बहुत भिन्न नहीं थी। यही कारण है कि कितनी ही वर्तमान रचनाएं—मुहावरा उलटा दें तो 'पुरानी बोतलों में नई शराब'—'उपनिषदों और पुराणों' के रूप में हमारे सामने आती हैं। किन्तु इससे यह न समझ लेना चाहिए कि यह सब हमें धोखा देने के लिए

किया गया है। विशेषतः प्राचीन भारतीयों में साहित्यिक नाम और शोहरत की हवस बिल्कुल न के बराबर ही थी। परतर शतियों में ही हम यह देखने लगे हैं कि लेखक, खैर से, अपने—नाम, धाम, वंश, माता-पिता, पितामह, शिष्य-परम्परा (किंचित्—'आत्म-निवेदन' के साथ) देने लग गए हैं। ज्योतिष-शास्त्र के लेखक तो प्रायः अपने ग्रंथ की समाप्ति की सही घड़ी तक अंकित कर गये हैं। छठी सदी ईसवी के बाद ऐतिहासिक अभिलेखों में अनेक साहित्यिकों का परिचय हमें मिलना शुरू हो जाता है। पिछले दशकों में इन अभिलेखों को पढ़ने में पर्याप्त उन्नति हुई है जिसका प्रमाण **कार्पस इन्स्क्रिप्शनम इन्डिकेरम** की बृहत् ग्रन्थमाला तथा त्रैमासिक **ऍपिग्राफिआ इण्डाइका** का अविरत सम्पादन है। ये अभिलेख मात्र भारत के प्राचीन साहित्य की कुछ तिथियां सुलझाने के लिए ही सहायक सिद्ध हुए हों—ऐसी बात नहीं है; इनसे भारतीय इतिहास की अन्यान्य अद्यावधि-असमाहित समस्याओं पर भी महत्त्वपूर्ण प्रकाश पड़ने की हमें आशा है।

१ Intro. to his *Sanskrit Grammar*, Leipzig, 1879.
२ JRAS, 1912, 239.
३ E. C. Sachau : *Alberuni's India*, II, 10 ff.

भारतीय साहित्य की सुरक्षा और लिपि का प्रश्न

इन ऐतिहासिक अभिलेखों का मूल्य बहुत अधिक है, क्योंकि—ये भारतीय इतिहास से सम्बद्ध एक ऐसे प्रश्न पर प्रकाश डालते हैं जिसका महत्त्व भारतीय (वाङमय के) इतिहास की दृष्टि से भी कुछ कम नहीं है। प्रश्न है—भारत में लेखनकला का उद्भव। और, जैसा कि हमें शायद आभास मिल ही चुका है, भारतीय वाङमय का इतिहास भारतीय लिपि के इतिहास के साथ ही शुरू नहीं होता; भारतीय साहित्य की प्राचीनतम रचनाएं, लिपिबद्ध हो कर नहीं, मुख-परम्परा में सदियों सुरक्षित रहीं। फिर भी इस प्रश्न का समाधान—कि कब से भारतीय वाङमय लिखित रूप में आना शुरू हुआ—वाङमय के इतिहास में उपेक्षित नहीं रह सकता। आज जो भारतीय अभिलेख प्राचीनतम रूप में हमें मिले हैं, वो ईसा से पूर्व तीसरी सदी में उल्लिखित सम्राट् अशोक की उपरिनिर्दिष्ट धंमलिपियां ही हैं। किन्तु इसी आधार पर यह निष्कर्ष निकाल लेना—जैसा कि मैक्समूलर ने किया भी है—कि भारत में लिपि-कला अशोक से पूर्व नहीं थी,

अनुचित होगा। पुरातत्त्व की साक्षी अकाट्य है कि लेखन-कला भारत में अशोक के समय से शुरू नहीं होती, अशोक के पूर्व भी उसका काफी पुराना इतिहास होना चाहिए। भारत की प्राचीनतम लिपि—जिससे कि देवनागरी लिपि (और इसमें प्रायः सभी भारतीय हस्तलेख पाए जाते हैं) और भारत की अन्यान्य लिपियां निकलीं—भारत में ब्राह्मी लिपि के नाम से प्रचलित है (क्योंकि भारतीयों की आस्था है कि इसका निर्माण प्रजापति-ब्रह्मा ने किया था)। जार्ज ब्यू'लर[१] की गम्भीर गवेषणाओं के अनुसार—ब्राह्मी का उद्भव उत्तरी सेमेटिक अक्षरों के वे प्राचीनतम रूप हैं जो लगभग ८९० ई० पू० एक शिला पर फिनीशन अभिलेखों में मिलते हैं। सम्भवतः ८०० ई० के करीब उधर से आने वाले व्यापारी अपने साथ अपनी लिपि भी भारत में लेते आए। और यह भी सम्भव है कि बहुत समय तक उस प्राचीन लिपि का प्रयोग व्यापार, हिसाब-किताब, पत्र-व्यवहार और दस्तावेज़ आदि के लिए ही होता रहा हो। और जब आगे चलकर दूतावासों के आदेश, घोषणापत्र तथा व्यवहार भी लिपिबद्ध होने लगे, राज्याधिकरणों में पढ़े-लिखे वैयाकरणों और ब्राह्मणों को नियुक्त किया जाने लगा, ताकि—इस विदेशी लिपि को भारतीय ध्वनियों के अनुकूल बनाया जा सके। मूल सेमेटिक वर्णमाला में २२ अक्षर थे और भारत के प्राचीनतम अभिलेखों में हमें ४४ अक्षर मिलते हैं। फिर भी इस बारे में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता कि कब से भारतीय साहित्य लिखित रूप में पेश होने लगा; इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। पुराने हस्तलेखों के सम्बन्ध में कुछ प्रामाणिक सूचना हमें नहीं मिलती कि वे कब लिखे गए। विशेषतः वैदिक साहित्य के बारे में तो अब तक उसके लिपिबद्ध होने का प्रमाण, वेद के संरक्षकों में लिपिज्ञान का प्रमाण—कोई नहीं मिल सका। बौद्ध धर्मग्रन्थों में (जो २४० ई० पू० तक पूर्ण हो चुके थे।) कहीं भी हस्तलेखों का जिक्र नहीं मिलता—यद्यपि लेखन-कला के परिचय और व्यापक उपयोग के प्रमाण उसमें जहां-तहां प्रकीर्ण हैं। इन ग्रन्थों में लेखन-कला का शिक्षाशास्त्र में एक विशिष्ट स्थान है और, खास तौर पर बौद्ध भिक्खुनियों को इस कला में निपुणता प्राप्त करने के लिए आदेश भी है; बौद्ध ग्रन्थों में कई स्थलों पर ऐसे भिक्खुओं का उल्लेख मिलता है जिन्होंने आत्महत्या की 'लिखित रूप में (धर्मानुसार!)' प्रशंसा करते हुए कितनों को ही मौत की राह दिखाई! और वहां यह भी लिखा है कि कोई आदमी, जिसकी चोरी का जिक्र एकबार सरकारी रजिस्टर में हो चुका, संघ का भिक्खु नहीं बन सकता! एक अक्षरों-के-खेल का भी जिक्र है; और यह भी कहा गया है कि माता-पिता को चाहिए कि वे अपने बच्चों के लिए लिखाई-पढ़ाई और हिसाब-किताब का प्रबन्ध करें। किन्तु बौद्ध धर्मग्रन्थों में कहीं भी इस बात का जरा संकेत नहीं मिलता कि पुस्तकें भी

लिखी और पढ़ी जाती थीं; और यह तब जब कि बौद्धों के इन ग्रन्थों में उनके भिक्खुओं के जीवन की छोटी से छोटी घटनाएं अंकित हैं। "सुबह से शाम तक इन धंम-भिक्खुओं की दैनिक चर्या कैसी होती थी, वे कहां-कहां जाते थे, कैसे आराम करते थे, कब एकान्त सेवन करते थे और अन्य भिक्खुओं तथा गृहस्थों के बीच में वे क्या उपदेश देते थे, उनके आवास में क्या-क्या सामान रहा करता था, उनके बर्तन, उनके स्टोर-रूम—सब का खूब बारीकी के साथ वर्णन हम पढ़ सकते हैं; किन्तु—क्या वे अपने ही धर्मग्रन्थों को पढ़ते-लिखते भी थे ? उनके पास, उनके आश्रमों में कुछ लेखन-सामग्री भी रहा करती थी ?—यह जानने के लिए हमारे पास कोई उपाय नहीं है। विहारों में पुस्तकालय का काम इन 'बहुश्रुत'—'बहु-पठित' नहीं—भिक्खुओं की स्मृति-शक्ति द्वारा ही चला करता था। और यदि कभी संघ में किसी प्रामाणिक संदर्भ का ज्ञान आवश्यक आ पड़ता, ऐसे मौकों पर—उदाहरणतया जब कि संघ के अधिवेशनों में पूर्णिमा अथवा प्रतिपदा के अवसर पर 'शील-ग्रहण' की उपेक्षा असम्भव होती थी, ऐसे मौकों पर—उसी पुरानी रीति का अनुसरण किया जाता और वही घिसे-पिटे पुराने शब्द दोहरा दिये जाते : 'उन भिक्खुओं में से एक को अविलम्ब प्रत्यन्त संघ में भेज दिया जाएगा; और उसे कहा जाएगा—जाओ भाई, जब तुम्हें 'शील-ग्रहण' का यह मन्त्र याद हो जाए तभी वापिस लौटना।' "[२] और जब-जब भगवान् बुद्ध के सुत्तों को सुरक्षित करने का प्रश्न उठता है, कहीं भी बुद्ध-वचन को लिखने या पढ़ने का जिक्र नहीं आता : हमेशा सुनने और याद करने पर ही जोर दिया गया है।

इन तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि पांचवीं सदी ईसवी पूर्व तक भारतीय साहित्य को लिपिबद्ध करने का विचार सम्भवतः अभी नहीं उठा था। लेकिन किसी भी परिणाम पर पहुंचने में हमें जल्दबाजी नहीं करनी चाहिए, क्योंकि —भारत में बहुत पुराने समय से, और आज भी, गुरु-वाणी[३] का महत्त्व लिखित शब्द की अपेक्षा—साहित्य तथा विज्ञान के क्षेत्र में—कहीं[४] अधिक है—आज जब कि भारतीयों के पास लेखन के सभी साधन, उपकरण सदियों से मौजूद हैं, कितनी ही अमुद्रित पांडुलिपियां अभी ऐसी पड़ी हैं जिन्हें कि वे बड़े आदर और श्रद्धाभाव से देखते हैं; कितने ही पुराने ग्रन्थों के सस्ते संस्करण उपलब्ध हैं;...आज इन अवस्थाओं में भी, साहित्यिक तथा वैज्ञानिक, सम्पूर्ण व्यवहार भारत में उच्चरित शब्द पर ही आधारित है। प्राचीन ग्रन्थों का अध्ययन आज भी हजारों बरस पुरानी उसी मौखिक परम्परा के अनुसार ही होता है, हस्तलेखों को तो कोई छूता तक नहीं। इन हस्तलिखित प्रतियों की उपयोगिता केवल वैयक्तिक स्मृति को बस 'समर्थित' करने में ही होती है, किन्तु, —उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जाता ! और यदि भाग्य से आज सारे के सारे हस्तलेख और मुद्रित ग्रन्थ

नष्ट भी हो जाएं, तो उसका अर्थ यह न समझना चाहिए कि भारतीय साहित्य पृथ्वी से ही लुप्त हो गया, क्योंकि—वंशानुगत वाचक तथा अध्यापक इस साहित्य के अधिकांश को अपनी याददाश्त के जरिये फिर से वापिस ला सकते हैं। कवियों की रचनाएं भी भारत में (मूल में)—पाठकों के लिए नहीं—श्रोताओं के लिए लिखी गई थीं। भारत के आधुनिक कवियों की आकांक्षा भी यह नहीं होती कि लोग उनके काव्य को पढ़ें बल्कि यह होती है कि वह श्रोताओं का कण्ठाभरण बन सके।

इसलिये पुराने साहित्यिक ग्रन्थों में जब हम इन हस्तलिखित पुस्तकों का कोई उल्लेख नहीं पाते तो उसका अभिप्राय यह कदापि नहीं होता कि भारतीय वाङ्मय लिखित रूप में था ही नहीं। शायद लेखनकला तथा लिखित ग्रन्थों का अनुल्लेख इसी बात को सिद्ध करता है कि प्राचीन शिक्षा-प्रणाली में लिखित की अपेक्षा 'प्रोक्त' वचन का महत्त्व अधिक था। सो, यह असम्भव नहीं कि पुराने जमाने में भी शिक्षा में—सहायतार्थ—प्रामाणिक ग्रन्थों की लिखित प्रतियां साथ मौजूद रहती हों; ऐसा कुछ विद्वानों का विचार है भी। एक बात की ओर ध्यान दिलाना इस प्रसंग में, अलबत्ता, हम आवश्यक समझते हैं: वह यह कि—परतर पुराणों में, बौद्ध महायान ग्रन्थों में, तथा महाभारत के आधुनिक परिशिष्टों में, ग्रन्थों की प्रतिलिपियां सुरक्षित रखना एक धार्मिक कृत्य माना गया है जब कि ऐसा कोई संकेत हमें प्राचीन भारतीय साहित्य में नहीं मिलता: यहां तक कि प्राचीन वर्णोच्चारण शिक्षा, व्याकरण आदि विषयक ग्रन्थों में, और दूसरी सदी ईसवी पूर्व पंतजलि के महाभाष्य में भी, लेखन-कला के सम्बन्ध में कोई संकेत नहीं मिलता। इन ग्रन्थों में लिखित शब्दों का अथवा वर्णमाला का जैसे कोई मूल्य ही न हो! उनकी परिभाषाओं का अभिधेय भी मुखोच्चरित शब्द ही होता है।—ये तथ्य हैं जिनके आधार पर हमारी यह धारणा बनी है कि प्राचीन भारत में लिखित ग्रन्थों का अभाव था।

लेखनकला तो हो, किन्तु सदियों उसका साहित्यिक उपयोग न हो सके, इस अद्भुत परिस्थिति के भी अनेक कारण सम्भव हैं। पहला कारण तो यह कि शायद यहां लेखन सामग्री का अभाव था; किन्तु सामग्री उपलब्ध हो सकती थी यदि उसके लिए तीव्र आवश्यकता अनुभव होती, तब! न केवल ऐसी आवश्यकता अनुभव ही नहीं हुई, अपितु उसका अभाव स्वयं वेदों तथा अन्यान्य 'ब्राह्मण'-साहित्य के ठेकेदार ब्राह्मणों के हित में ही था: क्योंकि—ये धर्म-ग्रन्थ उन्हीं के गुरुकुलों में ही पढ़ाए जाते थे, और उनका लोक-सुलभ होना ब्राह्मणों को कभी इष्ट न था! (क्योंकि—प्राचीन साहित्य पर इस एकाधिकार से ही उनकी रोटी जो चलती थी।) जिसे भी वेद पढ़ने की इच्छा हो वह उनके पास चलकर जाए और उन्हें प्रभूत दक्षिणा दे; और जब ये ब्राह्मण-आचार्य समझते कि समाज में कुछ ऐसे

वर्ग भी हैं जिन्हें इस ज्ञाननिधि की अभिरक्षा ही इष्ट है तो ऐसे वर्गों को वैदिक ज्ञान से वंचित रखना भी तो उनके अपने अधिकार में ही था। ब्राह्मणीय स्मृति-ग्रन्थों में इस बात के हम स्पष्ट आदेश ही पाते हैं कि वेदों तथा तद्विध अन्य धर्मग्रन्थों को शूद्रों तथा चाण्डालों के स्पर्श से, अकारण, पतित न होने दिया जाय! —क्योंकि शूद्र उतना ही अस्पृश्य होता है जितना कि एक शव अथवा श्मशान घाट! शूद्रों के सम्मुख वेदपाठ का निषेध भी इन स्मृतियों में विहित है। गौतम धर्मशास्त्र (१२.४-६) में लिखा है: "यदि वेद के शब्द शूद्र के कानों में (किसी की गलती से) पड़ जाएं, तो उसके कानों को पिघले रांगे या लाख से भर दिया जाय; और यदि कोई शूद्र वेदोच्चारण करने की धृष्टता करे तो उसकी जबान के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायं; यदि वह कोई मन्त्रांश कण्ठस्थ कर ले तो उसकी बोटियां उड़ा दो।" सो, इन परिस्थितियों में यह कैसे सम्भव था कि वेदों का पठन-पाठन खुले-आम होता और अनधिकारी व्यक्ति उनकी पवित्रता को दूषित कर सकते? इसके अतिरिक्त वेदों के पठन-पाठन और अध्यापन की मुख-परम्परा बाबा आदम के जमाने से चली आ रही थी। उसे कैसे एकदम से बदल दिया जाय? लेखन-कला का, धार्मिक ग्रन्थों के लिए, भारत में प्रचलन जो नहीं हुआ उसका मुख्य कारण सम्भवतः यह है कि भारतीयों का इस कला से परिचय किसी ऐसे युग में हुआ जब मौखिक परम्परा द्वारा प्रचलित साहित्य उनके यहां प्रचुर मात्रा में संचित हो चुका था।

इस प्रकार यह निश्चित ही है कि भारतियों के सम्पूर्ण प्राचीन साहित्य का, ब्राह्मण तथा बौद्ध साहित्य का, उदय लिपिकला की सहायता के अभाव में ही हुआ; और उसका प्रचार भी सदियों, उसी प्रकार, मुखात्-मुखं ही होता रहा। इन धार्मिक ग्रन्थों से तथा लौकिक ग्रन्थों से परिचय प्राप्त करने का एक ही ढंग था—श्रुति। इसीलिए प्राचीन भारतीय साहित्य में हम बार-बार यह पढ़ते हैं कि कोई भी ब्राह्मण या क्षत्रिय जब विद्या-ग्रहण के लिए उत्सुक हो तो वह देश देशान्तर यात्रा करके, अनेकों दुःख और कष्ट सहन करके, और कुर्बानियां करके ही, कुछ हासिल कर सकता है! और शायद इसीलिए प्राचीन धर्म तथा साहित्य के रक्षक होने के नाते भारतीय धर्मशास्त्रों में आचार्यों का स्थान बहुत ऊंचा है—आचार्यदेवो भव! भारतीय, लोग गुरु की पूजा माता-पिता से भी अधिक करते हैं, वे उसे साक्षात् ब्रह्मा का अवतार समझते हैं और परम विनम्रता के साथ उसकी शुश्रूषा-परिचर्या करते हैं। ब्रह्मलोक ब्राह्मण के लिए सुरक्षित है, और ब्राह्मण वह होता है जिसने ब्रह्मविद्या प्राप्त कर ली है—जिसने गुरु के चरणों में बैठ कर दीक्षा ली है। इसीलिए हिन्दुओं में चूड़ाकर्म तथा वेदारम्भ का बहुत महत्त्व है; अन्यथा—नियम भंग करने वाले को, अ-दीक्षित को, जाति-बाह्य कर दिया जाता है! खैर; कोई ग्रन्थ तभी तक सुरक्षित रह सकता था जब तक उसके पढ़ने-पढ़ाने वाले थे। आज हम जिसे साहित्य

की विविध शाखाएं, धार्मिक तथा दार्शनिक विभाग, एक ही संहिता के अनेकों चरण अथवा परिषद् कहते हैं, वे—सचमुच प्राचीन भारत में वस्तुतः विभिन्न गुरु-शिष्य परम्पराएं ही थीं जिनमें विशेष-विशेष ग्रन्थ हीं पीढ़ी-दर-पीढ़ी ज्ञान-दान के रूप में संक्रमित चलते आते थे ! भारत के प्राचीन साहित्य का विकास हम समझ ही तभी सकते हैं जब हम भारतीय अध्ययन-अध्यापन के इस अनुक्रम को भी ध्यान में रखें; अन्यथा नहीं।

इस सम्बन्ध में यह भी ध्यान रहे कि धार्मिक ग्रन्थों को सुरक्षित करने का ढंग लौकिक साहित्य को सुरक्षित करने के ढंग से कुछ भिन्न था। धार्मिक ग्रन्थों के प्रति आस्था का पहला तकाजा होता है कि उन्हें बड़े ध्यानपूर्वक पढ़ा जाय और याद कर लिया जाय। उनको अक्षरशः-सस्वर उच्चारण के साथ दोहराना होता है और उसी-तरह—कहीं भी जरा-सी ग़लती न आने पाए—स्मृतिपट पर उतारना होता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि हस्तलिखित ग्रन्थों की प्रतियों के अनन्तर प्रतियां उतारने में इस मौखिक परम्परा का इतिहास में बड़ा सहयोग रहा है। सचमुच, और जैसा कि हम आगे देखेंगे भी, हमारे पास इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं कि **ऋग्वेद** के सूक्त आज के मुद्रित संस्करणों में अक्षरशः, स्वरशः-शब्दशः, उसी रूप में विद्यमान हैं जिस रूप में कि वे पांचवीं सदी ईसवी पूर्व थे ! किन्तु लौकिक साहित्य के सम्बन्ध में, **महाभारत** और **रामायण** के सम्बन्ध में विशेषतः, हम यही बात नहीं कह सकते। हर अध्यापक, हर पाठक, और हर श्रावक—जैसे अपना यह अधिकार ही समझता आया है कि "जहां चाहूं, मूल ग्रन्थ में काट-छांट और परिष्कार कर सकता हूं !" परिणाम यह है कि मूल महाकाव्य क्या था, उसका प्राचीनतम रूप क्या था : (आज तक) समीक्षक के लिए यह निश्चित कर सकना प्रायः असम्भव ही रहा है। कुछ हो, विशेषकर वेदों के मूल, प्राचीन, रूप के सम्बन्ध में (प्राचीन शिक्षा-ग्रन्थों तथा प्रातिशाख्यों की सहायता से, और कभी-कभी टीका-ग्रन्थों की सहायता से भी) (वेदों के) मूल रूप निश्चित करने में मौखिक परम्परा—जहां भी उपलब्ध हो सकी—प्रायः निश्चायक ही रही है। बात यह है कि हस्तलिखित प्रतियां बहुत कम ही सचमुच बहुत पुरानी होती है; और प्राचीन लेखन-सामग्री भी भारत में बहुधा तालपत्र तथा भूर्जपत्र ही तो हुआ करती थी; इसके अतिरिक्त, स्वयं भारतीयों की अपने प्राचीन ग्रन्थों के प्रति श्रद्धा उन्हें—यद्यपि आज कागज़ आम है, और छापेखाने भी हैं—उन प्राचीन धर्मग्रन्थों को तालपत्रों पर ही लिखने के लिए जैसे मजबूर करती है! दोनों ही पत्र जल्दी भुर जाने वाले होते हैं और–'नीम चढ़ा' —भारतीय जलवायु ही कुछ ऐसा है कि ये चीजें बहुत देर तक टिक नहीं सकतीं। इस प्रकार उपलब्ध हस्तलिखित ग्रन्थों में अधिकांश (जिन पर कि हमारे मुद्रित सस्करण निर्भर हैं) कुछ ही सदी पुराने हैं। बहुत कम पाण्डुलिपियां १४वीं सदी की

हैं; और इने-गिने हस्तलेख ही ११वीं या १२वीं सदी के होंगे। भारतीय ग्रन्थों के प्राचीनतम लिखित रूप नेपाल, जापान और पूरबी-तुर्किस्तान में—नेपाल में ७वीं सदी तक, तो जापान में भूर्जपत्रों पर लिखे छठी सदी के प्रथमार्ध तक, पुराने—मिलते हैं। १८८९ से काशगर में और उसके आस-पास हमें ५वीं सदी से पुराने हस्तलेख भी मिले; और १९०० में औरेल स्टाइन ने खोतन के पास तक्लमकां के रेगिस्तान में खुदाई करके ५०० छोटे-छोटे काष्ठफलक अर्जित किए—जिन पर चौथी सदी, या उससे भी कुछ पूर्व, कुछ लिपिबद्ध किया गया था! इनके अतिरिक्त, तुर्फान में एक जर्मन अन्वेषक दल की सहायता से और स्वयं औरेल स्टाइन की नई खोजों से पहली और दूसरी शताब्दी ईसवी के लेखों के कतिपय अंश भी हमें मिल चुके हैं।[1]

बौद्ध ग्रन्थों में लकड़ी को लेखपत्र के तौर पर इस्तेमाल करने का उल्लेख मिलता है। पहली सदी ईसवी पश्चात् के भूर्जपत्र भी उपलब्ध हो चुके हैं, किन्तु—रूई, चमड़ा और धातु या पत्थर का लेखन-सामग्री के रूप में प्रयोग भारत में बहुत कम होता था। बौद्ध ग्रन्थों में, सरकारी कागजात ही नहीं, श्लोक और उपदेश भी, स्वर्ण-पत्रों पर लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं (और एक स्वर्ण-पत्र तो ऐसा अब भी सुरक्षित है जिस पर कुछ स्तोत्र-सा अभिलिखित है)। चांदी के पत्रों पर शासन, सन्धि आदि अथवा अन्य लघु लेख तो प्रायः यहां मिलते ही रहे हैं; ताम्रशासन, अलबत्ता, जिन पर कि प्रायः भूमिदान वगैरह का जिक्र होता है, प्रभूत मात्रा में अब भी सुरक्षित हैं। चीनी यात्री च्वान च्वाङ के यात्रा-वर्णनों में कनिष्क द्वारा बौद्ध धर्मलेखों को ताम्रपत्रों पर खोदने का उल्लेख मिलता है। हम नहीं कह सकते कि च्वान च्वाङ का यह वर्णन सत्य पर आधारित है या नहीं, किन्तु इस पर शक करने की कोई गुंजाइश भी प्रतीत नहीं होती, क्योंकि—कुछ साहित्यिक कृतियां भी इन ताम्रपत्रों पर अंकित हमें अब मिल चुकी हैं। अन्यथा—इस बात पर सहसा विश्वास करना कि भारत में साहित्यिक कृतियों को शिलाओं पर भी अमिट करने का रिवाज था शायद मुश्किल ही होता (यदि—कुछ वर्ष पूर्व अजमेर में पत्थरों पर खुदे एक भारत सम्राट् के, सम्भवतः उसके राजकवि के, कुछेक पूरे-के-पूरे नाटक हमें उपलब्ध न हो चुके होते)।

किन्तु—भारतीय हस्तलेखों का बहुत बड़ा भाग कागज पर ही लिखा मिलता है, और यह कागज हिन्दुस्तान में पहले-पहल मुसलमान लोग ही लाए थे। पुराने से पुराना कागज, जिस पर कुछ लिखा गया, १२२३-२४ ई० में ही शुरू-शुरू में यहां पहुंचा था।

फिर भी, भारतीयों की मौखिक अध्ययन-अध्यापन की प्रवृत्ति के बावजूद, भारत में हस्तलेखों के संचयन तथा पुस्तकालयों में रक्षण का काम भी कितनी ही सदियां पहले से शुरू हो चुका था। ये सरस्वती-भाण्डागार प्रायः मन्दिरों तथा

विहारों में हुआ करते थे, और स्थिति आज भी कोई बहुत बदल नहीं गई; कभी-कभी राजगृहों में भी तथा सम्पन्न वैयक्तिक घरानों में भी, ये पुस्तकालय हुआ करते थे। कहते हैं महाकवि बाण (६२० ई० पू०) ने अपना एक निजी 'स्वाध्याय-सहायक' रखा हुआ था : जिसका अर्थ सिर्फ यही हो सकता है कि बाण का अपना पुस्तकालय काफी बड़ा था। ११वीं सदी में धार के राजा भोज के प्रसिद्ध पुस्तकालय का जिक्र तो हम पढ़ते ही हैं। किस प्रकार सदियों के साथ इन पुस्तकालयों का निरन्तर विस्तार होता गया : इसका मूर्त प्रमाण प्रसिद्ध विद्वान् जार्ज ब्यूलर की काम्बे में दो जैन पुस्तकालयों तथा दक्षिण भारत में तंजोर के राजकीय पुस्तकालय की प्रत्यक्ष-साक्षी है; इनमें क्रमशः तीस हजार और बीस हजार ग्रन्थ एक स्थान पर ब्यूलर ने देखे ! इन भारतीय पुस्तकालयों की सुव्यवस्थित छान-बीन १८६८ से, प्राचीन हस्तग्रन्थों की खोज के प्रसंग में, शुरू हुई। यद्यपि कोलब्रुक तथा अन्य पाश्चात्य शोधक-गवेषक भारतीय पाण्डुलिपियों के विपुल-सग्रह उस तिथि से भी पूर्व यूरोप में पहुंचा चुके थे, तथापि—१८६८ में ही यह काम उचित दिशा में तब शुरू हुआ जब कि केल्टिक के प्रसिद्ध विद्वान् व्हिट्ली स्टोक्स (जो उन दिनों शिमला में इन्डियन कौंसिल के सेक्रेटरी थे) ने भारत में उपलब्ध सभी संस्कृत पाण्डुलिपियों की एक क्रमिक सूचि बनानी शुरू कर दी—जिसके पश्चात् भारत की सरकार सालों से अपने बजट में "संस्कृत पाण्डुलिपियों की खोज" पर चौबीस हजार रुपया सालाना खर्च करती आ रही है। और यदि हमें इन उपलब्ध पांडु-लिपियों की इतनी बड़ी राशि का कुछ परिचय निश्चित रूप में आज प्राप्त है तो वह भारतीय सरकार की उदारता तथा अंग्रेज, जर्मन, और भारतीय विद्वानों के अथक श्रम की बदौलत ही।

१ *Indische Palaeographie* (Grundriss, I, 2); *On the Origin of the Indian Brāhma Alphabet*, Strassburg, 1898.
२ H. Oldenberg : *Aus Indian und Iran*, Berlin, 1889, 22 f.
३ Lüders : *Ueber die literarischen von Ostlurkestan*, SBA, 1914, 90 ff.

भारतीय भाषाओं और भारतीय साहित्य का परस्पर सम्बन्ध[१]

यह विपुल साहित्य, जो विश्व को विरासत के रूप में मिलता है, यद्यपि अधिकांश संस्कृत में ही ग्रथित है, तथापि भारतीय-साहित्य और संस्कृत-साहित्य (ये दोनों शब्द) पर्यायवाची न समझ लिये जायं। शब्द के व्यापक अर्थो में—काल

तथा क्षेत्र की व्यापकता की दृष्टि से—भारतीय साहित्य का इतिहास कितनी ही भाषाओं में, कितनी ही संस्कृतेतर पद्धतियों में, बिखरा पड़ा है। इण्डो-यूरोपियन परिवार की ये भाषाएं विकास के तीन सोपानों में से (काल की दृष्टि से) कुछ अनुक्रम में तो कुछ समानान्तर—गुजरीं; जिन्हें हम, तदनुसार, निम्न तीन भागों में बांट सकते हैं :

१. 'प्राचीन' भारतीय भाषा(एं);
२. 'मध्य कालीन' भारतीय भाषाएं तथा विभाषाएं;
३. 'आधुनिक' भारतीय भाषाएं तथा विभाषाएं।

१. प्राचीन भारतीय भाषा

भारत के प्राचीनतम साहित्य—अर्थात् वैदिक सूक्तों, मन्त्रों एवं तन्त्रों—की भाषा को हम प्राचीन भारतीय भाषा कहते हैं। किन्तु यह नामकरण उसका 'भारती' को बहुत संकुचित कर देता है। कभी-कभी हम उसे वैदिक भी कह लेते हैं (वैदिक संस्कृत कहना तो सर्वथा अनुपयुक्त है)। यद्यपि इस भारती का आधार कोई बोलचाल की भाषा थी, किन्तु (जिस भारती को उसके प्राचीनतम रूप में पीढ़ी-दर-पीढ़ी पुराने ब्राह्मणों ने सुरक्षित रखा और जान-बूझ कर साधारण जनता से पृथक् रखा) वह सचमुच कोई बोलचाल की भाषा न थी। भारती बोल-चाल की भाषा तब थी जब कि आर्य लोग उत्तर-पश्चिम के रास्ते भारत में आए; यह भारती प्राचीन पर्शियन अथवा अवस्ता की भाषा से इतनी मिलती है कि दोनों को हम प्राचीन ईरानियन कह सकते हैं। प्राचीन भारती तथा प्राचीन ईरानियन में, अर्थात् वेद और आस्ता की भाषा में, फर्क बहुत कम है; स्वयं संस्कृत और पालि में भी इतना निकट सम्बन्ध नहीं। संस्कृत तथा वैदिक में केवल कुछ वर्णमाला-गत उच्चारण का भेद ही नहीं है अपितु भाषा की प्राचीनता तथा प्राचीन व्याकरण-सम्मत रूपों तक का बहुत ही अधिक भेद है। उदाहरण-तया—वैदिक में उपलब्ध 'लेट्' लकार संस्कृत में प्रयुक्त नहीं होता; वैदिक के बारह (विविध) तुमुन्नर्थीयों में संस्कृत में केवल एक ही बच सका है; इसी प्रकार वैदिक 'लुङ' के भेदोपभेद संस्कृत में क्रमशः लुप्त ही होते गए। नामिक तथा आख्यातिक विभक्तियां भी संस्कृत की अपेक्षा प्राचीन भारती में, संख्या तथा परिपूर्णता की दृष्टि से, बहुत अधिक हैं।

इस भारती का अर्वाचीन रूप ऋग्वेद के दसवें मण्डल में, अथर्ववेद के कुछ भागों में और यजुर्वेद-संहिता में, स्पष्ट प्रयोग में आना शुरू हो चुका है, जबकि ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों के गद्य में प्राचीन भारती के कुछ ही अवशेष उपलब्ध होते हैं; इनकी भाषा आपूर्ण प्रायः संस्कृत ही है, और वेदांगों की भाषा तो एकाध वैदिक अपवाद को छोड़ कर (सूत्रों की) विशुद्ध संस्कृत शैली में ही है—वैदिक सूक्तों से उद्धृत मन्त्र, छन्द, यजुष् ही इन वैदिक गद्य ग्रन्थों में तथा सूक्तों में प्राचीन (अथवा वैदिक) कहे जा सकते हैं।

प्राचीन भारतीय गद्य की संस्कृत में—अर्थात् ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और सूक्तों की भाषा में—और पाणिनीय (५वीं सदी ई० पू०) की अष्टाध्यायी में उपदिष्ट संस्कृत में बहुत कम अन्तर है। ज्यादह-से-ज्यादह हम उसे "प्राचीन संस्कृत" ही कह सकते हैं। यह भाषा पाणिनि के समय, और सम्भवतः पाणिनि से कुछ पूर्व, ब्राह्मणों तथा विदग्धों-शिष्टों की बोलचाल की भाषा थी। इसी संस्कृत के बारे में दूसरी सदी ईसवी पूर्व में पतञ्जलि का कहना है कि संस्कृत को सही-सही सीखने के लिए साहित्य में अधिकृत शिष्ट-ब्राह्मणों के सम्पर्क के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता नहीं है। किन्तु संस्कृत बोलने वाले इन शिष्टों का क्षेत्र बहुत व्यापक था, क्योंकि—स्वयं पतञ्जलि के ही एक किस्से में हम एक वैयाकरण और एक रथी के बीच में शब्द-व्युत्पत्ति पर एक अच्छा खासा वाद-विवाद सुनते हैं। वस्तुस्थिति का सच्चा परिज्ञान शायद हमें भारतीय नाटकों से ही कुछ होता है, जहां—राजाओं, ब्राह्मणों तथा शिष्ट-जनों के लिए संस्कृत बोलने का और साधारण लोगों और औरतों के लिए (भिक्खुनियों और वेश्या आदि कुछ शिक्षित वर्ग के अपवाद के साथ) प्राकृत बोलने का विधान है; यही नहीं, कई बार तो बे-पढ़े लिखे ब्राह्मण भी इन बोलचाल की प्राकृतों का ही प्रयोग करते हैं: नाटकों में प्रस्तुत यह स्थिति ईसा की पहली दो-एक सदियों से भी पुराने समय की होनी चाहिए जबकि नाटक-साहित्य का प्रणयन आरम्भ हो चुका था। संस्कृत यद्यपि साधारण बोलचाल की भाषा नहीं थी तथापि इसके बोलने वाले शिष्ट वर्गों का क्षेत्र पर्याप्त व्याप्तिमान् था और उसे समझ सकने वालों का तो उससे भी कहीं अधिक। क्योंकि जिस प्रकार नाटकों में संस्कृत और प्राकृत बोलने वाले समाज के विभिन्न वर्ग संवादों में अपना काम-धाम चला सकते हैं, सो जीवन में भी संस्कृत न बोल सकने वाले व्यक्ति संस्कृत-भाषियों के अभिप्राय को न समझते हों—यह असम्भव है।[२] इसके अतिरिक्त, भारत के कथावाचकों को भी जो रामायण तथा महाभारत के लोकप्रिय अंशों को राजाओं तथा धनियों के दरबारों में सुनाया करते थे—आम लोग समझ सकते होंगे। महाभारत और रामायण की भाषा संस्कृत ही है, यद्यपि पश्चिम में उसे वीरगाथाओं की संस्कृत कहने की प्रथा है: इन वीरकाव्यों

की भाषा में तथा पाणिनीय संस्कृत में भेद प्रायः नगण्य ही है, और यदि कुछ है भी तो वह इतना ही कि उसमें प्राचीन भारती के अवशेष कहीं-कहीं बच रहे हैं और प्रायः शास्त्रीय नियमों की अवहेलना करके वह साधारण भाषा के निकट आ जाती है—सो, इसे संस्कृत का ही एक लोकसम्मत रूप कहना अधिक उचित होगा। दो लोकप्रिय महाकाव्यों को संस्कृत में कभी भी निबद्ध न किया जाता यदि साधारण लोग उन दिनों इसे समझने में कुछ-भी कठिनाई अनुभव करते[१]; जैसे कि आज के जर्मनी में 'शिष्ट जर्मन' का प्रयोग ही सर्वसाधारण के लिए किया जाता है (सर्वसाधारण उसे समझ सकते हैं) यद्यपि बोलचाल की विभिन्न उप-भाषाओं से वह पर्याप्त भिन्न होती है।

संस्कृत को हम सर्वसाधारण में प्रचलित भाषाओं की तुलना में शिष्ट-भाषा अथवा साहित्यिक-भाषा भले ही कह लें, स्वयं भारतीय उसे संस्कृत ही कहते हैं: संस्कृत—अर्थात् सुघड़, नियमबद्ध, पूर्ण, शुद्ध, अभिपूजित। शब्द की इस व्युत्पत्ति का अर्थ केवल इतना ही होता है कि लोगों की (मूल) स्वाभाविक साधारण भाषा को कुछ परिष्कार दे दिया गया है, बस।

फिर भी—संस्कृत को एक मृतभाषा अथवा शृंखलाओं में जकड़ी भाषा कहना, किसी भी अवस्था में, उपयुक्त न होगा। शृंखलित का अर्थ, जो साधारणतः समझा जाता है, यह होता है कि एक ख़ास अवस्था में पहुंच कर वैयाकरणों के नियमों ने संस्कृत के विकास में एक गतिरोध उत्पन्न कर दिया है, यद्यपि—यह सच है कि ५वीं सदी ई०पू० में लिखी पाणिनीय अष्टाध्यायी की कृपा से संस्कृत के लिए एक निश्चित मानदण्ड बन गया जो सदियों लेखकों के लिए एकमात्र कसौटी बना रहा। और यह भी सच है कि स्वयं भारत में पाणिनीय नियमों के अनुसार लिखी संस्कृत ही सदा संस्कृत समझी जाती थी। किन्तु इस सब के साथ यह भी सच है कि पाणिनीय व्याकरण की इन शृंखलाओं के बावजूद संस्कृत में अपनी कुछ सजीवता थी जिसके कारण ही कम-से-कम एक सहस्र वर्ष इसी संस्कृत के माध्यम से काव्य-एवं-शास्त्र की परम्परा में विशाल साहित्य फला और फूला। संस्कृत आज भी मृत नहीं है। भारत में पर्याप्त मासिक और पाक्षिक संस्कृत में निकलते हैं जिनमें दैनिक विषयों तथा घटनाओं का संस्कृत में ही वर्णन होता है। आज भी महाभारत का पठन-श्रवण खुली सभाओं में होता है (तो उसे भी साधारण जनता कुछ न कुछ समझती ही है)। [लेखक ने अपनी आंखों से मुद्राराक्षस तथा उत्तररामचरित के ('अलंकृत' संस्कृत में) कुछ दृश्यों का प्रयोग शान्तिनिकेतन के एक प्राकृतिक मंच पर १९२६ में अपनी आखों से देखा था और बड़ी प्रसन्नता और आश्चर्य के साथ देखा था कि किस प्रकार साधारण विद्यार्थी (जिनमें लड़कियां भी शामिल थीं) उसे बख़ूबी समझ रहे थे!] आज तक संस्कृत में काव्य तथा अन्य रचनाएं लिखने की प्रथा

अक्षुण्ण है और भारतीय विद्वान् वैज्ञानिक प्रश्नों पर संस्कृत में परस्पर संवाद-विवाद आज भी कर सकते हैं। भारत में संस्कृत की स्थिति प्रायः वही है जो मध्ययुगीन शतियों में यूरोप में लैटिन की थी या हिब्रू की यहूदियों में आज भी है।*

संक्षेप में प्राचीन भारती की स्थिति भारतीय साहित्य की व्यापक योजना में इस प्रकार रखी जा सकती है :—

१. **भारती** :
 (क) प्राचीनतम सूक्तों तथा मन्त्रों की, विशेषतः ऋग्वेद की, भाषा;
 (ख) उत्तर वैदिक सूक्तों तथा मन्त्रों की, शेष तीनों वेदों की, भाषा (जिसका कुछ स्वरूप ब्राह्मण-ग्रन्थों तथा सूत्रों में भी अवशिष्ट मिलता है)।

२. **संस्कृत** :
 (क) प्राचीन संस्कृत, (जो कि वैदिक गद्य-ग्रन्थों की तथा स्वयं पाणिनि की भाषा थी);
 (ख) रामायण, महाभारत की तथा लोकप्रिय वीरगाथाओं की भाषा;
 (ग) लौकिक संस्कृत (जो, पाणिनि के अनन्तर, सम्पूर्ण लौकिक वाङ्मय (की गतिविधि की) एकमात्र भाषा बन गई!)।

२. मध्ययुगीन भाषाएं तथा विभाषाएं

संस्कृत के विकास के प्रायः साथ ही साथ और समानान्तर बोलचाल की आर्य भाषाओं का, अधिक स्वाभाविक, विकास भी चल रहा था। जिन्हें हम मध्ययुगीन भारतीय भाषाएं कह कर पृथक् करते हैं वे सीधे संस्कृत की उपज नहीं हैं, अपितु प्राचीन भारती तथा संस्कृत की **मूल**-भूत प्राचीन लोकभाषाओं से प्रसूत हैं (प्रसूत नहीं, तो कम-से-कम अनुबद्ध तो हैं ही)। इतने बड़े देश में, आर्यों के पश्चिम से पूर्व एवं दक्षिण की ओर प्रसार में इन विभिन्न बोलियों का उदय कुछ आश्चर्य की बात नहीं है। बोलचाल के इस वैविध्य की कुछ झलक हम प्राचीनतम भारतीय अभिलेखों से भी पा सकते हैं, क्योंकि—इन अभिलेखों की भाषा संस्कृत न हो कर मध्ययुगीन भारती है। ये बोलचाल की भाषाएं, कितनी ही, आगे चल कर साहित्यिक माध्यम के रूप में भी प्रयुक्त होने लगीं। इन्हीं साहित्यिक बोलियों का भी कुछ उल्लेख यहां इष्ट है :—

१. मध्ययुगीन भारत की साहित्यिक भाषाओं में सबसे अधिक महत्त्व **पालि** का है जो सिंहल, बर्मा तथा स्याम के बौद्धों की 'धार्मिक' भाषा थी—आर

जिसमें बौद्धों के **धंमसुत्त** संकलित हैं। स्वयं बौद्धधर्मी हमें बतलाते हैं कि बुद्ध ने —ब्राह्मणों की भांति शिष्ट संस्कृत में नहीं, अपितु—लोगों की अपनी भाषा में ही 'धंमपबत्तन' किया था। और क्योंकि बुद्ध का यह धर्मचक्र-प्रवर्त्तन मगध (दक्षिणी बिहार) से शुरू हुआ, इसलिए बौद्धों का यह भी कहना है कि पालि और मागधी एक ही भाषा के दो भिन्न नाम हैं। लेकिन यह सच नहीं है, क्योंकि—मागधी प्राकृत का जो रूप हमें अन्यथा मिलता है वह पालि से मेल नहीं खाता। शायद पालि कोई 'व्यामिश्र' भाषा थी जो कि मागधी का भी मूल थी। पालि का शब्दार्थ है— पंक्ति, क्रम, नियमबन्धन; और, इसी प्रकार—लिपिबद्ध धर्म-ग्रन्थ और, उसी युक्ति से पुनः, धर्म-ग्रन्थों की भाषा। बौद्ध धर्मग्रन्थों की यह भाषा प्राचीन सिंहली के मुकाबले में ही पालि कही जा सकती है, क्योंकि—प्राचीन सिंहली में ही बौद्ध धर्म-ग्रन्थों पर टीका-साहित्य लिखा गया था।

२. पालि-साहित्य के अतिरिक्त बौद्धों का साहित्य संस्कृत में भी मिलता है। परन्तु इन बौद्ध ग्रन्थों में गद्य-भाग तो संस्कृत में होता है जब कि पद्य-भाग भारत की किसी मध्ययुगीन प्राकृत में होता है (जिसे, इसीलिए, **गाथा** भी कहते हैं)। अलबत्ता, बौद्ध पद्यों की इस भाषा को गाथा कहना उपयुक्त नहीं हैं, क्योंकि— इसका प्रयोग कभी-कभी गद्यांशों के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण गद्य-पुस्तकों के लिए भी किया जाता रहा है। असल में यह कोई प्राचीन प्राकृत अथवा विभाषा थी जिसमें संस्कृत की विभक्तियां तथा अन्य विशेषताएं जुड़ जाने से कुछ बेढबपना आ गया, और सेनार ने इसके लिए 'मिश्र संस्कृत' का नाम देना सुझाया भी है।

३. बौद्धों की भांति जैनों ने भी संस्कृत को तिलांजलि दे कर दो मध्य-युगीन भारतीय भाषाओं का ही अपने आम्नाय-ग्रन्थों में प्रयोग किया है:

(क) **जैन प्राकृत** (जिसे अर्धमागधी अपि वा आर्ष भी कहा जाता है) अर्थात् प्राचीन जैन-साहित्य की भाषा;

(ख) **जैन महाराष्ट्री**—जिसमें प्राचीन जैन वाङमय पर टीकाएं लिखी गईं तथा जैनों से सम्बद्ध अन्य लौकिक साहित्य लिखा गया (यह बहुत कुछ साहित्यिक माध्यम के रूप में प्रयुक्त 'जैन' प्राकृत से मिलती भी है)।

४. **महाराष्ट्री**—अर्थात् महराष्ट्र देश की प्राकृत :

—यह सर्व-सम्मति से श्रेष्ठ प्राकृत मानी जाती है। अक्सर तो प्राकृत कहने से ही अभिप्राय महाराष्ट्री प्राकृत से होता है। इसका उपयोग गीतिकाव्यों— विशेषतः नाटकों में गीति-खण्डों —के लिए हुआ करता था। कुछ और महत्त्वपूर्ण प्राकृतें भी नाटकों में प्रयुक्त हुआ करती थीं :—

५. **शौरसेनी**—जिसे नाटक के गद्य अंशों में, मुख्यतया, कुलीन स्त्रियां बोला करती थीं। यह मूलतः (मथुरा के आसपास) शूरसेन देश की भाषा थी।

६. नाटकों में निम्न वर्ग के लिए मगध की भाषा **मागधी** का विधान है।

७. और समाज के निम्नतम वर्ग के लिए **पैशाची** में बातचीत करने का नियम है। सम्भवतः यह किसी पिशाच (नामक) वर्ग की अपनी भाषा थी। यद्यपि भारतीय कोशों में तथा लोकगाथाओं में पिशाचों की गणना राक्षसों तथा भूतों में होती है, प्राचीन लोककथाओं का प्रसिद्ध महाग्रन्थ, गुणाढ्य-कृत **बृहत्कथा**, मूलतः पैशाची भाषा में ही लिखा गया था।

८. अन्त में **अपभ्रंश**-वर्ग आता है जिसका प्रयोग साहित्यिक दृष्टि से जैनियों ने अपने किस्से-कहानियों में, और कभी-कभी नाटकों में भी, किया। ऐतिहासिक विकास की दृष्टि से अपभ्रंश—प्राकृतों तथा आधुनिक भारतीय बोलियों के बीच की कड़ी है; और माना भी यही जाता है कि भारतीय साहित्य के कुछ प्राकृत मुहावरे बोलचाल की भाषाओं में जिस रूप में पहुंचे वही 'अपभ्रंश' है।

३. आधुनिक भारतीय भाषाएं तथा विभाषाएं[६]

११वीं शताब्दी ईसवी तक पहुंचते-पहुंचते भारत की आधुनिक भाषाएं मध्ययुग से निकल कर अपने विशिष्ट रूपों में निश्चित होने लगती हैं और १२वीं सदी के पश्चात् तो उनका साहित्य भी विकसित होना शुरू हो चुका है (यद्यपि इस साहित्य की प्रथम अवस्था कुछ-कुछ संस्कृत साहित्य पर भी अवलम्बित थी)। इन भाषाओं में मुख्य स्थान **हिन्दी** का है जो प्राचीन मध्यदेश (अर्थात् हिमालय और गंगा-यमुना के बीच की सारी तलहटी) की मूल भाषा थी और वह फैलते-फैलते दक्षिण में नर्मदा की तलहटी तक और, देहली लांघ कर, पश्चिम में राजस्थान, और पूरब में कानपुर तक जा पहुंचती है। हिन्दी की विभाषाओं में—कन्नौजी और बुन्देली ने, और खास-कर मथुरा जिले की व्रज भाखा ने—पर्याप्त प्रशस्त साहित्य भारत को दिया है। हिन्दुस्तानी अथवा उर्दू—पर्शियन, अरबी अंशों से आकुल हो कर भी—हिन्दी का ही एक रूपान्तर है, और कुछ नहीं—जो १२वीं सदी में देहली के आसपास (तब देहली मुसलमानी हकूमत का केन्द्र था) सिपाहियों के खेमों में पैदा हुई और कैम्प में पैदा होने के कारण ही उसे 'कैम्प की जुबान' (अर्थात् उर्दू) नाम भी दिया गया। १६वीं सदी में यह एक साहित्यिक भाषा बन गई और आज यह उत्तरी-भारत की एक तरह से सर्व-साधारण भाषा है। शुद्ध हिन्दी का अर्थ होता है गंगा-यमुना की मूलभाषा का 'पुनरुद्धार' जिस पर कि

अभी फारसी का असर नहीं पड़ा। इसके अतिरिक्त आसपास के क्षेत्रों की—उत्तर-पश्चिम में **पंजाबी**, पश्चिम में **राजस्थानी** और **गुजराती**, और पूरब में **पहाड़ी** (जिसके अपने ही पूर्वीय, मध्यदेशीय और पश्चिमीय तीन उपरूप हैं)—बोलियां भी मध्यदेश की हिन्दी से ही सम्बद्ध हैं। राजस्थानी और गुजराती का परस्पर बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है, यहां तक कि—राजस्थानी की एक उपभाषा **मारवाड़ी** को तो गुजराती से पृथक् करना बड़ा मुश्किल प्रतीत होता है। तुलसीदास की भाषा, **पूरबी हिन्दी**, उत्तरापथ की 'बहिरंग कटि' (में सम्मिलित पश्चिमी पंजाब की **लहंदा**, उत्तर-पश्चिम की **सिन्धी**, दक्षिण की **मराठी**, तथा पूरब की **बिहारी**, **उड़िया**, **बंगाली** तथा **आसमी**) की विशेषताओं से बहुत ही मेल खाती है। **मैथिली** बिहारी की ही एक उपभाषा है। १९वीं शती के प्रारम्भ से साहित्यिक बंगला में संस्कृतांश इतना अधिक बढ़ चुका है कि वह अब बोलचाल की बंगला से जैसे सर्वथा पृथक् ही हो चुकी है। यही बात बनारस की शिष्ट हिन्दी में भी पाई जाती है (यद्यपि आज बंगला और हिन्दी के अच्छे लेखक अपनी भाषा को संस्कृत के प्रभाव से मुक्त ही रखने की कोशिश कर रहे हैं)।

पिशाचों की भाषाएं, जो आज **दर्द भाषा वर्ग** के नाम से ज्ञात है, काश्मीरी साहित्य की वाहिनियां हैं। यह भाषा-वर्ग भारत की अन्यान्य भाषाओं से सर्वथा पृथक् है।

और अन्त में सिंहल द्वीप की भाषा **सिंहली** का उल्लेख भी आवश्यक है जो कभी मध्ययुगीन भारत की एक इण्डो-जर्मानिक बोली से निकली थी। बौद्ध-धर्म तथा बौद्ध-साहित्य जब सीलोन में पहुंचा तभी से सिंहली की साहित्यिक गति-विधि का सूत्रपात हो जाता है (यद्यपि प्रारम्भ में सिंहली का प्रयोग बौद्ध धर्म-ग्रन्थों की व्याख्या के लिए ही होता रहा; अगली सदियों में इस व्याख्या-साहित्य के अतिरिक्त संस्कृत काव्यों के अध्ययन से लौकिक वाङमय का प्रचलन भी होने लगा)।

यहां तक जितनी भी भारतीय भाषाओं का जिक्र हमने किया है वे विश्व के केवल इण्डो-जर्मानिक परिवार से ही सम्बद्ध हैं। मध्यप्रान्त की महादेव पहाड़ियों में और छोटा नागपुर के सन्थाल परगनों में विकीर्ण **मुण्डा**-भाषाएं; और भारत के उत्तर तथा उत्तर-पूर्वी छोर पर अवस्थित **तिब्बती-बर्मी** भाषाएं; और इन सबसे बढ़ कर दक्षिण-भारत की **द्राविड़** भाषाएं—किन्हीं और ही परिवारों की भाषाएं हैं। इनमें द्राविड़-भाषाओं का क्षेत्र किसी पुराने समय में उत्तर तक भी व्याप्त रहा होगा क्योंकि इण्डो-आर्यन भाषाओं में पर्याप्त द्राविड़ प्रभाव मिलता है। मुख्य द्राविड़ी भाषाएं चार हैं—**मलयालम**, **कन्नड़**, **तेलुगु** और **तमिल**। यद्यपि उत्पत्ति की दृष्टि से इन चारों भाषाओं का इण्डो-जर्मानिक वंश से कुछ सम्बन्ध नहीं, तब भी संस्कृत की कितनी ही विशिष्टताएं इनमें घर कर चुकी

हैं—इनका भी अपना स्वतन्त्र—और कुछ कम-महत्त्वपूर्ण नहीं—साहित्य है जो बड़े अंशों में संस्कृत साहित्य से अनुप्रेरित तथा प्रभावित भी है ।

किन्तु प्रस्तुत निबन्ध में हमारा विषय संस्कृत, पालि तथा प्राकृत साहित्य का ऐतिहासिक विकास ही होगा; वर्तमान भारतीय साहित्य पर ज्यादह-से-ज्यादह एक परिशिष्ट ही शायद जोड़ सकें ।

१ R. C. Bhandarkar, JBROS 16, 245 ff ; G. Grierson : BSOS I, 3, 1920, 51 ff.

२ भाषा-भेद परस्पर-बोध में अवरोध नहीं डाल सकता—यह तथ्य संस्कृत-नाटकों तक ही सीमित नहीं, अपितु बंगला के १३-भाषा बोलने वाले एक परिवार के सदस्यों में भी ग्रियर्सन ने स्वयं प्रत्यक्ष किया था : (*Indian Antiquary* 30, 1901, 556.

३ क्या **महाभारत** और **रामायण** की मूल रचना किसी 'विलुप्त' प्राकृत में हुई थी ? Cf. H. Jacobi : ZDMG, 48, 407 ff.

४ संस्कृत प्रकृति थी अथवा विकृति ? क्या वह कभी बोलचाल की भाषा रही भी ? फिर—टीकाकारों की आवश्यकता ही क्या थी ? क्या संस्कृत में चिन्तना की नयी परिस्थितियों को वाग्बद्ध करने का सामर्थ्य है ? शिष्ट-अशिष्ट की मूल विभाजक रेखा क्या है ? Bühler (*Ep. Ind.* I, 5), Windisch (*Ueber der Sprachlichen Charakter des Pali* (OC, XIV, Paris, 1906, 14 ff.), Thomas (JRAS, 33, 1913, 145 ff.) W. Peterson (JAOS, 32, 1912, 414 ff.), 1. Michelson (JAOS, 33, 1913, 145 ff.), Paul Deussen (*Eriunerangan in Indien*, Kiel, 1 04, 2 ff.), S. Krishnavarmā (OC, V, Berlin, 1881, II b, 222), R. G. Bhandarkar (JBROS, 16, 1885, 268 ff., 327 ff.), Windisch (OC, XIV, Paris, 1897, I, 257, 266), Herlet (*Tantrākhyāiyikā*, I. 8 ff; HOS, XII, 80 ff.) —का विचार-विनिमय आजतक संस्कृत को राष्ट्रभाषा नहीं बना सका ।

५ वही अनिश्चयात्मकता पालि (तथा प्राकृतों, अपभ्रंशों के उद्भव के विषय में अब तक बनी आती है : Windisch (*Ueber der Sprachhi-chen,* OC XIV, Paris, 1906) Grierson (*Bhandarkar Com. Vol.*, 117 ff.), Sten Konow (ZDMG, 64, 1910, 114 ff.), *Pischel*(*Grammatik der Prakrit-Sprachen*), Jacobi (A Bay A XXIX, 4, 1918, 53 ff. 81A; *Festschrift für Wackernagel*, 124 ff).

६ Grierson : BSOS I, 1, 1918, 47 ff ; Rapson : *Cambridge History* I, 37 ff.

२

वेद-वेदाङ्ग

वेद अथवा वैदिक वाङ्मय

भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम संग्रह के रूप में, तथा इण्डो-यूरोपियन साहित्य के पुराणतम अवशेष के रूप में, वेद का विश्व-साहित्य (के इतिहास) में प्रमुख स्थान है। यह प्रमुखता उसकी इस कारण से भी स्थिर है कि पिछले तीन हजार वर्ष से हिन्दू लोग वेद को ईश्वरीय वाणी समझते आए हैं और वेद ही उनके सम्पूर्ण चिन्तन, मनन तथा निदिध्यासन का (सदा से) मूलाधार रहा है। इस प्राचीनता की युक्ति से––क्योंकि वैदिक वाङ्मय सम्पूर्ण भारतीय वाङ्मय का मूर्धन्य है—बिना वैदिक वाङ्मय का कुछ अन्तःस्पर्श प्राप्त किए भारतीयों की संस्कृति को, तथा आध्यात्मिक प्रवृत्तियों को, समझ सकना असम्भव है। यही नहीं, जैन और बौद्ध धर्मों का हृदयंगम भी—क्योंकि उनका जन्म भी तो यहां भारत में ही हुआ है—बिना वेदों के कुछ परिज्ञान के, उतना ही असम्भव है। बौद्ध वाणी का वेद से वही सम्बन्ध है जो पश्चिम में नई बाइबल का पुरानी बाइबल से है। सच तो यह है कि नए धर्मों और विश्वासों के अभ्युदय का अर्थ पुराने धर्मों और विश्वासों के साथ बिना किसी प्रकार की संगति बिठाये बनता ही नहीं।

तो फिर––वेद का वह मूल स्वरूप क्या है ?

व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'वेद' के शब्दार्थ हैं—ज्ञान : ज्ञान का मूल (स्वरूप), अर्थात् भारतीय ज्ञान-परम्परा का मूल स्रोत। वेद का अर्थ कोई एक ही पुस्तक हो ऐसी बात नहीं, जैसा कि 'पुराण' का शब्दार्थ होता भी है; और ना ही वेद का अर्थ यही समझा जाना चाहिए कि बाइबल और तिपिटक की तरह यह भी एक प्रकार का, किसी खास समय में संकलित, संग्रह है। वेद से हमारा अभिप्राय हमेशा एक विपुल वाङ्मय से होता है जिसका उदय, सम्पादन तथा संरक्षण भारतीयों की मौखिक परम्परा में निरन्तर सदियों तक होता रहा, और उस प्रागैतिहासिक युग में (जब नई पीढ़ी के हाथों में यह एक विरासत की तरह आ चुका था, तब) भी वेद को उसके समय और विषय की प्राचीनता की दृष्टि से एक प्रकार का ईश्वरीय ज्ञान ही माना जाता था। वेद की प्राचीनता में तथा ईश्वरीयता में यह श्रद्धा हिन्दुओं में प्रायः स्वाभाविक ही रही है जिसके विषय में कभी-भी किसी भारतीय को सन्देह उठा ही नहीं प्रतीत होता। वेदों के इस रूप का निर्धारण किसी प्राचीन संगीति में अथवा अधिवेशन में नहीं हुआ था।

तथापि वेद को, अथवा वैदिक वाङ्मय को, तीन साहित्यिक विभागों अपिवा शृंखलाओं में सम्बद्ध देखा जा सकता है, और इन शृंखलाओं के स्वयं स्वतन्त्र, किन्तु अनुबद्ध, उपविभाग हैं जिसका कुछ ही अंश हमें आज अवशिष्ट मिलता है।

१. **संहिता** भाग—जिसमें प्राचीन भारतीय सूक्त, प्रार्थनाएं एवं याचनाएं, मन्त्र-तन्त्र आदि सम्मिलित होते हैं,

२. **ब्राह्मण** भाग—जिसमें धर्म-सम्बन्धी, विशेषतः यज्ञ के प्रसंग में आए, क्रियात्मक एवं रहस्यात्मक कर्मकाण्ड आदि की, गद्यबद्ध चर्चा संगृहीत है।

३. **आरण्यक** तथा **उपनिषद्** भाग—जो कहीं स्वयं ब्राह्मण-ग्रन्थों का अंश हैं तो कहीं स्वतंत्र रूप में निबद्ध हैं, दोनों में ही, वानप्रस्थ तपोधनों के—ईश्वर, संसार, मनुष्य आदि विषयों पर—चिन्तन एवं दर्शन समुपदिष्ट हैं।

सचमुच इन संहिताओं की संख्या पर्याप्त होनी चाहिए, क्योंकि—इनका उद्भव एवं विकास प्राचीन पुरोहितों एवं उद्गाताओं के विभिन्न सम्प्रदायों में हुआ था; और जो संहिताएं हमें मिलती भी हैं वे भी, प्रायः एक ही मूल संहिता की, थोड़े-बहुत पाठान्तरों के साथ, शाखा-उपभेद ही कहीं जा सकती हैं। तथापि चार संहिताएं आज भी हमें ऐसी मिलती हैं जिनका विषय, क्रम, विन्यास आदि सब-कुछ स्पष्टतः परस्पर-भिन्न है यद्यपि इन के भी एक या एक से अधिक रूपान्तर आज तक सुरक्षित चले आते हैं :—

१. **ऋग्वेद** संहिताः जिसमें प्राचीन ऋचाओं का संग्रह सुरक्षित है;
२. **अथर्ववेद** संहिता : जिसमें प्राचीन अथर्व, अर्थात् मन्त्रज्ञान, संचित हैं;
३. **सामवेद** में प्राचीन साम, अर्थात् गान-गीतियां संगृहीत हैं; तो—
४. **यजुर्वेद** संहिता में वैदिक यज्ञों के कर्मकाण्ड सम्बन्धी यजुष् एकत्रित हैं।

स्वभावतः कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में, परम्परा में, पर्याप्त मतभेद होना अपरिहार्य ही था, जिसके दो मुख्य रूप—

(क) **कृष्ण** यजुर्वेद (जिसकी अन्यान्य शाखाओं में मुख्य **तैत्तिरीय** एवं **मैत्रायणी** संहिताएं हैं) और

(ख) **शुक्ल** यजुर्वेद (जिसका एक ही रूप, '**वाजसनेयि** संहिता' हमें मिलता है) आज भी उपलब्ध हैं।

इन विभिन्न संहिताओं के आधार पर ही भारतीयों में वेद को ऋक्, अथर्व, साम और यजुष् के रूप में चतुरंग देखने की प्रथा है। इनमें, पुनः, हर संहिता के साथ विशिष्ट ब्राह्मणों, आरण्यकों एवं उपनिषदों की पृथक्-पृथक् एक ग्रन्थमाला सम्बद्ध है : अर्थात् —इन चारों वेदों में, केवल ऋग्वेद का ही नहीं, शेष तीनों वेदों का भी अपना ही स्वतन्त्र वाङ्मय-उपवाङ्मय है। उदाहरणार्थ—ऐतरेय ब्राह्मण का सम्बन्ध ऋग्वेद से है तो शतपथ का शुक्ल यजुर्वेद से और छान्दोग्य (उपनिषद्) का साम से, इत्यादि-इत्यादि।

इस वाङ्मय-उपवाङ्मय का सम्बन्ध चारों वेदों से सम्बद्ध ब्राह्मणों, आरण्यकों तथा उपनिषदों से होता है और इस प्रकार सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के-धार्मिक गीतियों,

प्रार्थनाओं, आध्यात्मिक एवं कर्मकाण्डपरक ग्रन्थों के रूप में—उत्तरोत्तर विकास में भी एक सूत्र-संगति है, कुछ आधारभूत एकता-सी है, जो सम्पूर्ण 'ब्राह्मण' धर्म और जीवनका मूल स्रोत है (ठीक उसी प्रकार जैसे कि पश्चिम में पुरानी बाइबल का यहूदियों के लिए, नई बाइबल का ईसाइयों के लिए, महत्त्व है)। यहूदी और ईसाई भी, दोनों ही, अपने-अपने धर्म-ग्रन्थ को हिन्दुओं की ही भांति ईश्वरीय (वाणी) समझते हैं। किन्तु हिन्दुओं का अपने धर्म-ग्रन्थ को 'श्रुति' कहना भी कुछ सार्थक प्रतीत होता है : क्योंकि—वेदों के शब्द लिपिबद्ध न होकर प्रवचन एवं श्रवण द्वारा ही सुरक्षित रह सके हैं। भारतीय दर्शन के सम्पूर्ण इतिहास में ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तों को ही ब्रह्मा का उच्छ्वास तथा ऋषियों का दर्शन माना गया है, साथ ही—वैदिक वाङ्मय के अर्वाचीनतम अंग उपनिषदों को भी स्वयं प्रजापति द्वारा ही निःश्वसित समझा गया है। भारतीय दर्शन के विविध सम्प्रदायों में और किसी बात पर तो मतभेद हो सकता है, और भारी मतभेद हो सकता है, वेद को और विशेषतः उपनिषदों को मूलस्रोत मान कर (यद्यपि प्राचीन शब्दों की व्याख्या में पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा 'अपनी बुद्धि' के लिए अवकाश है) प्रत्येक दार्शनिक अपनी ही बुद्धि के अनुसार जो चाहे प्रमाण निकालता आया है। सबसे अधिक आश्चर्य की बात बौद्धों की यह धारणा है कि वे वेद की प्रामाणिकता को तो कतई स्वीकार नहीं करते, किन्तु वेद को भी वे एक ईश्वरीय कृति मानते हैं (यद्यपि साथ ही यह भी कह छोड़ते हैं कि ब्राह्मणों ने मूल वेद को पर्याप्त दूषित कर दिया है—इसीलिए उसमें अब कितनी-ही गलतियां भरी हुई हैं !)।

इस प्रकार 'वेद' के शब्दार्थ हैं—ईश्वरीय ज्ञान अथवा विधान को एक जगह प्रस्तुत करने वाला 'वाङ्मय'। इसके अतिरिक्त एक और अंग भी वैदिक साहित्य का मिलता है जिसे हम शायद विशुद्ध वैदिक साहित्य का नाम न दे सकें। वैदिक वाङ्मय के इस अंग का नाम है—**कल्पसूत्र** (संक्षेप में **सूत्र**) अर्थात् वैदिक यज्ञ भाग —प्रक्रिया-परक अध्याय—जो सूत्रों की एक विशिष्ट शैली में ही लिखे मिलते हैं। **कल्पसूत्रों** में निम्न तीन प्रकार के सूत्रों का समावेश होता है :—

१. **श्रौत** सूत्रों में कुछ दिन अथवा मास-वर्ष, अनवरत चलने वाले, महासत्रों के क्रियाकर्म पर नियम मिलते हैं जिनमें अनेक अग्नियों तथा अनेक ऋत्विक्-आदि का विधान होता था;

२. **गृह्य** सूत्र—जिनमें साधारण गृहस्थ के दैनिक यज्ञों तथा षोडश संस्कारों से सम्बद्ध निर्देश संकलित है;

३. **धर्म** सूत्र—जो भारतीयों के सम्पूर्ण आध्यात्मिक एवं लौकिक जीवन के प्राचीनतम धर्मशास्त्र हैं।

वैसे तो, जिस प्रकार प्रत्येक वेद के पृथक् अपने ब्राह्मण, आरण्यक, तथा उपनिषद् हैं, उसी प्रकार ऋक्, साम, अथर्व, और यजुष् के श्रौत, गृह्य तथा धर्म सूत्र भी पृथक्-पृथक् ही हैं। सच तो यह है कि इन सूत्रों का उद्भव भी भिन्न-भिन्न वैदिक परिषदों में वेदाध्ययन की अबाध परम्परा के फलस्वरूप ही हुआ था। फिर भी—कर्मकाण्ड के इन ग्रन्थों को, वेद की भांति अपौरुषेय नहीं, पौरुषेय माना जाता है। इन्हें, वेद में नहीं, वेदांगों में सम्मिलित किया जाता है। और वेदांगों में इस कल्प आदि वाङमय के अतिरिक्त शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष आदि का भी परिगणन होता है—जिनके विषय में हम प्रस्तुत प्रसंग के अन्त में ही कुछ कहेंगे। फिलहाल हम वैदिक वाङमय का किंचित् पर्यवेक्षण (चारों वेदों में मूर्धन्य) **ऋग्वेद** के परिचय से ही आरम्भ करेंगे।

ऋग्वेद

निस्सन्देह वैदिक वाङमय की प्राचीनतम और सबसे महत्त्वपूर्ण पुस्तक ऋग्वेद ही है। **ऋक् संहिता** की अन्यान्य शाखाओं में से केवल एक—**शाकल**—संहिता ही बच रही है जिसमें १०२८ सूक्त दस मण्डलों में संगृहीत हैं। दूसरा एक प्रकार ऋग्वेद को अष्टक—अध्यायों में विभाजित करता है।

ऋग्वेद की प्राचीनता, सूक्तों की भाषा की कसौटी पर भी, असन्दिग्ध हैं। किन्तु भाषा की इस कसौटी[1] से यही सिद्ध होता है कि इस सहिता में प्राचीन तथा अर्वाचीन अंशों का युग-युगान्तर में क्रमिक विकास होता रहा है। जिस प्रकार हिब्रू गाथाएं विभिन्न युगों में यहूदियों के धार्मिक-गानों में जुड़ती गई, उसी प्रकार यहां भी गीत और सूक्त धीरे-धीरे इकट्ठे होते रहे—जिन्हें धर्म-भीरु संग्रहकर्त्ता अपने वंश के पुराण-पुरुषों के नाम के साथ समय-समय पर सम्बद्ध करते रहे। ऋग्वेद के प्राचीनतम सूक्तों का संग्रह २-७ मण्डलों की मूल छः पुस्तकों में (और इन्हें स्मरण भी वंश-मण्डल कहकर ही किया जाता है) मिलता है। जिन ऋषियों ने इन सूक्तों का साक्षात्कार किया था उनका उल्लेख कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों में मिलता है तो कुछ वेदांग-वाङमय से सम्बद्ध अनुक्रमणियों में। प्राचीन ऋषियों के इन वंशों के नाम हैं (क्रमशः)—गृत्स (मद), विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भरद्वाज और वशिष्ठ। अर्थात्—इन छः मण्डलों के लेखकों तथा उनके वंशजों को भारतीय परम्परा ऋषिवत् पूजती आई है। मण्डल ८ कण्वों तथा आंगिरसों के उद्गाता वंश के नाम से प्रचलित है; शेष तीन (१, ९, १०) मण्डलों के हर सूक्त के अलग-अलग

ऋषि का अपना नाम अनुक्रमाणियों में उद्धृत है, (और इन ऋषियों में कुछ स्त्रियां भी हैं!)। दुर्भाग्य से इन नामावलियों की, हमारी दृष्टि में, कोई बहुत उपयोगिता नहीं है, क्योंकि—वैदिक सूक्तों के मूल लेखकों के बारे में हमें इनसे कुछ पता नहीं लगता; और—क्योंकि बड़े अरसे से यह साबित हो चुका है[2] कि गृत्समद-विश्वामित्र आदि की यह परम्परा स्वयं सूक्तों की अन्तःसाक्षी से मेल नहीं खाती—सूक्तों में अनुक्रमणियों के प्राचीन ऋषियों के वंशजों के नाम भी उद्धृत हैं, जब कि गृत्समद, विश्वामित्र और वशिष्ठ (उन्हें कुछ भी नाम दे लो) भारतीय वाङमय के प्रख्यात पुरुष हैं जिनके कारनामों की अपनी-ही व्यक्तिगत गाथाएं और अपनी-ही व्यक्तिगत परम्पराएं बड़े पुराने समय से चली आती है; सो—सम्भवतः, ये प्राचीन ऋषि वैदिक सूक्तों के मूल लेखकों के पुराण-पुरुष ही हो सकते हैं। ९वें मण्डल में, अलबत्ता, विषय की दृष्टि से कुछ एकता हम पाते हैं, क्योंकि—इनमें केवल सोम की स्तुति ही गाई गई है। सोम एक बूटी है जिसका रस उन दिनों, इण्डो-ईरानियन युग में, देवताओं को भेंट चढ़ाने के लिए निकाला जाता था और, इसलिए, ईरानियों तथा भारतीयों के यज्ञों में सोम का महत्त्वपूर्ण स्थान भी निश्चित है (ईरानी भाषा में इसे 'हओम' कहते हैं)। लेकिन प्राचीन भारतीय गाथाओं में सोम को अमृत कहा गया है, देवताओं का पेय कहा गया है, और चन्द्रमा को एक सुनहरी चमचमाती बूंद के रूप में सोम (अर्थात् अमृत) का निधान भी कहा गया है। शायद इसी लिए नवम मण्डल में सोम की स्तुति—यज्ञ में आए देवताओं को उपहृत पेय के रूप में ही नहीं की गई, अपितु—व्योम-सम्राट् चन्द्रमा के रूप में भी की गई है? और—क्योंकि सोम का यह यज्ञिय सम्बन्ध विश्व-इतिहास के इण्डो-ईरानियन युग से मेल भी बखूबी खाता है, सो—ऋग्वेद के नवें मण्डल की प्राचीनता बहुत कुछ स्थिर ही समझी जानी चाहिए। ऋग्वेद का अर्वाचीनतम अंश सम्भवतः उसके प्रथम और अन्तिम मण्डल हैं जिसमें विविध विषय, विचार संनिविष्ट हैं[3]; लेकिन यह बात नहीं कि इन दोनों मण्डलों में कुछ प्राचीन सूक्त न हों और यह भी नहीं कि उन प्राचीन मण्डलों में कुछ नए सूक्त जहां-तहां बिखरे न मिलते हों। स्वयं सूक्तों के विषय में उनकी प्राचीनतर अपिवा अर्वाचीनतर स्थिति निर्धारित करना कोई आसान काम नहीं है, क्योंकि—यह सारा निश्चय भाषा की जिस एक भित्ति पर प्रायः आधारित किया जाता है वह भाषा भी तो स्वयं सूक्त के मूल उदय तथा ध्येय के साथ बदलती चलती है और तब भी बदल जाती है जब कि उसमें—'ब्राह्मण' धर्म की नहीं अपितु लौकिक धर्म की भी—किसी आस्था को प्रकट करना कवि का अभिमत हो। उदाहरणार्थ—सोम तथा इन्द्र की स्तुति उसी भाषा[4] में नहीं हो सकती जिसमें सांप को भगाने के लिए कोई जादू-मन्त्र पढ़ना अभीष्ट होता है (भले ही ऐसे मन्त्र का रूप भाषा की दृष्टि से अर्वाचीन ही क्यों न हो)।

हस्तलिखित प्रतियों में ऋग्वेदीय काव्य का एक परतर अंश **खिल** सूक्तों के नाम से निबद्ध है। ये खिल सूक्त स्पष्ट ही ऋग्वेद के उत्तर काल की रचना हैं। स्वयं 'खिल' का शब्दार्थ (परिशिष्ट) ही इन सूक्तों की स्थिति को स्पष्ट कर देता है कि इनका निर्माण बहुत दिनों बाद तब हुआ था जब कि मूल संहिता एक निश्चित रूप में निर्धारित हो चुकी थी। परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं हो जाता कि कुछ खिल, ऋग्वेद के अन्य सूक्तों की भांति, कम प्राचीन हैं; बल्कि हम इतना ही कह सकते हैं—कि संहिता में उनके न आने का कारण हमें मालूम नहीं। इन बाल-खिल्यों की संख्या ११ है जो पाण्डुलिपियों में ८वें मण्डल के अन्त में ग्रथित, किन्तु पृथक्, पाए जाते हैं। इसी प्रकार ११ **सुपर्ण** सूक्त, **प्रैष** सूक्त, तथा यज्ञ-परक **निवित्**, भी पर्याप्त प्राचीन होने चाहिएं।

अभी हम प्राचीन-अर्वाचीन के इस सूक्त-क भेद को यहीं छोड़ते हैं (वैदिक वाङमय की प्रस्तुत समीक्षा के अन्त में वेदों के सम्बन्ध में काल-निर्धारण के सामान्य प्रश्न के प्रसंग में ही इस प्रश्न को पुनः उठाना उचित समझेंगे)। अभी तो ऋग्वेद के प्राचीन तथा अर्वाचीन, दोनों, अंशों की प्रागैतिहासिकता के सम्बन्ध में लुड्विश के शब्दों में हम इतना कहना ही पर्याप्त समझते हैं कि ऋग्वेद में किसी भी प्राचीनतर भारतीय वाङमय का कोई उल्लेख नहीं मिलता जबकि, दूसरी ओर, सम्पूर्ण भारतीय वाङमय तथा भारतीय जीवन वेद की आधार-शिला पर ही प्रतिष्ठित है।

भाषा की युक्ति के अनन्तर वेदों की प्राचीनता के विषय में हम छन्दों की युक्ति को ले सकते हैं, क्योंकि— वैदिक तथा लौकिक छन्दों में खाई स्पष्ट इतनी बड़ी है कि वैदिक कविता के कितने ही छन्दों का लौकिक काव्य में कोई नामोनिशान नहीं मिलता और कितने ही लौकिक छन्दों का मूल स्रोत वेदों में ढूंढना व्यर्थ है। और यदि वैदिक छन्दों में से कुछ आगे चल कर लौकिक साहित्य में प्रयुक्त भी हैं तो उनकी लय, गति अब बिलकुल स्वस्मिन्-निश्चित बन चुकी है!

प्राचीनतम भारतीय छन्दों में अक्षरों की संख्या ही निश्चित होती थी, मात्रा नहीं। वैदिक पद्य-रचना, ८, ११, १२ अक्षरों के पादों में होती थी और बहुत कम ५-अक्षरी पादों में भी। प्राचीन छन्दोनुशासन में पाद के केवल अन्तिम चार या पांच अक्षरों की लय ही बंधी हुई हुआ करती थी; और इन चार या पांच अक्षरों में भी पादान्त अक्षर को आवश्यकतानुसार दीर्घ अथवा लघु पढ़ने की स्वतन्त्रता थी। ८-अक्षरी पाद का सामान्य रूप इस प्रकार होता था :—

० ० ० ० ◡ — ◡ ⏓

गायत्री में इस तरह के तीन पाद होते थे, और अनुष्टुभ् में चार। पुरानी भारतीय कविता में गायत्री का प्रयोग अनुष्टुभ् की अपेक्षा अधिक हुआ करता था जबकि लौकिक साहित्य में अनुष्टुभ् का ही बोलबाला हो चुका है और अनुष्टुभ् का ही एक

रूपान्तर 'श्लोक' महाकाव्य की रचना के लिए पृथक् विनिश्चित कर दिया गया था। इन दोनों छन्दों के अतिरिक्त पांच और छः पादों वाले अष्टाक्षर छन्द—पंक्ति और महापंक्ति—भी ऋग्वेद में मिलते हैं।

एकादशाक्षर पादों में चौथे या पांचवें अक्षर पर यति हुआ करती थी। इसके दो रूप ये हुआ करतेथे :—

○ ○ ○ ○ || ○ ○ ○ — ◡ — ◡̲
○ ○ ○ ○ ○ || ○ ○ — ◡ — ◡̲

त्रिष्टुभ् में ऐसे चार पद हुआ करते थे।

द्वादशाक्षर पादों में त्रिष्टुभ् के पादों की अपेक्षा केवल एक अक्षर ही और अधिक हुआ करता था। उसके भी, तदनुसार, दो रूप इस प्रकार हो सकते थे:—

○ ○ ○ ○ || ○ ○ ○ — ◡ — ◡ — ◡̲
○ ○ ○ ○ ○ || ○ ○ — ◡ — ◡ — ◡̲

जगती में ऐसे चार पाद हुआ करते थे।

इसके अतिरिक्त पांच अक्षरों वाले चार या आठ पादों को मिलाकर द्विपदा विराज् का एक नूतन छन्द बनाने की प्रथा भी थी :—

◡̲ — ◡ — ◡̲

विभिन्न प्रकार के पादों को मिलाकर उष्णिक्, बृहती आदि कुछ बृहत्तर छन्द, बनाने का भी रिवाज था। जिन (अजीब छन्दों) में प्राय: अष्टाक्षर और द्वादशाक्षर पादों का मिश्रण ही हुआ करता था।

प्राचीन भारतीय छन्दःशास्त्र में अक्षरों की संख्या का कितना महत्त्व था इसका कुछ अन्दाजा हम ब्राह्मणों तथा उपनिषदों में पुनः-पुनः आई इन (संख्याओं) की रहस्यात्मकता के संकेतों से भली प्रकार लगा सकते हैं। बृहदारण्यक में एक स्थान पर लिखा है कि भूमि, अन्तरिक्ष, और द्यु, ये मिल कर आठ अक्षर बनते हैं, और क्योंकि—गायत्री के एक पाद में भी आठ ही अक्षर होते हैं (सो, गायत्री का ज्ञानी तीनों लोकों पर विजय पा लेता है!)। इसके अतिरिक्त, यज्ञ तथा कर्मकाण्ड के प्रसंग में इन छन्दों का महत्त्व इतना अधिक था कि इनकी भी देवताओं की तरह आहुति—आदि के साथ पूजा हुआ करती थी, इन (छन्दों) से सम्बद्ध भी—छन्दों के पृथक्-पृथक्—उपाख्यान हुआ करते थे! विशेषत: गायत्री के विषय में तो यहां तक लिखा है कि वह पक्षी का रूप धारण करके सोम को आसमान से जमीन पर उतार लाई, यह भी लिखा है कि प्रजापति ने इन छन्दों को अन्य प्राणियों की तरह ही सजीव पैदा किया था! इन सब आस्थाओं का एक ही मतलब निकलता है कि ये छन्द भी प्रागैतिहासिक काल से ही इसी

रूप में चलते आ रहे हैं, और यह--इनकी प्राचीनता (स्वयं सूक्तों की प्राचीनता) का भी एक साधक (अकाट्य) प्रमाण है।[५]

ऋग्वेद के सूक्तों की प्राचीनता का, शायद, सबसे अधिक मजबूत आधार इन सूक्तों में प्रसंगात् उपवर्णित भारत की भौगोलिक तथा सांस्कृतिक अवस्था हो सकती है। इन सूक्तों के समकालीन भारत के आर्य अभी सम्पूर्ण भारत पर, सम्पूर्ण उत्तरापथ पर, नहीं छाए थे। अभी वे सिन्ध के मैदान में ही बसते थे[६]। पश्चिम की ओर से हिन्दूकुश के दर्रों में से भारत में आने वाले आर्य कबीले पंजाब तक ही पहुंच पाए थे--जहां उनकी मुठभेड़ आये दिन भारत के श्यामवर्ण मूल-निवासियों से होती ही रहती थी। इन दस्युओं अथवा दासों को ऋग्वेद में अनार्य भी कहा गया है और लिखा है: 'ये ऐसे नास्तिक लोग हैं जो न देवताओं को मानते हैं, और न किसी कानून व धर्म को ही; और न ही इनके लिए कोई यज्ञभाग ही निश्चित होता है।' अनार्यों के साथ आर्यों के युद्ध इतने अधिक हुआ करते थे कि गंगा के मैदानों की तरफ पूर्व की ओर उनकी प्रगति बहुत ही शिथिलता के साथ हुई प्रतीत होती है। और यह कोई निरर्थक तथ्य नहीं कि गंगा का—जिसके बिना परतर भारत को हृदयंगम कर सकना असम्भव है और जो आज भी भारतीय जीवन में तथा काव्य में तथा लोकधर्म में एकीभूत हो चुकी है, उस गंगा का—ऋग्वेद में नाम भी एकाध-बार ही आए। हाइने का यह प्रसिद्ध पद्य—

> **गंगा-तट की वे मधुर सुरभियां और वह झिलमिल,**
> **वे ऊंचे ऊंचे दियार,**
> **और वे सरसिजों की छाया में--**
> **उपासना-लीन, निःशब्द, ध्यानावस्थित मानवमूर्तियां !**

--कालीदासीन भारत की स्मृति भले ही कुछ उपस्थित कर सके तो कर सके, ऋग्वेद के युग में इसकी संगति बिठाये नहीं बैठ पाती। संस्कृत काव्य का प्रसिद्ध फूल कमल अभी वैदिक काव्य में कोई उपमा नहीं खड़ी कर सका है। ऋग्वेद के पशु, पौधे और पक्षी लौकिक-संस्कृत-साहित्य के वातावरण से बिलकुल भिन्न हैं। न्यग्रोध का यहां नाम तक नहीं मिलता और बंगाल का शेर भी यहां नहीं है (क्योंकि आर्य लोग अभी पूर्व की सुदूर सीमा तक नहीं पहुंच पाये थे), चावल को यहां कोई जानता ही नहीं (सिर्फ जौ की खेती होती है)—सूक्तों में कृषि का महत्त्व वह नहीं जो आगे चलकर हुआ। पशुपालन ही रोजी का जरिया है और वहां के भी मुख्य पशु बैल ही है। घोड़े की कीमत देनी होती है, उसे रथ में जोत कर योद्धा रण-भूमि की ओर जाता है या फिर घुड़दौड़ में मुकाबले पर भी। इन सूक्तों में तथा देव-स्तुतियों में भक्त देवताओं से गोधन तथा अश्वधन मांगते हैं; और आदिवासियों से आर्यों की लड़ाई का मुख्य कारण सदा ये पशु ही होते हैं, इसीलिए, ऋग्वेद का

पुराना शब्द युद्ध के लिए 'गविष्टि' अर्थात् 'गोधन की इच्छा' है। गाय-बैल की प्रशंसा में प्रायः अतिशयोक्ति अलंकार ही बर्ता गया है। बछड़े की ओर रंभे नाद से दौड़ती गौओं की आवाज प्राचीन भारतीयों के लिए मधुरतम प्रियतम संगीत है। कवि तो यहां तक कहता है कि स्तोताओं की पुकार इन्द्र के प्रति ऐसे ही उठती है जैसे बछड़े के प्रति गौओं का रंभानाद। यही नहीं, स्वयं देवों तथा देवियों की उपमा भी बैलों तथा गौओं से दी जाती है। गाय का दूध भोजन का मुख्य अंग था ही, साथ ही देवताओं को दी गई आहुति में भी दूध और मक्खन का महत्त्व बहुत अधिक होता था। दूध को सीधा गाय के थन से ही पीना अच्छा समझा जाता था, और वैदिक कवियों के लिए एक आश्चर्य यही होता था कि गाय तो 'कच्ची' होती है किन्तु उसका दूध पका-पकाया ही आता है—गरम ही निकलता है! जर्मन भाषा में एक बाल-गीत है :

कोई बता सकता है मुझे—कि क्यों
गाय तो लाल होती है दूध उसका सफेद ही होता है ?

और प्रायः इन्हीं शब्दों में ही वेदों में एक इन्द्र-स्तुति में पूछा भी गया है कि क्यों काली और लाल गौएं दूध उजला ही देती हैं! किन्तु आर्यों की (गोधन के प्रति) यही श्रद्धा ही उनके लिए यज्ञ में गौओं तथा बैलों की आहुति देते वक्त और स्वयं गोमांस खाते समय एक बाधा बनकर आ खड़ी होती। किन्तु गो-हत्या के लिए उन दिनों सर्वथा निषेध ही हो, ऐसी बात नहीं थी : खास-खास अवस्थाओं में गौ को मारने के उल्लेख भी मिलते हैं[७] यद्यपि निरुक्त में गौ का एक नाम 'अघ्न्या' भी है। बैलों की खाल भी इस्तेमाल हुआ करती थी। खाल बनाने वाले इस चमड़े से बोतलें, धनुष की तंदियां, प्रत्यंचा और पेटियां बनाते; और, और भी अन्यान्य उद्योग उन दिनों होते थे। वेदों के समय का बढ़ई मकान के साज-समान, सन्दूक और रथ, आदि बनाने में निपुण होता था और लोहार, सुनार, एक खास पक्षी के पंखों को धोंकनी की तरह इस्तमाल किया करते थे—ऐसा लिखा है; जहाज की भी शुरूआत हो चुकी थी। वृक्ष के तने को अन्दर से खोखला कर के, छोटी-सी किश्ती वना, नदियों की सैर भी उस जमाने के लोग करते थे। समुद्र का परिचय यद्यपि वैदिक लोगों को है, किन्तु समुद्र[८] के रास्ते कोई व्यापार आदि भी उन दिनों होते थे—यह कह सकना बहुत मुश्किल है। वैसे, व्यापारी लोग थे, और लेन-देन में पैसे के स्थान पर सोने के गहनों और बैलों का व्यवहार था। बैलों और घोड़ों के अतिरिक्त, वैदिक प्रार्थनाओं में देवताओं से सोने की मांग भी है (जिसकी प्रत्याशा ब्राह्मणों को धनी यजमानों से स्वभावतः होती ही थी)।

ऋग्वेद में यद्यपि पशु-पालन, कृषि, व्यापार, उद्योग, युद्ध और यज्ञ आदि का उल्लेख है, वर्णाश्रम-व्यवस्था का संकेत अभी नहीं मिलता; वही वर्णाश्रम-व्यवस्था,

जो कि उत्तरयुगीन भारत के सामाजिक जीवन का पुराने जमाने से अविभाज्य अंग रही है (और आज भी अभिशाप-वत् स्थिर है) वेदों में अ-प्रमाणित है ! केवल एक सूक्त में—जो कि स्पष्ट ही पीछे का है—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र (चारों वर्णों) का उल्लेख मिलता है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन दिनों योद्धा भी होते थे, पुरोहित भी; किन्तु —इन योद्धाओं का जिक्र वेद में एक स्वतन्त्र (क्षत्रिय) जाति के रूप में अभी उतना ही नामुमकिन है जितना कि किसानों, पशु-व्यापारियों, अन्य (वाणिजों, कलाकारों तथा मजदूरों आदि) दलित वर्गों का। ऋग्वेद के समय में भी वैसे रिवाज यही था कि राजा एक कुल-पुरोहित को सदा अपने साथ यह रखता जो उसके लिए यज्ञ-आदि निभाता रहे। ऋग्वेद में भी और परतर वैदिक युग में भी यज्ञ, संस्कार आदि घर का कोई भी कामकाज पुरोहित की सहायता के बिना असम्भव होता था। पत्नी यज्ञों में पति के साथ बैठा करती थी, (और पति-पत्नी का इन पवित्र अवसरों पर साथ बैठना अनिवार्य समझा जाता था) : जिस विधान से भी यही सिद्ध होता है कि परतर युगों की तरह अभी औरतों को यज्ञ तथा स्वाध्याय से बाह्य नहीं किया गया था। ऋग्वेद ८.३१ में एक दम्पति-युगल का उल्लेख मिलता है जो एक हृदय होकर सोम को पीसते हैं, छानते हैं और दूध में मिलाकर देवताओं की पूजा में चढ़ा देते हैं। **मनुस्मृति** में यद्यपि लिखा है कि देवता औरतों को यज्ञ में देखकर असन्तुष्ट हो जाते हैं, और यह भी कि अग्नि-होत्र करने वाली औरतें नरक में पहुंचती हैं, किन्तु जब हम उपनिषदों में यह पढ़ते हैं कि औरतें दार्शनिकों के वादविवाद में क्रियात्मक भाग लेती थीं, सहभोजों, नृत्यों, और दौड़ों में भी शामिल होती थीं—तब-भी—हमें कोई आश्चर्य नहीं होता। कुछ विद्वानों ने वैदिक युग में वेश्याओं, वारांगनाओं के होने का विचार भी सामने रखा है, लेकिन इस सब की कोई आवश्यकता नहीं। यद्यपि इस बात से भी इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऋग्वेद के समय में ऐसी कुआरी लड़कियां जिनका कोई भाई न हो, सरंक्षक न हो, वेश्या का पेशा अपना लेती थीं। गेल्डनर और पिशल[१] ने यह सिद्ध करने की पर्याप्त कोशिश की है कि वेश्याओं की सत्ता वैदिक युग में एक संस्था के रूप में उसी प्रकार स्थिर हो चुकी थी, जैसे कि बुद्ध के समय में वैशाली में और पैरीक्लीज के समय में एथेन्स में समर्थित मिलती है। किन्तु यह बात प्रमाणों से पुष्ट नहीं की जा सकती।

इन संकेतों के आधार पर, मैक्समूलर की भांति, प्राचीन भारत का एक भव्य चित्र खींच देना भी उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। स्वयं ऋग्वेद में भी अपहरण, विश्वास-घात, गर्भपात के और धोखे, चोरी-डकैती के भी उल्लेख मिलते हैं। लेकिन ये करतूतें वेद को अर्वाचीन नहीं कर सकतीं। आधुनिक जनशास्त्र इस बात की साक्षी नहीं दे सकता कि कभी-भी मनुष्य का रक्त शुद्ध था, अपापविद्ध था, कि—इन्सान

में तब पाप की वासना बिलकुल नहीं थी; और न ही यह सिद्ध कर सकता है कि प्राचीनकाल के लोग निरे वहशी थे, मांसभक्षी थे। जनशास्त्री यह निश्चित रूप से सिद्ध कर चुके हैं कि प्राचीन जातियों में—अर्धसभ्य जातियों में और सभ्यता के अद्यावधि चरम विकास तक पहुंची मानव-संस्कृति की अवस्था में जो दो परस्पर-भिन्न रूप हमें मिलते हैं—उसमें भी कुछ निश्चित संगति एवं क्रम है। इसी प्रकार ऋग्वेद के लोगों के बारे में भी हमें यह विचार बनाने की आवश्यकता नहीं कि वे मासूम गडरिए थे, या जंगलियों के कबीले, या अत्यन्त सभ्य और परिष्कृत एक अतिमानव वर्ग। वैदिक संस्कृति का चित्र जो इन गीतों से उभरता है वह, हमें हाइनरिखत्सिमर की बहुमूल्य पुस्तक '**आल्टिण्डीशेज लेबन**' में मिलता है कि किस प्रकार भारत के आर्य कर्मठ थे, प्रसन्नचित्त थे, युद्धप्रेमी थे, सरल-प्रकृति थे, यद्यपि कभी-कभी उनमें जंगली-पना भी प्रत्यक्ष हो आता था। वैदिक स्तुतियों में शत्रु के विरुद्ध सहायता, युद्ध में विजय और लूट, वैभव, सम्पत्ति, रत्न, स्वर्ण, पशु, खेती के लिए वर्षा, . . .सुखी परिवार और लम्बे जीवन के लिए—प्रार्थनाएं मिलती हैं। ऋग्वेद के गीतों में तपस्या, निराशा, गमगीनी का वह पार्श्व अभी नहीं मिलता जो कि लौकिक भारतीय साहित्य का आगे चल कर जैसे एक अविभाज्य अंग ही बन गया था।

ऐसे विद्वान् भी हैं जो ऋग्वेद को बहुत ही पुराना मानते हैं; और उन्होंने उसमें भारतीय जीवन की अपेक्षा आर्य अथवा इण्डो-यूरोपियन गतिविधि को पढ़ने की कोशिश भी की है। ये विद्वान् वेद को प्रायः प्रागैतिहासिक मानते हैं, पूर्वभारतीय युग के आर्य जीवन का एक चित्र मानते हैं। इसके विपरीत विद्वानों का एक और वर्ग भी है जो कि ऋग्वेद को विशुद्ध भारतीय मन की ही उपज समझता है और उसका दावा है कि ऋग्वेद की व्याख्या करते हुए हमें उन्हीं सिद्धान्तों का ही अनुसरण करना चाहिए जो कि वेदेतर शेष भारतीय साहित्य के लिए इधर से उधर नहीं किए जा सकते। यह विभाजन-रेखा ही ऋग्वेद की भिन्न-भिन्न व्याख्याओं का मूलाधार है।

हम यह स्मरण दिला दें कि अभी तक ऋग्वेद की कोई पूरी व्याख्या नहीं हो सकी है। यह सच है कि कितने ही सूक्त हमें उतने ही स्पष्ट हैं जितनी कि कोई भी लौकिक संस्कृत में लिखी कविता, किन्तु साथ ही कितने ही सूक्त, और (परस्पर-असंगत प्रसंग, ऋग्वेद के) हमें बिल्कुल अस्पष्ट हैं। इसलिए, उस प्राचीन साहित्य का आशय समझना कोई खिलवाड़ नहीं। विशेषतः कोई विदेशी जब ऋग्वेद के किसी अनुवाद को उठाता है, वह प्रायः हैरान रह जाता है कि इतने गीतों का अधिकांश कवित्वमय नहीं, स्पष्ट नहीं, बुद्धिगम्य नहीं। पर प्रायः कारण यह होता है कि इन अनुवादकों ने न केवल ऋग्वेद का स्पष्ट अंश ही अनूदित कर

छोड़ा होता है बल्कि उन्होंने अपना एक कर्त्तव्य-सा ही मान लिया प्रतीत होता है कि वेद को स्पष्ट, अर्धस्पष्ट, अस्पष्ट—जैसे भी बन सके—'सम्पूर्ण' प्रस्तुत कर दो !

तो इसमें हम पाश्चात्य विद्वानों को बहुत दोष नहीं दे सकते कि वे ऋग्वेद को सही अर्थों में समझ नहीं पा रहे; और, इसीलिए, वेद का कोई भी अशुद्धियों से रहित पूर्ण-अनुवाद शायद कभी हो भी नहीं सकता। बात यह है कि ऋग्वेद एक बहुत ही पुराने जमाने का ग्रन्थ है जो काफी पुराने समय से स्वयं भारतीयों के लिए ही दुर्बोध बन चुका है। स्वयं वैदिक साहित्य में ही कितने ही स्थलों की गलत व्याख्या हम आए दिन देखते हैं। यह समस्या भारत के प्राचीन विद्वानों के संमुख भी आई थी। उन दिनों भी मुश्किल-मुश्किल वैदिक शब्दों के निघण्टु तैयार करने का रिवाज था। सम्भवतः, ऋग्वेद का प्रथम व्याख्याकार यास्क था जिसने प्राचीन निघण्टुओं के आधार पर एक निरुक्त रचा जिसमें वैदिक ऋचाओं की एक भारी संख्या को स्पष्ट करने का उसने प्रयत्न भी किया। यास्क[१०] में (यह याद रहे कि वह पाणिनि से बहुत पहले हो गुजरा था) कम-से-कम सत्रह पूर्ववर्तीय विद्वान् उद्धृत हैं जिनके विचार अक्सर मेल नहीं खाते। इन्हीं उद्धृत विद्वानों में एक का विचार यह है कि क्योंकि स्थान-स्थान पर वैदिक सूक्त अस्पष्ट, निरर्थक तथा परस्पर-विरोधी हैं, इसलिए—सारा का सारा निरुक्तशास्त्र ही व्यर्थ ठहरता है ! जिसके प्रत्युत्तर में यास्क सिर्फ इतना ही कहता है कि "इसमें सूर्य (रश्मि) का क्या दोष यदि अन्धा उसे देख न सके !" कठिन शब्दों के सम्बन्ध में यास्क का आधार मुख्यतया उन शब्दों की निरुक्ति प्रस्तुत कर देना होता है (यद्यपि आधुनिक भाषाशास्त्र की कसौटी पर हम यास्क के निर्वचनों को सर्वथा वैज्ञानिक भी नहीं कह सकते, क्योंकि —एक ही शब्द के प्रायः दो या दो से अधिक निर्वचन भी वह कर छोड़ता है)। कुछ हो, इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि यास्क के समय में भी कोई अविच्छिन्न परम्परा, वेदार्थ के सम्बन्ध में, उपलब्ध न थी। यास्क के बाद और भी निर्वचनकार आए, किन्तु उनके ग्रन्थों में शायद कोई भी बच नहीं पाया, और यही हाल हम उसकी पूर्वतर परम्परा के विषय में भी कह सकते हैं। १४वीं सदी के बाद ही हमें ऋग्वेद की एक पूर्ण व्याख्या मिलती है जो उसके हर शब्द को स्पष्ट करने का प्रयत्न करती है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों ने ऋग्वेद के **सायण-भाष्य** का शब्दशः अनुवाद भी कर छोड़ा है (जिनमें कम-से-कम एक विद्वान्, विल्सन, को नहीं भुलाया जा सकता)। किन्तु एक ही ग्रन्थ पर इतनी आस्था प्रायः एकांगिता से दूषित हो जाती है, क्योंकि दूसरी ओर ऐसे विद्वान् भी हैं जिन्होंने भारतीय परम्परा से जरा भी परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं किया। उनका कहना है कि एक ऐसे भाष्यकार की अपेक्षा—जो किसी ग्रन्थ के लिपिबद्ध होने के दो हजार साल बाद आए—वर्तमान भाषाविज्ञान तथा तुलनात्मक आलोचनाशास्त्र से सुसज्जित-

समर्थित पाश्चात्य मेधावी उस ग्रन्थ का कहीं अधिक गम्भीर, एवं सत्य, अन्वेषण कर सकते हैं। इन विद्वानों में रूडोफ रोथ का स्थान प्रमुख है। उसके एक शिष्य और अनुयायी ग्रासमान ने सम्पूर्ण ऋग्वेद का एक छन्दोबद्ध अनुवाद दो जिल्दों में प्रकाशित भी किया है। वैसे आज के अनुसन्धानकर्त्ता प्रायः इस सम्बन्ध में मध्यम मार्ग अपनाते प्रतीत होते हैं। उनका कहना है कि "यह ठीक है कि हम भारतीय भाष्यकारों का अन्धानुसरण न करें", फिर भी उनका विश्वास है कि "भारत की अविच्छिन्न परम्परा में कम-से-कम कुछ अंश तो सत्य, यथावत्, सुरक्षित होना ही चाहिए—और, इसी लिए. उसमें प्राचीन युग का कुछ भारतीय वातावरण-सा अब भी अवशिष्ट है—कि जिसके आधार पर भारत के विद्वान् अपनी परम्परानुमोदित प्रतिभा से मूल का अर्थ पाश्चात्य मनीषियों की अपेक्षा मूल के अधिक निकटतर यूं-ही समझ लेते हैं।" इन मध्यममार्गियों में ही एक विद्वान् लुडविश है, जिसका सम्पूर्ण ऋग्वेद जर्मन भाषा में उपलब्ध है। लुडविश के ऋग्वेद में अनुवाद के साथ-साथ सायण के भाष्य पर आधारित एक अच्छी खासी व्याख्या भी समाविष्ट है, यद्यपि लुडविश ने पाश्चात्य तुलनात्मक विज्ञान की सर्वथा अवहेलना भी नहीं कर दी। लुडविश ने अपने परवर्त्तियों—यथा पिशल और गैल्डनर—के लिए मार्ग सुगम कर दिया और सो उनकी '**वैदिश स्टूडिएन**' में ऋग्वेद के कितने ही गूढ़ स्थल अब बिल्कुल स्पष्ट हो चुके हैं। विद्वज्जगत् दोनों के प्रति इस अमूल्य अध्यवसाय के लिए ऋणी है। ऋग्वेद के स्पष्टीकरण में दोनों के सिद्धान्त अथवा दृष्टिकोण बिल्कुल निश्चित हैं कि ऋग्वेद की सही व्याख्या के लिए व्याख्याता का मन और उसकी बुद्धि—'साधारणीकरण द्वारा'—भारतीय होनी चाहिए और इसके लिए प्राचीन भारतीय साहित्य के परतर वाङ्मय के अतिरिक्त और कोई कुंजी हमारे इतनी काम नहीं आ सकती।

वैदिक व्याख्या के इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न के साथ सम्बद्ध एक और जटिल समस्या भी है, वह यह कि : क्या इन सूक्तों की रचना, मूल में, वैदिक कर्मकाण्ड अथवा विनियोग से स्वतन्त्र हो कर हुई थी?—अर्थात् इन सूक्तों में भक्तों के भरे हृदयों के उद्गार हैं, भोली श्रद्धा है—या केवल पुरोहितों द्वारा यज्ञादि के प्रसंग में यूं-ही जोड़ी-तोड़ी गई तुकबन्दियां हैं।

इन सूक्तों की व्याख्या में कितना भेद आ सकता है यह दो माने हुए विद्वानों के विचारों की तुलना से प्रकट हो जाएगा। केगी इन सूक्तों के सम्बन्ध में कहता है : "ऋग्वेद का अधिकांश देवस्तुति और प्रार्थना रूप है जिसमें मुख्य स्वर संसार की नित्य शक्तियों के प्रति प्रार्थना, उपासना तथा उद्गार का है। वैदिक ऋषि हर चीज को देवताओं का प्रसाद समझ कर स्वीकार करता है और इसी में उसे परम सन्तोष मिलता है। उसका तो कहना है कि मैं जो कुछ गाता हूं उसमें मेरा कुछ

नहीं, वह भी परमात्मा की अपनी ही वाणी है, अपनी ही प्रेरणा है, जो आप से आप मेरे अन्तःकरण को माध्यम बनाकर फूट निकली है।" केगी ने यह भी स्वीकार किया है कि ऋग्वेद में घटिया दर्जे के अंश भी मिलते हैं : "किन्तु इन घटिया कविताओं में भी सृष्टि की वह 'आदि' प्राणमयता है, 'आदि' नवीनता है। कोई भी व्यक्ति जो आज ऋग्वेद को पढ़ते हुए तत्कालीन विचार, अनुभूति को और जागरूकता को स्वगत कर सकता है, उस युग की कविता को संवेदना द्वारा अपना सकता है—वह कविता जिसमें कि हम पाश्चात्यों के आध्यात्मिक विकास का पूर्वतम रूप, अपने श्रेष्ठतम स्वर में, हमारे संमुख बरबस खुल आता है—उसी के लिए ही इन गीतों में कितना आकर्षण भरा पड़ा है : कितनी मात्रा में अद्भुत, अबोध शैशव बिखरा पड़ा है, अनुभूति की वह प्रथम स्रोतस्विता, रूपकों, वक्रोक्तियों की वह निर्भीक वृत्ति, कल्पना की वह उड़ान. . . . !" अब जरा एक और सूक्ष्मदर्शी तथा विवेकी विद्वान् की भी सुन लें। **'रिलिजन दास वेद'** में ओल्डनबर्ग लिखता है कि "यद्यपि ऋग्वेद भारतीय साहित्य और धर्म की प्राचीनतम कृति है तथापि बौद्धिक ह्रास के स्पष्ट चिह्न उसमें उत्तरोत्तर बढ़ते ही नजर आते हैं।" आगे चलकर वह उनके कर्मकाण्ड-परक मन्त्रों, विनियोगपरक यजुषों, घर के बाहर खुली जमीन पर यज्ञ में रत जड़ पुरोहितों के बीच में ही कुशाओं की छाया में जल रही यज्ञवह्नियों का चित्र खींचता है और कहता है कि "इन जंगली पुरोहितों के देवता भी जंगली ही थे जिनका काम, जब चाहा, घोड़ों और रथों पर आसमान चीरते हुए थोड़ी-सी पुरोडाश, थोड़ा-सा मक्खन, एक मांस का टुकड़ा और एक प्याली सोम के लिए—दौड़ते चले आने के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता था : और इसी को वैदिक ऋषि देवताओं की परात्पर शक्ति का प्रमाण समझते हैं ! ऋग्वेद के ये मिरासी, पुरानी लीक पर चलते हुए, गीत पर गीत बनाते और सोम-याग के समय अपने देवता की खुशामद करते 'आप ये हैं आप वो हैं', बढ़ा-चढ़ा के नई-से-नई अतिशयोक्तियां पेश करते—जिसमें सत्य का अंश जरा भी न होता ! जिन पुरोहितों का सम्पर्क ही लोक-जीवन से न हो उनकी कविता में भी लौकिकता अथवा सच्चाई कैसे आ सकती है ?"

हमारे विचार में ये दोनों ही मत सच्चाई के परस्पर-विरोधी छोरों पर हैं। ऋग्वेद का अर्थ करते समय हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि ऋग्वेद में 'पूर्वतर' तथा 'परतर' अंश मिश्रित हैं। जिस प्रकार कि संहिता के सूक्त भिन्न-भिन्न समयों की रचनाएं हैं, उसी प्रकार सूक्तों के विभिन्न मन्त्र भी एक ही समय पर नहीं लिखे गए थे। इसमें कुछ सन्देह नहीं कि इन सूक्तों की प्रचुर संख्या का वैदिक यज्ञ-याग से कुछ सम्बन्ध नहीं है—उनमें सचमुच उस प्राचीन युग की धार्मिक भावना अब भी प्राणवती है, स्पन्द्र है ?[११] और, यद्यपि इनमें से अधिकांश सूक्तों का प्रयोग

सदियों से विनियोग-परक होता भी रहा, किन्तु इसी से इसके अर्थ यह नहीं हो जाते कि ये मूल में इसी अभिप्राय से रचे गए थे। सच्चाई शायद कुछ और ही है, क्योंकि—ऋग्वेद का एक पर्याप्त बड़ा भाग शुरू से ही यज्ञपरक रहा है; उसका कोई और, शायद, तब भी प्रयोग था ही नहीं। सो, कम-से-कम इन अंशों को तो पुरोहित लोग जोड़-तोड़ सकते ही थे। हमें तो व्हिटनी[१२] की यह उक्ति अतिशयोक्ति लगती है कि 'वेदों को भारतीय साहित्य का अंग न मान कर एक इण्डो-यूरोपियन ग्रन्थ मानना युक्ततर प्रतीत होता है। इसी प्रकार पिशल, गैल्डनर तथा विल्सन का यह कहना कि ऋग्वेद के समय में भारतीय संस्कृति प्रायः उतनी ही विकसित हो चुकी थी जितने कि प्रामाणिक रूप में हम सिकन्दर के आक्रमण के समय उसे जानते आ रहे हैं—(पिशल का यह मत) हमें जंचा नहीं।[१३]

हो सकता है कि ऋग्वेदीय सूक्तों में तथा शेष भारतीय साहित्य में इतना महान् अन्तर न हो जितना कि अन्वेषकों ने कल्पित कर लिया है, फिर भी—अन्तर है अवश्य।[१४] इस भेद को हम भाषा, सांस्कृतिक परिस्थिति, धर्म-बुद्धि के विकास आदि की युक्ति से परख सकते हैं। खैर, जो कुछ हम निश्चय से कह सकते हैं वह सिर्फ इतना ही है कि कवित्व की दृष्टि से ऋग्वेद के इन सूक्तों का मूल्य कुछ भी हो, भारतीय धर्म के प्राचीन उदय एवं विकास को जानने के लिए तथा इण्डो-यूरोपियन जातियों के गाथा-विज्ञान को समझने के लिए और विश्व-भर के 'प्रागैतिहासिक मन' को हृद्गत करने के लिए ऋग्वेद के इन गीतों से बढ़ कर और कोई प्रमाण-ग्रन्थ हमारे पास अभी तक नहीं है।

एक ही शब्द में इस बात को हम यूं कह सकते हैं कि इन सूक्तों का मूल्य, हमारी दृष्टि में, इस लिए है कि इनमें अभी देवगाथाओं का निर्माण ही हो रहा है—'देवताओं के नेपथ्य, धीमे-धीमे खुल रहे हैं: सचमुच[१५] कभी-कभी तो ऐसा प्रतीत होने लगता है जैसे ये देवता हमारी आंखों के सामने देवत्व प्राप्त कर रहे हों! इन सूक्तों के, उद्गार सूर्य, चन्द्र, अग्नि, द्यौ, मरुतः, आपः, उषा, पृथ्वी, आदि देवी-देवताओं के प्रति नहीं है, अपितु दिन में दमकता सूर्य, रात के आसमान में चमकता चांद, रसोई में जलती आग—या फिर अग्निकुण्ड से निकलती ज्वाला या काले बादल में से फूट-निकली विद्युत्-रेखा, निस्तब्ध आकाश, तारकित निशा, गड़गड़ाते तूफान, स्वच्छन्द बहती नदियां, वर्षा की फुहार, ताजी-ताजी उषा और पुष्पों, फलों से भरी यह फैली पृथ्वी—प्रकृति के ये रूप है जो इन सूक्तों में स्तुति, उपासना, प्रार्थना का जैसे स्वयं विषय बन आते हैं। बहुत धीमे-धीमे, शायद युगान्तर में, प्रकृति के आंगन में हो रही ये लीलाएं सूर्य, सोम, अग्नि, द्यौः, मरुतः, वायुः, आपः, उषा, पृथ्वी के रूप में दैवी बन गईं, किन्तु फिर भी उनका मूल (प्राकृतिक) रूप सर्वथा प्रच्छन्न नहीं हो सका। सो, इस विषय पर वैमत्य का किंचित् भी अवकाश नहीं हो सकता कि

वैदिक गाथाओं के मुख्य देवी-देवता इन प्राकृतिक शक्तियों के ही 'मूर्त-करण' हैं। गाथाओं के आधार पर तुलनात्मक अन्वेषण ने कितने ही देवताओं का वास्तविक स्वरूप स्पष्ट कर दिया है जब कि यह भी सच है कि उनके मूल नाम-धाम में व्युत्पत्ति की वही स्पष्टता नहीं थी। इन पुराण देवों में—जिनकी मल प्रकृति कुछ अंशों में लुप्त हो चुकी है किन्तु सूक्तों में जिनकी प्रशंसा का आधार उनकी महिमा, उनकी उदात्तता, उनके अद्भुत कृत्यों को कहा गया है—इन्द्र, वरुण, मित्र, अदिति, विष्णु, उषा, अश्विनौ, रुद्र और पर्जन्य के गीत वेद में जहां-तहां बिखरे पड़े हैं : शुरू-शुरू में इनके नाम-धाम, और इनकी प्रकृति प्राकृतिक ही थी। यही नहीं; इन प्राकृतिक देवों के पार्श्व, अंग भी, विशिष्ट क्रिया-कलाप भी, आगे चलकर स्वयं देवता के नाम बन गए, नए देवता ही बन गए ! — स प्रकार सविता (प्रेरक, संजीवन) और विवस्वान् (उज्ज्वल), जो सूर्य के ही दो विशेषण थे, क्रमशः दो पृथक् देवता ही बन गए। विभिन्न जातियों तथा युगों के देवता वैदिक युगीन भारतीयों के विकसमान देव-बाहुल्य का ही एक चित्र हैं[16] जिसमें मित्र, विष्णु, और पूषा भी कभी सूर्यदेव के अनन्य रूप ही थे। पूषा, सम्भवतः, शुरू में गडरियों, ग्वालों का सूरज था, किन्तु वैदिक देवता-वाद में, आगे चलकर वह यात्रियों का तथा यात्रा का स्वतन्त्र देवता बन गया—जिसका काम था मुसाफिरों और पशुओं को रास्ते पर रखना, उनको भटकने न देना। मित्र ही **अवस्ता** का 'मिथ्र' है, और इससे यह सिद्ध होता है कि मित्र इण्डो-ईरानी युग का एक प्राचीन देवता है जबकि ईरानी और भारतीय अभी अलग नहीं हुए थे। किन्तु सभी देवताओं के मूल प्राकृतिक रूप को समझ सकना इतना आसान नहीं है। अभी तो इन्द्र, वरुण, रुद्र, अदिति, अश्विनौ आदि—वेद के प्रमुख देवताओं—के सम्बन्ध में भी पर्याप्त मतभेद है। एक सम्प्रदाय के अनुसार इन्द्र तूफान का देवता है और दूसरे के अनुसार वह सूर्य का ही एक प्राचीन रूप है। एक के विचार में वरुण आकाश का देवता है तो दूसरे के विचार में चन्द्रमा है। रुद्र—जो मरुतः का पिता होने के नाते, स्वयं एक तूफानी देवता है—ओल्डनबर्ग के अनुसार पर्वत तथा अरण्य का अधिष्ठाता है[17] जो हिलिब्राण्ड्ट के अनुसार उष्णकटि-प्रदेशीय जलवायु की विभीषिकाओं का देव है। अदिति एक परस्परा में आकाश की उन्मुक्तता है तो दूसरी में पृथ्वी की निरन्त पृथुता। अश्विनौ का सम्बन्ध ग्रीक दिओस्कूरि के साथ जोड़ा जाता है और जर्मन तथा लैटिक गाथाओं में भी उनका 'पुनर्जन्म' हम पाते हैं, किन्तु यास्क तथा अन्य प्राचीन भाष्यकारों के समय तक पहुंचते-पहुंचते वे एक समस्या बन चुके थे। दिन-रात, पृथ्वी और आकाश, उषा और सन्ध्या, सूर्य और चन्द्रमा, सान्ध्य तथा प्रभातिक नक्षत्र अथवा 'यामिनी' नक्षत्र-युगल—कितनी ही सम्भावनाएं इनके विषय में प्रस्तुत की गई हैं।[18] कुछ तो, आज गाथाविदों में प्रायः, इस सम्बन्ध में ऐकमत्य ही है कि वैदिक देवताओं का उद्भव

प्रायः प्राकृतिक घटनाओं अपिवा तत्त्वों से ही हुआ है। कुछ देवता अमूर्त भावनाओं के दैवी प्रतिरूप भी हैं, लेकिन उनके सम्बन्ध में जो सूक्त हमें मिलते हैं वे ऋग्वेद के दसवें मण्डल में ही संकलित हैं। उदाहरणार्थ, विश्वकर्मा संसार का स्रष्टा है, प्रजापति प्राणिमात्र का स्वामी है, श्रद्धा मनुष्य की उदात्त भावना है और मन्यु क्रोध का साकार रूप है। गाथाशास्त्र के कुछ निम्न देवता भी ऋग्वेद में आ जाते हैं, जैसे अप्सरसः। अप्सरसः वैदिक युग की—कलियां हैं, गन्धर्व घने जंगलों और खुले मैदानों की मंडराती आत्माएं हैं, और विभु—कुछ अर्धमानव-से, अर्धजन्तु-से प्राणी हैं। इनके अतिरिक्त, कितने ही दैत्य, भूत-प्रेत भी वेद में हमें मिलते हैं जिनके साथ देवताओं की कट्टर-शत्रुता लगी रहती है। असुर[१९] का नाम प्राचीन वाङ्मय में अपने पुराने (अद्भुत, दैवीशक्ति-सम्पन्न) अर्थों में ही प्रयुक्त हुआ है जिसका स्वाभाविक साम्य **अवस्ता** के 'अहुर' के साथ प्रतीत होता है (यद्यपि आगे चलकर असुर की गणना दैत्यों, दानवों में होने लगी)। यही नहीं, दास और दस्यु (जो मूलतः भारत के आदिवासी अनार्यो की संज्ञा थी) को हम ऋग्वेद के समय में ही रक्षांसि अर्थात् राक्षसों के साथ परिगणित होते देखते हैं—जैसे वे कोई समय-असमय ऊधम मचाने वाले भूत-प्रेत हों! ऋग्वेद में 'पितरः', अर्थात् पुराने बुजुर्गों, की आत्माओं की देवों की तरह पूजा विहित है, इन स्वर्गीय आत्माओं का राजा जो कि मरे हुओं का परलोक में अधिपति माना जाता है—इण्डो-ईरानियन युग का यम ही है, पारसियों के धर्मग्रन्थ में इसका नाम यिम है जो प्रथम मानव होने के नाते मानवजाति का आदिपुरुष है, और प्रथम मृत होने के नाते—शायद मूल में वह भी अस्तगामी सूर्य था या क्षीयमाण चन्द्रमा की एक मासिक कला—मृतलोक का आदिसम्राट् भी माना जाता है। मृतात्माओं का यह लोक कहीं आकाश में है, और मरते हुए आदमी की एक ही सान्त्वना होती है कि वह मर कर, उस परम-लोक में, राजा यम के साथ बसने जा रहा है। जीव के पुनर्जन्म अथवा निरन्तर आवागमन के सिद्धान्त की विभीषिका—जो परतर शतियों में सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक विचार का अन्तरंग सूत्र है—का संकेत ऋग्वेद में अभी नहीं मिलता। सारांश यह कि वैदिक सूक्तों में जो भावना हमें पग-पग पर मिलती है वह सम्पूर्ण उत्तर भारतीय साहित्य की भावना से सर्वथा पृथक् है, भिन्न है।

जिस प्रकार कि प्राचीन तथा अर्वाचीन भारतीयों के धार्मिक विश्वासों में इतना अधिक भेद है उसी प्रकार ऋग्वेद के साधारण जनों का विश्वास-आदि भी कुछ और ही वस्तु है—एक और ही जीवन-प्रणाली है। यद्यपि यह सच है कि ऋग्वेद के गीतों को हम जन-काव्य नहीं कह सकते क्योंकि इन गीतों का विकास पुरोहितों अथवा उद्गाताओं के विशिष्ट वंशों अथवा मण्डलों में हुआ, फिर भी—यह असम्भव है कि भारत के इन प्राचीन गवैयों ने ये कहानियां और ये धर्म के विधि-

विधान बिना किसी जनसाधारण की आस्था के आधार के ही बना लिये हों। निस्सन्देह, इन कविताओं में देवताओं के विषय में कुछ ऐसी बातें भी लिखी गई हैं जिनका मूल कवि की स्वतन्त्र कल्पना ही हो सकती है, किन्तु हमें यह मान कर ही चलना पड़ेगा कि ये ऋत्विक् भी आरम्भ में जन-प्रवाह का ही एक परम्परित अंग थे जो जन-साधारण के स्तर से कुछ ऊंचा उठ कर भी उससे सर्वथा पृथक् नहीं हो सके।[२०]

इस प्रकार, प्राचीन आर्यावर्त के धार्मिक विश्वासों का प्रथम रूप जानने के लिए इन वैदिक सूक्तों का महत्त्व बहुत अधिक है। काव्यदृष्टि से भी इनका विश्व-साहित्य में अपना ही स्थान है; यद्यपि—वेदों के कवि में हिब्रुओं की धार्मिक (कविता की) उड़ान और आन्तरिक उद्वलता बहुत कम पाई जाती है, वैदिक स्रोताओं का अपने देवताओं में विश्वास उतना दृढ़ तथा भय-स्पृष्ट भी नहीं है जितना कि बाइबल के सामिस्टों का अपने यिहोवा में। इन गीतों में ऐसा प्रतीत नहीं होता कि आवाज गाने वाले के अन्तःकरण से उठ कर स्वर्ग के देवताओं की ओर पंखों पर चल पड़ी है। देवताओं तथा कवियों में बड़ी निकटता है, और स्तोता जब कोई स्तुति गाता है—देवता के सम्मुख गौओं और पुत्रों के वरदान की आशा अभिव्यक्त करने में वह घबराता नहीं। "तू ही हमें सब कुछ देने वाला है", प्रायः इसी दृष्टि से ऋग्वेद (८. ४. १-२) की यह कविता हृदय से उठी है :—

और यदि, हे इन्द्र,
मैं भी तेरी ही तरह इन सभी वस्तुओं का मालिक होता,
तो मैं—अपने पुजारी को पशुधन से वंचित न रहने देता;
मैं तो उसे वरदानों से भरा-पुरा कर देता
—यदि, सचमुच, हे इन्द्र, मैं भी तेरी तरह ही पशुपति होता।

एक और कवि (८. १९. २५-२६) अग्नि की स्तुति इन शब्दों में गाता है :—

हे अग्नि,
यदि तू मर्त्य होता और मैं अमर्त्य
—अर्थात् 'मित्र' की ही भांति यदि मैं भी शक्ति का एक पुतला होता, मेरे देवता—
मैं तुझ पर कोई अभिशाप न आने देता
—गरीबी, उपेक्षा या कोई और नुकसान
अपने मित्र पर कभी न आने देता।

किन्तु, वैदिक सूक्तों का स्वरूप—उन सूक्तों का स्वरूप जो कि किसी प्रकार के यज्ञ-याग आदि के लिए नहीं अपितु विशुद्ध देव स्तुत्यर्थ लिखे गए थे—स्वयं देवताओं की प्रकृति के अनुसार बदलता रहता है। इन गीतों में वरुण के नाम से उच्छ्वसित उद्गार शायद सर्वश्रेष्ठ हैं। वरुण के नाम से अधिक सूक्त हमें नहीं मिलते,

और शायद वैदिक देवों में वरुण ही अकेला ऐसा देवता है जो मनुष्यों से कुछ ऊपर ही रहता है—और वैदिक कवि उसके निकट भय से कांपता हुआ, और श्रद्धा से विनम्र हो कर ही, पहुंचता है। वैदिक देवों में एक वरुण ही है जो मनुष्यों के धर्म-कर्म का ख्याल रखता है और पापियों को दण्ड भी देता है। इसीलिए वैदिक कवि पश्चात्ताप से प्रेरित होकर वरुण के संमुख अपने पापों के लिए क्षमा मांगने आता है। बाइबल के 'साम्-ज' की कुछ तुलना केवल इन्हीं वरुण गीतों के साथ ही हो सकती है। ऋग्वेद ५. ८५ का उद्धरण यहां अप्रासंगिक न होगा :—

आओ—
हम वरुण के गीत गाएं,
सम्राट् वरुण की स्तुति गाएं
—वरुण, जो पृथ्वी को सूर्य के लिए एक मृगचर्म की तरह बिछा देता है :
वृक्षों की चोटियों पर वायु का यह साम्राज्य उसी का है,
गौओं में दूध और घोड़ों में गति उसी ने भरी है,
हृदय में अनुभूति, समुद्र में वडवानल, और बादलों में बिजली,
आकाश में सूर्य और पर्वतों पर हरियाली और सोम
—सब वरुण की ही देन हैं।
वरुण ही जैसे एक भारी मश्क को नीचे की ओर खोल देता है
और पृथ्वी, अन्तरिक्ष, पाताल सब पानी से भर जाते हैं,
पृथ्वी धन-धान्य से पूरित हो जाती है।
धरती और आसमान, रगरग में भीग जाते हैं,
पर्वत, मानो,
बादलों से ढक जाते हैं और 'वीर'
शक्ति से भरे-पुरे उन बादलों को पृथ्वी की ओर छोड़ देते हैं।[११]
वरुण ही वह अद्भुत शक्तिशाली अमर सम्राट् है जो
दूर आकाश में बैठा हुआ
सूर्य की परिक्रमा द्वारा पृथ्वी को जैसे माप रहा है !
वरुण की राह में कभी कोई बाधा नहीं आई;
यह उसकी जादू-भरी शक्ति ही है जो
वर्षा की धाराओं को नदियों में
और नदियों को समुद्रों में—परिणत कर देती है।
और, हे परमदेव,
यदि हमने किसी अपने प्रेमी, भाई, मित्र और साथी का कभी कुछ बुरा किया हो,
अपने-पराए किसी का कभी बुरा सोचा हो,

तो, हे वरुण—
हमें उस पाप-वृत्ति से मुक्त करा दो।
और यदि कभी जुआरी बन कर हमने किसी से धोखा किया हो,
कभी धोखे में आए हों,
जानबूझ कर या अचेते में कोई पाप किया हो
—तो, हे देवाधिदेव,
हमें इन शृङ्खलाओं से मुक्त कराओ,...
हमें अपना बना लो।

ऋग्वेद में भी वरुण, जैसे अर्वाचीन भारतीय गाथाओं में, समुद्र का और जल का देवता भी बन चुका है, और इसलिए वह पापियों को जलोदर से पीड़ित भी कर सकता है। ऐसे एक जलोदर पीड़ित की प्रार्थना ऋग्वेद ७. ८९ में इस प्रकार अंकित है :—

हे वरुण,
मुझे इस मिट्टी-के-घरौंदे[२२] में बन्द न करो,
—मुझ पर कृपा करो।
ऐ बिजली बरपाने वाले, जब मैं हवा से भरे एक फूकने की तरह
कांपू,
—तो मुझ पर कृपा करो।
हे शक्ति-सम्राट्,
जब मैं, दुर्बल मनुष्य, कभी फिसलूं
—तो मुझ पर कृपा करना।
तेरा यह स्तोता जल के प्रवाह में खड़ा भी प्यासा है
—उस पर कृपा कर।
जब भी कभी हम दुर्बल मनुष्य
(तेरे नियमों का उल्लंघन करते हुए)
तेरे देव-दूतों के प्रति कुछ गुनाह करते हैं
—तो हे देव, हम पर कृपा करना, हमें क्षमा कर देना।

किन्तु इन्द्र की स्तुतियों में कुछ और ही स्वर है। इन्द्र जैसे वैदिकयुगीन भारतीयों का राष्ट्रीय देवता है, जन-गण-मन का अधिनायक है और—क्योंकि वह संघर्ष का युग था—इन्द्र रग-रग में जैसे एक युद्ध का देवता बन कर ही सामने आता है। फिर-फिर, कितने ही स्थलों पर, इन्द्र की प्रचण्ड शक्ति और युद्धवृत्ति के गीत गाए गए हैं। इन्द्र की असुरों पर विजय की, और बिजली की, प्रशंसा में कवि की प्रतिभा चमक उठती है। असुरों के साथ युद्धों में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण शायद

इन्द्र और वृत्र में हुई कभी न समाप्त होने वाली मुठभेड़ें हैं। इन्द्र का एक नाम वृत्रहन् है और इसी रूप में उसकी और उसके कुलिश की स्तुतियां वेद में स्थान-स्थान पर मिलती हैं। 'वृत्र' को वेदों में एक अजगर के रूप में दानवी शक्ति का अवतार बना कर सामने लाया गया है जो, नदियों को पर्वतों में बन्द करके, पृथ्वी को मुसीबत में डाल देता है। ('वृत्र' का शब्दार्थ भी सम्भवतः, अड़चन अथवा बाधा ही है।) इन्द्र इन नदियों की मुक्ति के लिए उत्सुक है। सोम-पान करके उसमें नूतन साहस, नया बल जाग उठता है—तत्क्षण वह युद्ध भूमि की ओर दौड़ता है और वृत्र को मार गिराता है और—लो, वृत्र की मृत-देह पर कूदती-उछलती पानी की धाराएं फूट कर आगे की ओर, सभी ओर, निकल पड़ती हैं! इन्द्र के इस महान् कृत्य का चित्र ऋग्वेद १. ३२ में खूब प्रतिमूर्त हुआ है :—

कवि इन्द्र के अद्भुत कृत्यों को गाने चला है :
इन्द्र का वह प्रथम कृत्य
जब कि, वज्र हाथ में ले,
उसने अजगर को मार गिराया था,
नदियों को मुक्ति दिला दी थी,
और ऊंचे, अभेद्य पर्वतों में कितने ही दर्रे बना डाले थे, . . .
. . .वृत्र तब पर्वत की चोटी पर मस्ती में सो रहा था
—जब इन्द्र ने उसका काम तमाम कर दिया।
यह शूं-शां करता, धरती पर तबाही बरसाता वज्र
इन्द्र के लिए त्वष्टा ने घड़ा है।
लो, देखो—
रंभाती गौओं की तरह जल की धाराएं
किस तेजी के साथ समुद्र की ओर बढ़ी जा रही हैं !

इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन्द्र-वृत्र के इन युद्धों में कोई बड़ी प्राकृतिक घटना ही निबद्ध है। वृत्र की मृत्यु पर धरती-आकाश कांप उठते हैं। वृत्र की हत्या, एक ही बार नहीं, कितनी ही बार होती है; और इन सूक्तों में इन्द्र को, भविष्य में भी, वृत्र को मारने और नदियों को मुक्त कराने के लिए आमन्त्रित किया गया है। वेद के प्राचीन भाष्यकार हमें बतलाते हैं कि इन्द्र बिजली और तूफान का देवता है, और यह भी बतलाते हैं कि नदियों को जेल में डालकर रखने वाले ये पर्वत, और कुछ नहीं, बड़े-बड़े बादल हैं; और यह भी कि वृत्र दुर्भिक्ष का अधिष्ठाता दैत्य है। यूरोप के प्रायः सभी तुलनात्मक गाथाशास्त्री इन्द्र-वृत्र की कहानी के इस आख्यान से सहमत हैं, क्योंकि इण्डो-यूरोपियन प्रागैतिहासिक युग में 'थुनार' भी एक वज्र-सा हथौड़ा (म्जेलनीर) लेकर बिजली और तूफान के अधिष्ठाता रूप में उधर मिलता भी है।

तथापि, हिलिब्राण्ड्ट ने यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वृत्र, मेघ तथा दुर्भिक्ष का अधिष्ठाता न हो कर, एक शीत-दानव है, जिसकी शक्ति को (सूर्य के रूप में अवतरित हो) इन्द्र नष्ट-भ्रष्ट कर देता है; इन्द्र के हाथों मुक्ति पाने वाली ये आपः वर्षा की धाराएं नहीं हैं, अपितु—उत्तर-पश्चिमी भारत की नदियां हैं जो सर्दियों में सूख जाती हैं और, जब सूरज की गर्मी से हिमालय की बरफ के तोदे पिघल जाते हैं, फिर से भर जाती हैं।

कुछ हो इन्द्र तथा वृत्र का मूल प्राकृतिक रूप वैदिक कवियों के संमुख स्पष्ट नहीं है। उनकी दृष्टि में यदि इन्द्र एक महान् शक्तिशाली अधिदेव है तो वृत्र उतना ही भयानक एक दैत्य जिसे वे श्यामवर्ण आदिवासियों के रूप में चलता-फिरता पाते हैं, क्योंकि—इन्द्र के ये युद्ध वेदों में केवल वृत्र के साथ ही नहीं अन्यान्य दैत्यों के साथ भी होते हैं: (इन्द्र और वृत्र के) ये संग्राम जैसे आर्यों और अनार्यों के बीच हुए युद्ध की ही एक प्रतिच्छाया हों। इन्द्र, सो, योद्धाओं का, वीरों का, देवता है और ऋग्वेद में आई उसकी कम-से-कम २५० स्तुतियों में यदि हम उसका कुछ सही, सजग रूप पा सकते हैं तो इसी एक युद्धप्रिय देवता के रूप में ही। उसकी भुजाएं लम्बी और शक्तिशाली हैं; अपने सुन्दर होठों से वह सोम के प्याले को एक ही घूंट में खाली कर देता है, बड़े मजे से चुस्की लेता है, और अपनी सफेद दाड़ी को सहलाता है, उसके बाल, उसकी सारी शक्लोसूरत—सुनहरी है; वह एक खासा लम्बा चौड़ा बृहत्काय प्राणी है जो पृथ्वी और आकाश की सीमा में बंधा नहीं रह सकता; शक्ति और बल में न कोई देव उसका मुकाबिला कर सकता है,और न-ही कोई मनुष्य। एक बार उसने दोनों लोकों को अपनी मुट्ठी में धर दबाया भी था। उसका एक प्रिय विशेषण है 'वृष' अर्थात्—बैल की ताकत वाला। जैसी ही उसकी शक्ति है, वैसी ही उसकी सोम-पान की आदत है (जिसका कोई हिसाब नहीं, और जिस पर इन गीतों में कितनी ही बार फबकियां भी कसी गई हैं)। वृत्र को मारने के बाद तो, कहते हैं, वह सोम के तीन 'टैंक' ही चढ़ा गया था और एक बार और (किसी और अवसर पर) इसका भी दस-गुना वह एक घूंट में ही पी गया! पैदा होते ही—और उसका जन्म भी कोई मामूली घटना नहीं थी (क्योंकि मां के पेट से ही उसने बोलना शुरू कर दिया था: "मैं इस बीहड़ रास्ते से नहीं निकलूंगा, मैं उधर से अपना रास्ता आप बनाऊंगा" ४. १८. २); पैदा होते ही—वह प्याले के प्याले साफ कर गया था! ऋग्वेद १०. ११९ में कवि ने उसे एक शराबी की तरह पेश किया है जो अपने से ही बातें करता जाता है—"नहीं भाई! मैं तो यूं करूंगा, नहीं, इस तरह नहीं", "मेरी जहां मर्जी आएगी, इधर उधर, कहीं भी, जैसा जी में आएगा, धरती को उठाके—फेंक दूंगा!" और हर एक पद्य का अन्त होता है, "बात क्या है?—क्या सोम मुझे तो नहीं चढ़ गया?"

एक युद्धप्रिय संग्राम-विजेता ही सचमुच आर्यों का राष्ट्रीय-देव बन सकता था, देवाधिदेव बन सकता था। यद्यपि ऋग्वेद में स्तुति करते-करते हर देवता को श्रेष्ठ और प्रथम कहा गया है—जिस प्रकार कि कवि लोग आम तौर पर अपने टटपूंजिया राजा की चापलूसी में पुल बांधते कभी थकते नहीं (जैसे वह विश्व-सम्राट् ही हो)—इन्द्र की स्थिति वेद में, (जिस प्रकार कि यूनानी आलिम्पस पर ज़िउस की थी) एक देवराट् की ही है। ऋग्वेद २. १२ में इन्द्र का एक गीत इस प्रकार है :—

जो, पैदा होते ही, सब देवताओं को बुद्धि और बल में मात दे गया;
जिसकी प्रभुता और पौरुष के सम्मुख दोनों लोक थर्राते हैं :
—वही हमारा इन्द्र है
जिसने कांपती धरती को थाम लिया,
जिसने पर्वतों को स्थिर कर दिया,
जिसने अन्तरिक्ष की अनन्त
रिक्तता को यूं ही माप डाला,
जिसने आसमान को गिरने से रोक दिया,...
—हमारा इन्द्र तो वो है ॥

वृत्र को मार कर जिसने सात सिन्धुओं को मुक्त करा दिया,
वल की गुफा में से जो गौओं को बाहर निकाल लाया,
दो बेजान पत्थरों को रगड़ कर जो आग पैदा कर सकता है,
जो युद्ध में सदा विजयी ही हुआ है,...
—हमारा इन्द्र तो वो है ॥

जिसने धरती की हर चीज को अस्त व्यस्त कर दिया,
जिसने दास लोगों को घुटनों पर ला झुकाया, तहस-नहस कर दिया,
जो अपने शत्रु की सम्पत्ति पर हमेशा ऐसे हावी हो जाता है
जैसे कोई जुआरी शर्त लगा कर...,
—हमारा इन्द्र तो वो है ॥

ऐसे महान् और भयावह नेता के बारे में भी लोग पूछते हैं—
"आखिर वो है कहां ?"
और कई तो यहां तक कह डालते हैं कि—
"इन्द्र कोई है ही नहीं !"
भाइयो ! उससे शत्रुता मोल न लो; अन्यथा—

तुम्हारी सम्पत्ति दिनों-दिन क्षीण ही होती जाएगी,
उसमें विश्वास रखो,
नहीं तो उससे बुरा कोई न होगा ॥

वह हर गरीब-अमीर (स्तोता) की सुनता है,
मुसीबत में पड़े पुरोहित का भी उसे ध्यान है,
जो उसके लिए सोमरस तैयार करता है—उसका ध्यान तो आते ही—
उसके होंठ चसक उठते हैं ॥

ये सब घोड़े और रथ,
ये ग्राम और ग्रामीणों का यह पशु-धन,
यह सूर्य और यह सुहावनी सुबह,
ये गहरी नदियां
—सब इन्द्र के अनुशासन में हैं ॥

जहां भी कहीं सेनाएं, युद्ध के लिए, परस्पर संमुख होती हैं
—इधर या उधर—
दोनों के महारथी एक इन्द्र का ही, सहायता के लिए, आह्वान करते हैं।
उसके बिना कोई विजय असम्भव है,
एक उसी की ही अपेक्षा हर योद्धा को सदा बनी रहती है;
शत्रु कितना भी बड़ा क्यों न हो, बढ़-चढ़ कर क्यों न आया हो
—इन्द्र उसे क्षण में चूर कर सकता है ॥

जो एक ही तीर से बड़े-से-बड़े पापियों को एक दम खत्म कर सकता है,
(भले ही वे लाखों क्यों न हों),
जिस पर दुश्मन के गरूर का तनिक भी असर नहीं पड़ सकता ...
—हमारा इन्द्र वही है
हमारा इन्द्र दैत्य-विजयी है, दानव-जयी है ॥

हां, यह वही इन्द्र है जिसने शम्बर को—
चालीस साल बाद—ढूंढ कर,
कभी उसकी गुफा से बाहर खींच निकाला था,
हां, यह वही इन्द्र है जिसके हाथों वृत्र का विनाश
बस—देखते ही बनता था ॥

ये सात रश्मियां ही उसकी सात शक्तियां हैं,
उसकी ताकत एक मस्ताये बैल की ताकत है,
सात रश्मियां और सातों नदियां एक साथ ही बह निकली थीं...,

वज्र हाथ में लेकर उसने स्वर्ग की ओर उड़ते रौहिण को
कभी सबक सिखाया था,...

धरती और आकाश उसके आगे सीस नवाते हैं,
पहाड़ उसके सामने टिक नहीं पाते,
इधर सोम हो, हाथ में बिजली हो,...
—वह वज्र-बाहु इन्द्र ही हमारा इन्द्र है ॥

सोम का रस निकालने वाले,
और यज्ञों में पुरोडाश की हवि दे कर उसके गीत गाने वाले...
जो भी सच्चे हृदय से इन्द्र की ओर उन्मुख होते हैं, उनकी
—कामनापूर्ति में इन्द्र कभी पीछे नहीं हटता ॥

हे इन्द्र, जो तू पुरोडाश देने वाले का,
और सोम रस निकालने वाले का—घर भर देता है,
—क्या तू मेरे घर को भी वीर पुत्रों से, वीर गाथाओं से, नहीं भर देगा ?

वरुण और इन्द्र की वैदिक स्तुतियों में करुणा है, प्रवाह है, उद्धलता है। अग्नि की स्तुतियों में जैसे मनुष्य के प्रेमाविल हृदय की कोमल वृत्ति है । ऋग्वेद में अग्नि के दो रूप मिलते हैं—एक यज्ञ की अग्नि, दूसरी गृहस्थ की अग्नि : दोनों ही रूपों में अग्नि मर्त्यों का मित्र है। वह देवदूत है और कवि के साथ उसका एक-हृदयता का जैसे कोई अवर्ण्य नाता-सा है। वैदिक कवि जब अग्नि से प्रार्थना करता है तो यही समझता है कि अग्नि उसका पिता है, वह अग्नि का पुत्र है; सो—उसका देवता उसकी इच्छा पूर्ण करेगा ही ! इन्द्र क्षत्रिय-योद्धाओं का देवता है तो अग्नि इन्सान का गृह-देवता है जो उसके बाल-बच्चों की, गृहस्थ की, देखभाल करता है। अग्नि वेद में प्रायः गृहपति, घर-घर आया अतिथि—और अतिथियों में भी प्रथम अतिथि—है। अग्नि एक अमर है जो हम मर्त्यों में आ बसा है। हमारे घर की, हमारे वंश की सारी समृद्धि अग्नि के हाथों में हैं। बड़े पुराने समय से जब नई बहू घर में आती है उससे इसी पवित्र गृहमेधाग्नि की परिक्रमा कराई जाती है। शायद इसीलिए ऋग्वेद १. ६६. ८ में अग्नि को कन्याओं का प्रेमी, और विवाहिताओं का पति कहा गया है; इसके अतिरिक्त, विवाह-संस्कार में भी अग्नि का एक

सम्बोधन 'पतिः कनीयान्'—है, और वहां यह भी लिखा है कि वर वधू को अग्नि से एक प्रसाद के रूप में ही पाता है ! विवाह हो, बच्चों का जन्म हो, या घर में कोई और खुशी आए—बड़ी सीधी-सादी भाषा में अग्नि की स्तुति होती है। विवाह-मण्डप में बहू की ओर से कहलाया जाता है: "हे अग्निदेव, तुम्हीं तो हमारे घर के मालिक हो, तुम ही इसकी रखवाली करना। जब वर आज इसका हाथ पकड़ कर अपने घर ले जाएगा, तुम्हीं इसके गर्भ को सफल करना कि वह जीते-जाते बच्चों की मां बने, अपने बच्चों को हंसता-कूदता देखे और यह इसका वर भी इसके बच्चों की बड़ी उम्र तक खुशहाली देख सके।" यज्ञ-वह्नि के रूप में अग्नि देवों और मर्त्यों के बीच एक माध्यम है जो हमारी आहुति देवताओं तक पहुंचाता है कि वे उसका भोग कर सकें और, कभी-कभी तो, स्वयं देवताओं को ही यज्ञमण्डप में भी ले आता है। शायद इसीलिए वेदों में उसे ब्रह्मा, पुरोहित, वेधाः, होता, तथा ऋत्विक् भी कहा गया है। गाथांश तथा काव्यकला के मूल 'समन्वय' को, विशेषतः अग्निपरक स्तुतियों में, पृथक् कर सकना प्रायः असम्भव है। घी की आहुतियों पर आहुतियां डाल कर यज्ञाग्नि की ज्वाला को प्रज्ज्वलित रखा गया, और कवि कहता है—"अग्नि का मुख दमकता है, उसकी पीठ चमकती है, और उसके बालों से घी की धाराएं बहती हैं !" और जब अग्नि को ज्वालामय केशों वाला, लाल दाढ़ी वाला, और तेज जबड़ों और सुनहरी दांतों वाला कह कर वेदों में पुकारा जाता है, या फिर उसकी ज्वालाओं को अग्निजिह्वा कहा जाता है और उसके चारों तरफ़ फैलती रोशनी को देख कर भ्रम हो जाता है कि उसकी आंखें चार हैं या हज़ार—सारा वर्णन काव्यमय भी प्रतीत होता है, गाथामय भी। अग्नि की तड़क-भड़क को बैल की चिंघाड़ से उपमा दी गई है; यही नहीं, उसे बैल तक कहा गया है, उसकी उठती ज्वालाएं कवि की दृष्टि में किसी महापशु के सहस्र शृंग हैं जिन्हें गुस्से में आग-बबूला हो कर वह तेज़ कर रहा है ! इसी प्रकार, कितनी ही बार, अन्यत्र, अग्नि को खुशी में हिनहिनाते एक घोड़े के रूप में वर्णित किया गया है। ये ज्वालाएं क्या हैं?—घोड़े का जोश में आकर ऊधम मचाना ही तो है; गाथाओं में सर्वत्र और, सो, धर्मकृत्यों में भी अग्नि का अश्व से निकट सम्बन्ध रहा है। किन्तु जब अग्नि को एक पक्षी के रूप में, एक बाज़ के रूप में, प्रस्तुत किया जाता है—जो जमीन और आसमान के बीच में इधर से उधर और उधर से इधर उड़ता है, ज़रा आराम नहीं लेता—तब हमें सन्देह होने लगता है कि कहीं यह आसमान से गिरती बिजली तो नहीं ? इन रूपों से एक बिल्कुल पृथक् रूप अग्नि का और भी है जब ऋग्वेद १.१४३.५ में ऋषि कहता है कि "अग्नि वनों को हड़प जाता है, उन्हें चबा-चबा कर चकना-चूर कर देता है—जैसे ही जैसे कोई नृशंस क्षत्रिय अपने शत्रु का कुछ बाकी न रहने दे।" ऋग्वेद १. ६५. ८ में पुनः कहा है कि हवा चलती है, आग

जंगल के एक सिरे से दूसरे सिर तक छा जाती है, और अग्नि "पृथ्वी के इन केशों को" आन की आन में काट डालता है।

सचमुच, यदि इन अग्नि-गाथाओं का विश्लेषण किया जाए, तो इनका स्पष्ट उद्भव कवियों के इन्हीं रूपकों तथा अन्य अलंकारों में हम पाएंगे। वेदों में अग्नि के तीन जन्मों अपिवा जन्मस्थानों की कथा मिलती है: आकाश में सूर्य के रूप में, पृथ्वी पर मर्त्यों द्वारा दो अरणियों की रगड़ से निकली आग के रूप में, और जल में बिजली के रूप में (अग्नि विद्यमान है)। अरणियों में से जब आग फूटती है तो कवि कहता है "जैसे बच्चा पैदा होते ही अपनी दोनों माताओं को खा जाए (ऋग्वेद, १०. ७९. ४.)!" एक और स्थान (१. ९५. २) पर अग्नि की त्वष्टा के रूप में स्तुति करते हुए कहा है कि दस कुमारियों की कोख से वह जन्मता है। ये दस कुमारियां, और कोई नहीं, हमारी दस अंगुलियां ही हैं जो कभी नहीं थकतीं; और, क्योंकि यज्ञाग्नि को हमेशा दो अरणियां रगड़ कर ही उत्पन्न किया जाता था—इसलिए, सम्पूर्ण ऋग्वेद में अग्नि को 'शवसो न पाद्' (शक्ति का पुत्र) कहा जाता है।

यज्ञकाण्ड में अग्नि का यह महत्त्व होने से ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों में अग्नि की ही चर्चा है। अग्नि-परक इन दो सौ के लगभग गीतों को हम यज्ञगीत कह सकते हैं (जिनमें अधिकांश रचे भी यज्ञ के प्रसंग में ही गए थे)। इन गीतों में बड़ी सीधी-सादी प्रार्थनाएं हैं। हो सकता है वे भी पुरोहितों की ही रचनाएं हों, किन्तु—कवित्व इनमें 'हो सकता है', स्पष्ट है। ऋग्वेद का प्रथम सूक्त (१. १) इस प्रकार है :—

औरों के देवता कितने ही हों,
मेरा देवता तो बस एक अग्नि ही है।
वही मेरा पुरोहित, ऋत्विक्, होता, उद्गाता-सब कुछ—है।
यह सब उसी का प्रसाद है कि मेरा घर भरा-पुरा है।

अग्नि की पूजा लोग पहले भी करते थे,
आज भी करते हैं, और आगे भी करते रहेंगे।
अग्नि ही हम मनुष्यों के लिए देव-पथ का प्रदर्शक है।

यह धन-धान्य, यह सम्पत्ति, यह खुशहाली,
यह बालकों की चुलबुल से सजीव मेरा छोटा-सा परिवार,
और यह मेरा यश, नाम
—सब कुछ अग्नि की देन ही तो है।

हे अग्नि,
तुम किस प्रकार—
यज्ञ भूमि की और यज्ञिय जीवन की अभिरक्षा कर के
—देवोन्मुख हो जाते हो ?

क्या अग्नि हमें बुला रहा है ?
हां, एक वही तो अपना वचन पालना जानता है।
सांच को आंच क्या ? वह लो—
अग्नि, देवताओं को अपने साथ ले,
इधर ही चला आ रहा है !

अग्नि जो कुछ भी यज्ञ-शेष के रूप में हमें देता है
वह हमारा अंग बन जाता है,
हमारी जिन्दगी का अंग बन जाता है :
—अग्नि 'अंगिरस्' है।

ऐ मेरे जीवन के अंधियारे में उजियारी भर देने वाले !
मुझे तू अपना ही अंग बना ले—
मेरे मन, वचन, कर्म सब तेरी ज्वालाओं में उज्ज्वल हो उठें :

तू ही तो मेरा यज्ञपति है,
तू ही तो मेरे धर्म-कर्म का 'वाली है,
और तू ही तो मेरा गृहपति भी है :
—यह घर और किसका है ?

अग्नि मेरा पिता है, मैं उसका पुत्र हूं ।
और—पुत्र अपनी फरियाद और किससे कहेगा ?
अग्नि की छत्र-छाया मेरे घर पर सदा बनी रहे ।

ऋग्वेद की कवित्वमयता में सचमुच काव्य के कुछ अनमोल रत्न भी संचित हैं। सूर्य, पर्जन्य, मरुतः, उषा के गीतों में प्रकृति की सम्पूर्ण सुषमा पुष्पित हो उठी है, उदित हो उठी है, प्रवहमान हो उठी है। विशेषतः उषा के गीतों में तो कवि के होंठों पर सरस्वती नाचती प्रतीत होती है। उषा की सौम्य सुषमा सर्वथा मृदुवर्णों में अंकित हुई है। उषा की आंखों में उन्मेष है, यौवन का वह प्रथमोन्मेष जब जवानी अपने को कुछ जानने लगती है और मां उसे साज-संवार कर घर के बाहर 'आंगन' में ले आती है ! बाहर प्रकृति रंगस्थली बन जाती है और उषा का नृत्य आरम्भ होता है। उसके वे झीने वस्त्र आप से आप खिसकने लगते हैं और मर्त्य—कुमारी

के उस प्रथम वक्षोदय को देखकर—दंग रह जाता है! प्राची के मंच पर कुमारी का यह नृत्य उजियाली के कपड़ों में से जैसे बाहर निकलता-सा हम रोज देखते हैं—जैसे स्वर्ग के दरवाजों को खोल कर रोशनी और जवानी एकरूप हो कर बाहर निकल आए और बाला के मूकभाव में, हमारे लिए भी, कुछ आमन्त्रण हो (ऋग्वेद ५. ८०. ५-६)!—

अंग-अंग से चैतन्य उगलती सी,
प्रकाश में नहाती सी—
वह एकदम खड़ी हो गई
—कि हम मर्त्य स्वर्ग की इस पुतली को क्षण भर देख सकें
—और हमारे जीवन से सब अंधकार, द्वेष चला जाए।

स्वर्ग की पुतली, वह देखो—
मनुष्यों के सम्मुख आ कर
अपना मस्तक झुका रही है :
और इसी रूप में बाला के मुग्ध सतीत्व को
हम रोज देखते हैं और, देख-देख,
गीतों में मुखर हो उठते हैं।

ऋग्वेद ६. ६४ का कवि कहता है :—

ये चमकीली उजली उषाएं
जल की तरंगों के समान शुभ्र—उठती हैं, और
दुनिया के सारे रास्ते चमक उठते हैं,
दुनिया की सारी सम्पत्ति को एकत्र पुंजित हम देख लेते हैं!

किस प्रकार यह दिवस्-पुत्री, एक अज्ञात मित्र की भांति,
अपना सर्वस्व हमारे सम्मुख उंड़ेल देती है,
और वत्सल मां की भांति जैसे दूध तक उंड़ेल देती है?

उषा एक गवालिन है—
ये किरणें उसकी लाल-लाल गौएं हैं,
और यह दूर चमकता सूर्य मेरी गवालिन का बाल-गोपाल है;...
दुनिया का अंधकार उसके शत्रुओं की, मानो, एक अक्षौहिणी है
जिसे वह अपने तीर-कमान से आंख-मारने की देरी में खदेड़ भगाती है!

किस प्रकार मेरी गवालिन
पहाड़ों के दुर्गम रास्तों पर
कूदती-फांदती चली जाती है
—सजीव और दुर्जय :
समुद्र उसके रास्ते की बाधा नहीं बन सकते ।
ओ गवालिन मेरी, इस धरती को अपने
(छाती में 'शान्त') दूध से उजला कर दे !

गोधूलि 'उषा की वेला' है—
हम नींद से जागते हैं और उधर आकाश में उजियारी छाई होती है,
गायों के रंभे नाद से पृथ्वी भर जाती है,

पक्षी घोंसलों से बाहर निकलते हैं,
और किसान
कुछ पाथेय ले कर खेतों की ओर निकल पड़ते हैं,...
तो कुछ ऐसे भी हैं जो घर की रखवाली पर पीछे ही रह जाते हैं—
इन्हे अपने लिए कुछ नहीं चाहिए—
—उषा ही इन्हें (अपना) सब कुछ दे देगी !

'वात' परक एक सूक्त (ऋग्वेद १०. १८८) इस प्रकार है :—

सुना तुमने ?—यह वात का रथ आ रहा है :
यह बिजली की कड़क और तेजी
जो आसमान को अन्दर से भर देती है
—धूल से धूसरित कर देती है !

वात के झुंड-के-झुंड जोश में आगे बढ़ते हैं
—वैसे ही जैसे औरतें किसी मेले की ओर निकल पड़ी हों !
वात और वात के सैनिक—दोनों एक ही रथ पर सवार हैं
—और यह रथ विश्वपति की जययात्रा का रथ है ।

वात को—एक दिन के लिए भी, एक क्षण के लिए भी—
आराम हराम है ।
जीवन में प्रथम उत्पत्ति प्राण की हुई थी,
किन्तु प्राण की मित्रता जल से हो गई—
यह युगल ही तब से विश्व की सम्पूर्ण गतिविधि को संभाले हैं ।
किन्तु प्रथम-जा: इस विश्वपति का जन्म कहां हुआ था ?

देवों के जीवन का आधार भी प्राण ही है—
यही प्राण जो पृथ्वी-पुत्र सा यहां से ऊपर की ओर उठता है !
आवाज तो उसकी सुनाई देती है, किन्तु वह दिखाई कहीं नहीं देता
—जैसे

लुक-छिप खेल रहा हो :
मां से (पृथ्वी से, पृथ्वी के पुतलों से)—लुकछिप खेल रहा हो !

इन कवित्वमय गीतों के निकट कितना ही अधिक भाग ऋग्वेद का यज्ञपरक है, कर्मकाण्डपरक है और उसकी उपयोगिता भी आरम्भ से ही विनियोग के अतिरिक्त और कुछ नहीं रही। किन्तु कभी-कभी दोनों में एक स्पष्ट विभाजक-रेखा खींच सकना मुश्किल हो जाता है : ऐसे गीतों को हम एक श्रद्धा से भरे हृदय का स्वाभाविक उद्‌गार मानें या प्रार्थनापरक शब्दों का यूं-ही तोड़-मरोड़—यह प्रायः हमारी अपनी ही रुचि पर निर्भर करता है। इन प्रार्थना-गीतों में 'वही' शब्दमयता है, प्रायः 'वही' तन्त्रात्मकता है—जो कानों को चुभने भी लग जाती है। इन गीतों में, और तो और, देवताओं में भी भेद करना मुश्किल हो जाता है, क्योंकि—देवता सभी, एक-से शक्तिशाली हैं, उनकी एक ही रूप में स्तुति होती है, और धन-धान्य पशु, पुत्र आदि के रूप में वे एक-ही वरदान हमें दे सकते हैं। कई गीतों में तो यह यज्ञ-परता इस हद तक जा पहुंची है कि—वेद के प्रायः सभी देवता एक ही जगह इकट्ठे कर दिए गए हैं और उन्हें एक ही साथ भुगता भी दिया गया है! उदाहरणतः—सोम-सत्र में हर देवता अपना भाग लेने आता है ; और उन्हें— इदम् अग्नये, इदं सोमाय, इदं न मम—एक ही पेटेन्ट फार्मूले से बुलाया जाता है! वरुण, इन्द्र तथा अग्नि परक उपरि-उद्धृत गीतों की तुलना में ऋग्वेद ७. ३५ का यह निदर्शन पर्याप्त होना चाहिए :—

इन्द्र और अग्नि,
इन्द्र और वरुण,
इन्द्र और पूषा :
जिन्हें हम यह आहुति दे रहे हैं
—हमें सुख दें, सम्पत्ति दें।

भग और पुरन्धि हमें सम्पत्ति दें।

धाता, धर्ता, और यह फैली पृथ्वी
—हमें सुख दे सम्पत्ति दे।

धरती और आकाश, पहाड़ और नदियां,
और ये देवों के प्रति हमारे उद्‌गार
—हमें सुख दें, सम्पत्ति दें ।

अग्नि की चमकती चितवन,
मित्र और वरुण,
और अश्वि-युगल—हमें सदा सुखी रखें;
और पुण्यात्माओं सन्तों के कार्य,
और यह चलती फिरती हवा
—हमें सदा सुखी रखे ।

इसी प्रकार के पन्द्रह पद्य विभिन्न देवताओं से सुख और सम्पत्ति मांगते-मांगते मूक हो जाते हैं।

इन्हीं यज्ञात्मक गीतों के प्रसंग में हम 'आप्री' सूक्तों का उल्लेख करना चाहेंगे—जिनमें कुछ विशिष्ट देवताओं, कुछ दैत्यों, तथा यज्ञ से सम्बद्ध कुछ वस्तुओं के अधिष्ठातृ प्रतिरूपों को, शान्त करने का प्रयत्न किया गया है। ऋग्वेद में ऐसे दस सूक्त मिलते हैं और पशु-यज्ञों में उनका विनियोग भी कुछ विशेष हुआ करता था। हर सूक्त में प्रायः ११-१२ पद्य हैं और हर-एक में अग्नि की विभिन्न नामों द्वारा स्तुति की गई है कि वह देवताओं को यज्ञभूमि में ले आए। चतुर्थ पद्य में पुरोहित, ऋत्विक् कुशा का स्मरण करते हैं कि यहां बैठ कर देवता हवि का आस्वादन कर सकें। सूक्त में कुछेक देव-देवियों की उपेक्षा असम्भव प्रतीत होती है और अन्तिम पद्य में प्रायः यज्ञस्तूप की स्तुति की जाती है कि वह यज्ञाहुति को देवताओं तक पहुंचा दे।

ऋग्वेद का नवां मण्डल, जैसा कि हम ऊपर कह आए हैं, सारा का सारा ही विनियोगात्मक है—उसके सारे गीत सोम-सत्रों में, सोम की पूजा में, प्रयुक्त हुआ करते थे। कई बार तबीयत तंग हो आती है कि यह सोम-रस की सम्पूर्ण विधि आखिर है क्या ?—बूटी का वही पीसना, अन्य द्रव्यों को मिलाना, फिर, उसे साफ करना और घड़ों-प्यालियों में डालना, इत्यादि-इत्यादि; और—बार-बार इन्द्र को सोमपान के लिए बुलाया जाता है, सोम और इन्द्र की एक साथ स्तुति होती है, और उनसे धन की, वर्षा के लिए प्रार्थना की जाती है: चलनी में छनता हुआ सोमरस, मानो, वर्षातन्त्र का मूर्त्त प्रतीक है। इस घिसी-घिसाई पूजा में एक सुन्दर उपमा या रूपक की अपेक्षा प्रायः दुरपेक्षा में ही परिणत हो जाती है। ९. १९. ६ में लिखा है :—

भेड़ की ऊन में से छन कर
जब सोम बाहर निकलता है
और चमक-दमक के साथ बाहर निकलता है,
तो ऐसा प्रतीत होता है—
जैसे कोई वीर, युद्ध में विजयी हो कर, घर लौट
रहा है, और—
अपने विजित गोधन के साथ गर्व में खड़ा हो गया है !

हमने ऊपर कहा था कि इन विनियोगात्मक मन्त्रों में भी कहीं-कहीं काव्य की उदात्त छटा आ गई है, इसका मूर्त प्रमाण ऋग्वेद का अन्त्येष्टि सूक्त है। प्राचीन भारत में शव को प्रायः जलाने का रिवाज था परन्तु, शायद उससे भी पुराना रिवाज मुर्दे को गाड़ने का था—जिसके सबूत हमें इण्डो-यूरोपियन परम्पराओं में मिलते हैं। ऋग्वेद १० .१८. १०-१३ में इसी, 'धरती में समाने' का कितना सुन्दर चित्रण है:—

जाओ, पृथ्वी-पुत्र—
अपनी मां की गोदी में जा कर सो जाओ।
वो देखो—वह किस उत्सुकता के साथ तुम्हारी ओर बाहें फैलाए है !
तुम्हारी कोमल देह को वह
(निहायत हिफाजत के साथ)
विशीर्ण होने से बचाए रखेगी।

पृथ्वी अपना सारा बोझ इस पर न डाल दे
—पृथ्वी इसके लिए कोमल शय्या बन जाए,
इसकी अन्तिम शरण बन जाए;
मां का आंचल फिर, लोरी में,
अपने शिशु को छुपा ले।

पृथ्वी अपना हृदय खोल दे—
इस पवित्र स्थान पर सहस्रों स्तूप उठ खड़े हों,
भवन उठ खड़े हों, दूध घी की नदियां बह निकलें कि—
हमारे इस विदा होते बन्धु को किसी प्रकार की कोई कमी
अनुभव न होने पाए।

यह स्थान है जहां मैं तुम्हें मिट्टी से ढक देता हूं,
यह मेरा तुम पर मिट्टी डालना,
ऐ मेरे बन्धु,

तुम्हें तकलीफ न दे ।
तुम्हारे पूर्व पितर, और उनके भी पितर, स्वयं यम,
तुम्हारे अगले जीवन के लिए सब साज-समान जुटा रखें ।

ओल्डनबर्ग[23] का विचार है कि ऐसी कविताएं भी पुराने समय में मूलतः अन्त्येष्टि यज्ञ का ही अंग थीं : असम्भव नहीं, क्योंकि संस्कार-विधियों में लिखा भी है कि अन्त्येष्टि के पश्चात् मृतात्मा की अस्थियां चुन कर उन्हें एक पात्र में, संभाल कर, गाड़ दिया जाता था। सो, हो सकता है ये पद्य अस्थिपात्र को, अथवा भस्म-पात्र को, गाड़ने के समय बोले भी जाते हों। किन्तु हमें ऐसी सम्भावना कुछ जंची नहीं, क्योंकि—शब्द स्पष्ट हैं : पृथ्वी का 'अपना सारा बोझ इसकी कोमल देह पर न लाद देना'—जिसकी संगति स्वयं शव के ऊपर डाली जा रही मिट्टी के अतिरिक्त और किसी प्रसंग में बैठती ही नहीं। और यह अस्थिसंचय भी, और यह भस्मपात्र को गाड़ना भी, खुद मुर्दे को जमीन[24] में गाड़ने का एक अवशेष ही तो है ।

ऋग्वेद १०. १६. १-६ में सम्भवतः इसके विपरीत किसी परतर युग के अन्त्येष्टि संस्कार का ही उल्लेख प्रतीत होता है। अर्थी को ठिकाने से रख कर जब लकड़ियों में समिधा डाली जाती हैं—और ज्वालाएं शव के ऊपर एक-रूप हो जाती है—तब पुरोहितों की आवाज उठती है :—

हे अग्नि
इसे जला कर खाक न कर देना,
इसके अंग-प्रत्यंग का विच्छेद न कर देना;
आग में पड़ कर जब यह कुन्दन बन जाए, तभी—
इसे इसके पितरों के पास भेजना, पहले नहीं;

जब इसमें कुछ परिपक्वता आ जाए,
जब यह भावी जीवन के लिए उपयुक्त कुछ साधना कर चुके, तभी—
इसे पितृयान पर प्रवर्तित करना
कि—यह देवों में अनुशासन कर सके ।

सूर्य तेरी आंख को वापिस ले ले, वायु तेरे प्राण को;
अपने कर्मानुसार तू पृथ्वी पर या स्वर्ग में, या जल में,
पुनर्जन्म ले, या फिर—
वनस्पतियों में
अपना नया घर बना लेना !

हे अग्नि—
इस (हमारे बन्धु) के अ-जात भाव पर ही
तेरा अधिकार है;
कहीं अपनी तीव्र ज्वाला से इसे सर्वथा नष्ट न कर देना,
इसे अपना कोई पुण्य-रूप देकर ही,
पुण्यात्माओं के लोक का अधिकारी करना ।

इन सूक्तों में मृत्यु के पश्चात् जीव की गतिविधि पर प्राचीन अन्धविश्वास तथा दार्शनिकों की अन्तर्दृष्टि का क्षितिज कुछ खुलने लगा प्रतीत होता है । यही एक ऐसा सूक्त नहीं है जिसमें एक मृतात्मा की विदाई पर अग्नि और पितरों का उल्लेख एक साथ मिलता हो—ऋग्वेद के प्रायः बारह सूक्तों में, 'संसार और सृष्टि' के प्रसंग में, सम्पूर्ण चराचर से एकीमत किसी सर्वात्मतत्त्व का प्रथम संकेत हमें मिलता है—जो कि सम्पूर्ण (परतर) भारतीय दर्शनशास्त्र का तब से एक अन्तर्यामी सूत्र-सा चला आता है ।

बहुत पहले से ही देवताओं की शक्ति पर, यहां तक कि देवताओं की सत्ता पर, भारतीयों के मन में सन्देह उठ चुका था । ऊपर ऋग्वेद २. १२ के उद्धरण में हम देख आए हैं कि इन्द्र की अद्भुत शक्ति और कारनामों में दृढ़ विश्वास के साथ-साथ कुछ लोग यह प्रश्न भी साफ-साथ उठाने लग गए थे कि "दिखाओ हमें—तुम्हारा वह इन्द्र है कहां ?" और वे कहने भी लग गए थे कि, "इन्द्र तो कोई है ही नहीं !" इसका उत्तर ऋषि सिर्फ यही दे सका था कि, "लोगो, इन्द्र में विश्वास रखो—कुछ खुदा खोफ करो, बन्दे बनो । यह सब सचमुच इन्द्र की कृतित्व ही है ।" इसी प्रकार के सन्देह ८. १००.३ में भी उठाए गए है जहां कहा गया है कि "यह स्तुति इन्द्र को ही अर्पित है **यदि सचमुच कहीं कोई इन्द्र है** ।" किन्तु लोग कहते हैं कि हमने तो इन्द्र के दर्शन कभी नहीं किए ! सो, स्वभावतः, मन में यह सन्देह जग उठता है, "तो हम स्तुति करें किसकी ?" ऐन इसी मौके पर इन्द्र स्वयं प्रकट होकर अपनी सत्ता और महत्ता का प्रमाण दे देता है : "इधर देख—ओ गीत गाने वाले, मैं इधर खड़ा हूं, चराचर जगत् की सब शक्तियों से परे और—शक्तिशाली ... ... " इत्यादि, इत्यादि ।

किन्तु जब देवाधिदेव इन्द्र के सम्बन्ध में ही इस प्रकार के सन्देह उठने लगे, तब बहुदेवतावाद के सम्बन्ध में और इस प्रश्न के सम्बन्ध में कि 'क्या देवताओं को आहुतियां डालने का कुछ लाभ है भी ?'—सन्देह उठना युक्तियुक्त ही था, स्वाभाविक ही था । ऋग्वेद १०. १२१ में प्रजापति की ही स्तुति सृष्टि के एकमात्र स्रष्टा तथा रक्षिता के रूप में की गई है, किन्तु प्रत्येक पद्य की टेक एक ही है : "हम

किस देवता की स्तुति करें, किस देवता को हवि चढ़ाएं ?" इस टेक में कवि का आन्तरिक संशय और निश्चय स्पष्ट अंकित है कि बहुदेवतावाद में कुछ नहीं धरा, अगर देवता सचमुच कोई है तो वह एक ही है जिसे स्रष्टा कह लो प्रजापति कह लो—कोई भेद नहीं आता : हमें उसी की स्तुति करनी चाहिए। ऋग्वेद १०. १२९ में यह सन्देह अपनी चरम सीमा को पहुंच गया प्रतीत होता है। इस सूक्त[१५] को 'सृष्टि का सूक्त' कहा जाता है। बड़े गम्भीर पर्यवेक्षण और चिन्तन के पश्चात् ऋषि का उद्गार है :—

सृष्टि के आदि में न भाव था न अभाव था,
न हवा थी, न अन्तरिक्ष था,
न यह ऊपर फैला हुआ आसमान का शामियाना ही था।
तो फिर—यह सब था कहां ?
—क्या किसी अतल सागर में 'अन्तर्गभित' था ?

न मृत्यु थी, न जीवन था, न कोई अमृत नाम की वस्तु थी,
दिन और रात में न कोई तब भेद था,
सब-कुछ—एक-रूप था :
और यह एक-रूप अव्यक्त 'तत्' ही—पता नहीं किस तरह
—हवा के बिना भी तब जिन्दा था !

डरते-डरते ऋषि सृष्टि की उत्पत्ति के प्रश्न को कुछ सुलझाने की करता है। वह कल्पना करता है कि सृष्टि के आदि में सब कुछ एक घना अन्धकार-सा, कुछ गहन-सा, कुछ अतल गम्भीर समुद्र-सा (जिसकी न कोई थाह हो, न कोई पार हो) था। कब तक यह अवस्था रही, नहीं कहा जा सकता। तपस् की अन्तर्मयी शक्ति द्वारा वह निगूढ़ 'एकं तत्' अकस्मात् प्रकट हो गया ! यह 'एकं तत्' कुछ बुद्धिगम्य किन्तु अदृश्य, अपिण्ड, अन्तर्व्याप्त तत्त्व है जो सदा-विद्यमान रहता है। 'एकं तत्' से—(सबसे पहले) मन की उत्पत्ति हुई, और मन से फिर—काम की, प्रेम की, वासना की उत्पत्ति हुई। ऋषियों ने अपने हृदय में दृष्टि डाल कर मालूम किया कि यह काम ही भाव तथा अभाव का विभाजक 'क्षितिज' है। किन्तु—अभी यह सूक्ष्म संकेत कवि ने दिये ही थे, कि—वही पुराना सन्देह फिर से जाग उठा और, परिणामतः, सूक्त की परिसमाप्ति सन्देहविशीर्ण हृदय के इन प्रश्नों में होती है :—

पर—
जानता कौन है ? कौन है जो बता सकता है कि—
यह सृष्टि कहां से उठी, कहां से आई ?

स्वयं देवता भी तो सृष्टि की इस परम्परा में ही कहीं आते हैं;
फिर—है कोई जो इस सृष्टि की समस्या को सुलझा सकता हो ?

कहां से सृष्टि का उदय हुआ ?
इसे कभी किसी ने घड़ा भी या नहीं ?—
सातवें आसमान में बैठा ख़ुदा—जो, कहते हैं, ऊपर से सब देख रहा है—
वही इसके बारे में कुछ जाने तो जाने—
शायद वह भी नहीं—
क्योंकि सातवां आसमान भी तो खुद इस सृष्टि का ही एक अंग है
(सातवें आसमान में बैठा—वह ख़ुदा हो, शैतान हो, इन्सान हो—
इसी सृष्टि-चक्र का ही तो एक अंग है) !

ऋग्वेद के दार्शनिक सूक्तों का विषय प्रायः विनिश्चित हो चुका है : और यह विषय है—'सृष्टि और स्रष्टा के परस्पर सम्बन्ध की समस्या ।' स्रष्टा के लिए वेद में प्रजापति, ब्रह्मणस्पति, बृहस्पति, विश्वकर्मा आदि कितने ही नाम हैं, किन्तु यह देवाधिदेव सदा एक पौरुषेय ईश्वर के रूप में उपवर्णित है, एक कर्त्ता के रूप में हमारे सामने आता है : किन्तु इसके साथ ही साथ, जैसा कि हम उद्धृत सूक्त में ऊपर देख ही आए हैं, ऋषि को सृष्टि के सर्जन के सम्बन्ध में सन्देह उठ चुका है—अर्थात्, सृष्टि के लिए सम्भवतः किसी सर्जनहार की आवश्यकता नहीं; और सृष्टि की इस कर्तृविहीन प्रगति को ही ऋषि ने नाम दिया था—'एकं तत्' । इस प्रकार ऋग्वेद के सूक्तों से सम्पूर्ण चराचर की एकात्मता का पूर्वाभास हमें मिल जाता है कि भले ही अन्धविश्वास दुनिया में तरह-तरह के देवताओं की प्रतिष्ठा कर ले, सत्य यह है कि प्रकृति के आंगन में हो रही यह व्यापक लीला उसी एक 'एकं तत्' का ही निरन्त विलास है; अनेकता सब माया है, हमारी दृष्टि का ही एक भ्रम है—और कुछ नहीं। ऋग्वेद १. १६४. ४६ में तो स्पष्ट कहा भी है कि :—

अरे,
—उसी एक को तो कोई इन्द्र कह लेता है तो कोई मित्र,
कोई वरुण, कोई अग्नि !
और कोई उसकी पूजा आसमान का पंछी (गरुड़) कह कर कर लेता है।

तत्त्व एक ही है,
उसे अग्नि कह लो, यम कहलो, मातरिश्वा कहलो :
—इससे भेद कितना आ जाता है ?

जहां ऐसे दार्शनिक सूक्त उपनिषदों की दार्शनिक प्रवृत्तियों की भूमिका बांधते हैं, वहां ऋग्वेद के कुछ सूक्तों में महाकाव्य तथा नाटक की अन्तःसंगति का पूर्वाभास भी हमें मिलता है। ऋग्वेद में ऐसे बीस-एक सम्वादसूक्त हैं। ओल्डन-बर्ग के अनुसार इन्हें आख्यान-सूक्त कहना बेहतर होगा। इनके आधार पर ओल्डनबर्ग ने एक सिद्धान्त की स्थापना भी कर छोड़ी थी कि भारत के प्राचीनतम महाकाव्यों में संवाद तो पद्यों में निबद्ध होता है जब कि उस संवाद का प्रसंग गद्य में भूमिकादि प्रस्तुत किया करता है। शुरू-शुरू में केवल पद्य ही लोग याद कर लिया करते थे और गद्यभाग कथा का कथा-वाचकों की बुद्धि पर छोड़ दिया जाता था : जिसका परिणाम यह हुआ कि पद्य-भाग तो इन संवादों का आज भी सुरक्षित है किन्तु इन कथाओं के अनुषंग का हमें कुछ पता नहीं लग पाता। बहुत थोड़ी कथाएं ही ब्राह्मणों में, महाकाव्य-साहित्य में अथवा टीकाओं में, बच रही हैं। इस स्थापना का समर्थन इस बात से भी हो जाता है कि, भारतीय साहित्य में ही नहीं, विश्व-साहित्य में महाकाव्य का प्रथम रूप गद्य-पद्य के मिश्रण में ही मिलता है! उदाहरणतः आयरिश और स्कैण्डेनेवियन कविता में यही स्थिति है। ब्राह्मणों तथा उपनिषदों के आख्यान भागों में, महाभारत के प्राचीन अंशों में, बौद्ध साहित्य में, कथा एवं पशु साहित्य में, नाटक तथा चम्पू में—इसके अप्रत्याख्येय प्रमाण मिलते हैं, यद्यपि—यह भी सच है कि, इनके विपरीत, ऋग्वेद के आख्यानों में गद्यभाग सर्वथा लुप्त है। ऋग्वेद आमूल पद्यमय है, सो—गद्य वहां अवशिष्ट रहा ही नहीं।

ओल्डनबर्ग, के इस सिद्धान्त को विद्वान् बहुत देर तक इसी रूप में मानते रहे; किन्तु—इसका विरोध बिल्कुल न हुआ हो, ऐसी बात भी नहीं। मैक्समूलर और लेवी ने यह सुझाया कि ऋग्वेद के आख्यानसूक्त[२६] सम्भवतः मूल में नाटकीय थे। इसी विचार का एक पल्लवित रूप हर्टर और श्रेडर की यह स्थापना है कि आरम्भ में ये सूक्त वैदिक कर्मकाण्डों के प्रसंग में खेले गए नाटकादि के अवशेष हैं। उनका कहना है कि यदि इन सूक्तों के साथ हम कुछ नाटकीय अभिनय जोड़ सकें, वैदिक भाष्य की सारी समस्या ही हल हो जाती है; रही यह समस्या कि किस प्रकार का अभिनय इनमें संगत होगा— इसका अनुमान हम कुछ-न-कुछ स्वयं सूक्तों से ही लगा सकते हैं।

बात दर-असल यह है कि इस प्रकार के आख्यानसूक्त भारतीय साहित्य में जहां-तहां प्रकीर्ण उपलब्ध होते हैं—विशेषतः महाभारत में, पुराणों में तथा बौद्ध साहित्य में, इस प्रकार के कितने ही उपाख्यान भरे पड़े हैं जो अंशतः महाकाव्य कहे जा सकते हैं और अंशतः कथावस्तु। यह संवाद-साहित्य वस्तुतः भारत की प्राचीन वीर-गाथाकाव्य हैं जिसके उदाहरण हमें अन्य देशों के साहित्य में भी मिलते हैं। इन वीर-गाथाओं में नाटकीय तथा आख्यानतत्त्व का होना यह

सिद्ध करता है कि ये गाथाएं महाकाव्य साहित्य तथा नाटकीय साहित्य का मूल स्रोत हैं। आख्यान से महाकाव्य विकसित हुए, तो अभिनय आदि से नाटक। प्राचीन आख्यानों की रचना सर्वथा गद्यात्मक नहीं हुआ करती थी, कथा की भूमिका और कथा का अन्त, कथाओं का परस्पर-सम्बन्ध—गद्य में अर्पित होता था। यह भी हो सकता है कि शुरू-शुरू में कोई छोटी-सी लोककथा इन आख्यानों के प्रसंग में प्रचलित हो किन्तु आज उसका अभाव ही इन संवादों के स्पष्टीकरण में हमारे लिए सबसे बड़ी बाधा है। कुछ हो, प्रतीत यही होता है कि ये सूक्त अंशतः आख्यानात्मक हैं और अंशतः नाटकात्मक—पूर्णतः एक-चीज नहीं।

वैदिक संवाद-सूक्तों में **पुरूरवस् और उर्वशी** का सूक्त (१०.९५) ऋग्वेद का सम्भवतः प्रसिद्धतम आख्यान है। १८ पद्यों में एक मर्त्य और एक अप्सरा में परस्पर यह संवाद होता है। चार साल तक उर्वशी पुरूरवस् की पत्नी बन कर इस पृथ्वी पर रही; वह, मां बनने वाली थी कि, सहसा सृष्टि की प्रथम उषा की तरह (दिव्य सुन्दरी) एकाएक लुप्त हो गई! पुरूरवस् उसे खोजने निकला और अन्त में उसने उसे एक सरोवर में अप्सराओं के साथ खेलते हुए पा भी लिया। सूक्त के शब्द बड़े अस्पष्ट हैं और यही कुछ है जो एक परित्यक्त पति और एक स्व-तन्त्र पत्नी के बीच हुई उस 'प्राचीन' बातचीत से हम उन दोनों के परस्पर-सम्बन्ध के विषय में समझ सके हैं। सौभाग्य से एक मर्त्य राजा और एक दिव्य कुमारी की यह प्रेमगाथा भारतीय साहित्य में अन्यत्र भी सुरक्षित है जिसकी सहायता से हम ऋग्वेद की कथा की पूर्ति कुछ हद तक कर सकते हैं। **शतपथ** ब्राह्मण (११.५.१.) में यही कथा गद्य में सुरक्षित है जहां हमें बतलाया गया है कि पुरूरवस् की पत्नी होने से पूर्व उर्वशी ने तीन शर्तें रखी थीं—जिनमें पहली शर्त यह थी कि पुरूरवस् उसकी आंखों के सामने नंगा कभी न आएगा। किन्तु उधर गंधर्व अपनी इस अप्सरा को वापिस स्वर्ग में बुलाना चाहते थे, जिसे सिद्ध करने के लिए उन्होंने एक रात एक युक्ति रची: उर्वशी सो रही थी, कि उसके दो प्यारे मेमनों को वे चुरा कर भाग गए! उर्वशी की नींद खुल गई और वह रोने लगी कि 'मुझे लूट लिया, मुझे लूट लिया!' उर्वशी को ख्वाब भी न आ सकता था कि आसपास कोई है। पुरूरवस् उसकी चीख सुनकर बिस्तर से कूद पड़ा और, कपड़े पहनता तो देर हो जाती—जैसा था वैसा ही—चोरों के पीछे बेतहाशा भागा! इसी वक्त आकाश में बिजली कड़की और—उर्वशी के साथ अनहोनी हो कर ही रही! जब पुरूरवस् लौटा, वह वहां नहीं थी। ग़म में पागल राजा जहां-तहां, इधर-उधर, कहां-नहीं—भटकता रहा और, आखिर, एक दिन एक तालाब के किनारे पहुंचा जहां राजहंसियों के रूप में अप्सराएं तैर रही थीं। संवाद की यह भूमिका है जो शतपथ ब्राह्मण में, दो-एक व्याख्यानों के साथ, सुरक्षित है। पुरूरवस् की सब मिन्नतें बेकार गई, उर्वशी ने एक न मानी और,

जब निराशा में उसने आत्महत्या की धमकी तक दे दी कि "मैं चट्टान से कूद कर भेड़ियों की ख़ुराक बन जाऊंगा", तब, उर्वशी ने सिर्फ इतना ही कहा कि :—

क्यों मुफ्त में मरते हो—
अपने आप को तबाह करते हो ?
पुरूरवस्,
क्यों व्यर्थ ख़ुद को
भेड़ियों की ख़ुराक बनाते हो ?
जानते भी हो ?—
औरतों का साथ हमेशा के लिए नहीं रहा करता,
औरतों के दिल में और भेड़ियों के दिल में कोई फर्क नहीं होता।

क्या पुरूरवस् और उर्वशी का मेल हुआ ? और हुआ तो कैसे हुआ ?— इस विषय पर ऋग्वेद और शतपथ, दोनों, मौन हैं। सम्भवतः पुरूरवस् घोर तपस्या करके गन्धर्व बन गया और स्वर्ग में, इस प्रकार, दोनों का पुनर्मिलन नित्य सिद्ध हो गया। **कृष्ण यजुर्वेद** के **काठक** में भी इस कथा का संक्षिप्त उल्लेख मिलता है; तथा वेदों से सम्बद्ध दो एक वेदांगों[२७] में भी, **महाभारत** के परिशिष्ट अंश **हरिवंश** में भी, **विष्णुपुराण** में तथा **कथासरित्सागर** में भी : इसी एक कथा की कितनी ही आवृत्तियां मिलती हैं। यही कथानक पुनः महाकवि कालिदास के अमर नाटक **विक्रमोर्वशीय** का आधार भी रहा है। किन्तु, इस सम्पूर्ण परतर साहित्य के बावजूद, ऋग्वेद के आख्यान में पर्याप्त अस्पष्टता अब भी तथैव बनी हुई है जिससे स्पष्ट है कि ऋग्वेद एक ओर और सम्पूर्ण भारतीय साहित्य दूसरी ओर, दोनों में— कितना—(वातावरण, भाषा और काल का) अन्तर है।

एक और अंश-काव्य उस पुराने जमाने का **यम-यमी** (ऋग्वेद १०. १०) के रूप में मिलता है। इस संवाद की कथावस्तु है सृष्टि के प्रथम युगल से 'मानव जाति की उत्पत्ति'।[२८] यमी भाई के पास आती है और उसे उत्तेजित करती है कि— मानव जाति का सर्वथा विनाश न हो जाए ? किस प्रकार उसकी वासना प्रदीप्त होती गई—वेद के शब्दों में यथावत् प्रतिबिम्बित है। किन्तु यम उसकी बात नहीं मानता। शुरू में मृदुता से, फिर विचारपूर्णता के साथ, और अन्त में देवों के नित्य-नियमों का हवाला दे कर, वह कहता है कि—एक ही खून में ये सम्बन्ध नहीं हुआ करते। यद्यपि सूक्त का बहुत कुछ अंश अब भी अस्पष्ट है, आख्यान की स्थिति सचमुच बड़ी-ही नाटकीय बन पड़ी है। सूक्त का आरम्भ यमी के इन शब्दों के साथ हुआ है :—

मेरे (जीवन साथी)
मैं तुम्हारा साथ निभाने—दुनिया के परले छोर तक क्यों-न

मुझ खाक छाननी पड़े
—तुम्हारे ही साथ रहूंगी :
कि—हम भविष्य के लिए कुछ परम्परा तो
प्रवर्त्तित कर सकें....
सुरक्षित रख सकें ।

यम का प्रत्युत्तर है :—

किन्तु तुम्हारे 'साथी' को यह 'साथ' पसन्द नहीं ।
खून का एक होना हमें—इस मामले में—
अजनबी बना देता है ।
और—कुछ तो सोचो :
ऊपर टिमटिमाते ये तारे
हमारी सब लीलाओं के, हमारे क्षणिक व्यामोहों के, गवाह हैं—?

किन्तु यमी कहती है कि 'नहीं'—यह इन देवताओं की ही इच्छा है कि हम भाई-बहनों में मानव सन्तान को अविच्छिन्न रखने के लिए 'सम्बन्ध' हो । किन्तु यम के तो जैसे कान ही नहीं; सो—यमी वासना मे और भी अभिभूत हो उठती है :—

यम,
आज पहली बार मुझमें तुम्हारे प्रति यह वासना जगी है,
जिसकी तृप्ति एक रात के सहवास के अतिरिक्त
और किसी भी ढंग से नहीं हो सकती ;
और—आज से हमारा जीवन
रथ के दो पहियों की तरह
गृहस्थ में एकीभूत होने को है ।

यम का उत्तर अब भी 'ना' ही है :—

—उनकी आंखें तो सदा खुली हैं ।
यह पहियों की खेल-कूद, जाओ,
तुम किसी और के साथ निभा सकती हो ।

किन्तु बहन है कि उसकी कामुकता निरन्तर बढ़ती ही जाती है। वह उसे बाहों में भरने को आगे बढ़ती है; यम ठिठक जाता है, और—वह फूट उठती है : "यही है तुम्हारा पुरुषत्व ? नपुंसक कहीं के ! या फिर—तुम्हारे अन्दर दिल ही नहीं। मैं तो तुम्हारे दिमाग को भी अब तक समझ न सकी, या फिर—"किसी और के हो चुके हो ?"

आखिर यम इन शब्दों के साथ संवाद को मुद्रित कर देता है :—

यमी,
तुमने लता बन कर चिपटना ही है
तो—किसी और 'वृक्ष' से जाकर चिपट सकती हो।
उसीके दिल पर अपने जाल बिछाना
—जो जी में आए, करना;
—मैं मजबूर हूं।

यम-यमी की इस कथा का अन्त किस प्रकार हुआ—हमें कुछ नहीं मालूम। परतर भारतीय साहित्य में भी इसका कोई संकेत नहीं मिलता। इस प्रकार ऋग्वेद में मूलकथा का यह एक-खण्ड ही शायद बच रहा है, यद्यपि कला की दृष्टि से यह सर्वथा-पूर्ण है।

ऋग्वेद १०. ८५ (**सूर्या-सूक्त**) को भी हम ऋग्वेद के आख्यान-काव्य में गिना सकते हैं। सूक्त का विषय 'सूर्य की पुत्री सूर्या (उषा) का सोम (चंद्रमा) के साथ विवाह' है। दोनों अश्वी-भाई (सूर्या तथा सोम में) यहां गठबन्धन करवाने वाले 'मध्यम' पुरुष हैं। सूक्त में ४७ पद्य हैं, जिनमें परस्पर सम्बन्ध प्रायः कुछ शिथिल प्रतीत होता है। पीछे चल कर, इन पद्यों का, गृह्यसूत्रों के अनुसार, मानवविवाह के प्रकरण में विनियोग भी होता रहा है। किन्तु हमारे विचार में इनकी मूल भावना अन्त्येष्टि की भांति किसी संस्कार से सम्बद्ध न थी, क्योंकि—अन्यथा सभी मन्त्र (एक प्रकार से) आशीर्वादात्मक और प्रार्थनात्मक ही लगते हैं। अधिक सम्भव यह है कि सूर्या के विवाह का ही एक आख्यान इनमें प्रस्तुत है, जिसमें कुछ शब्द अश्वियों तथा सूर्या को सम्बोधित करके भी कहे गए हैं, और उस विवाह के प्रसंग में जहां-तहां दो एक आशीर्वादात्मक मन्त्र भी जड़ दिए गए हैं। आश्चर्य तो यह है कि इन मन्त्रांशों में भी कहीं-कहीं (यद्यपि इनका अभिप्राय आशीर्वाद देना है) अन्त्येष्टि संस्कार के 'भरे हृदय' की प्रतिध्वनि भी है! दम्पती को सम्बोधित करके कहा गया है :—

बेटी, सुखी रहो—फलो फूलो,
तुम्हारे बाल-बच्चे हों;
घर की देख-भाल में तुम सदा जागरूक रहो,
तुम्हारी उम्र लम्बी हो;
पति को अपना सर्वस्व देने में कभी झिझकना नहीं।

शादी के बाद डोली उठती है और दर्शकों के पास से गुजरती है। दर्शकों को सम्बोधित करके कहा गया है :—

वधू को आशीर्वाद दीजिए
कि इस का सौभाग्य बना रहे,
और हमें भी—अनुमति दीजिए
कि पूर्णाहुति के साथ यह विधि
अब समाप्त उद्घोषित की जा सके !

पुरानी इन्डो-यूरोपीयन रीति के अनुसार वर वधू का हाथ पकड़ कर कहता है :—

आज मैंने तेरा हाथ संभाला है,
मैं तुझे वचन देता हूं कि बूढ़ा होते तक मैं तुझ पर आंच न आने दूंगा;
स्वयं देवताओं ने, मेरी गृहिणी बनाकर,
तुझे यहां भेजा है ।

गृह-प्रवेश के समय वर-वधू का स्वागत इन शब्दों के साथ होता है :—

तुम्हारा कभी वियोग न हो,
दोनों सौ साल जीओ :
पुत्रों, पौत्रों की खेल-कूद देखते हुए जीओ
और घर की—खुद-लगाई—फुलवारी को फलता-फूलता देखो ।

और वधू के लिए देवों से आशीर्वाद की याचना की गई है :—

हे इन्द्र,
नव-वधू पर कृपा करना
कि उसकी सन्तान और सम्पत्ति में विच्छेद न आए ;
वह दस-दस पुत्रों की मां बने,
और उसी वत्सलता के साथ पति की शुश्रूषा भी आ-जीवन करती रहे ।

किन्तु विवाह के इन आशीर्वादों में कुछ मन्त्र स्पष्ट तन्त्रात्मक हैं। इन मन्त्रों में अभिचारों और जादू-टोनों का जिक्र है—जिनके द्वारा पति को पत्नी बुरी नजर से बचा भी सकती है और, एक ही क्षण में, उसका सम्पूर्ण भविष्य बिगाड़ भी सकती है; साथ ही—भूतों-प्रेतों से बचने का उपाय भी यहां निर्दिष्ट है। जादू का जिक्र ऋग्वेद में प्रायः तीस अन्य प्रसंगों में भी हुआ है। तरह-तरह की बीमारियों से बचने के लिए, गर्भ-रक्षा के लिए, दुःस्वप्नों और अपशकुनों के प्रभाव को दूर करने के लिए, डाइनों, भूतों को खदेड़ने के लिए, शत्रुओं के नाश के लिए, विष से तथा विषैले जन्तुओं से बचने के लिए—भिन्न-भिन्न मन्त्र हैं। इन मन्त्रों की सहायता से प्रतिस्पर्धी को तबाह किया जा सकता है। अन्यत्र—पशुओं की वृद्धि के लिए,

युद्ध में मौत से बचने के लिए, नींद लाने के लिए भी—मन्त्र हैं। इन्हीं अभिचार-सूक्तों में एक **मण्डूक-सूक्त** है (७. १०३.) जिसमें ब्राह्मणों की उपमा मेंढकों से दी गई है। ये मेंढक खुश्क मौसम में ऐसे चुप हो जाते हैं जैसे ब्राह्मणों ने न-बोलने का व्रत ले लिया हो, लेकिन—बरसात आने पर वे फिर एक दूसरे का स्वागत इस प्रकार करते हैं जैसे पिता (स्कूल से लौट रहे) पुत्र का! एक टर्राता है और—दूर-दूर से उसी की आवाज, मानो, प्रतिध्वनित हो उठती है: जैसे शिष्य आचार्य के उपदेश को दोहराने लग जायं! कितनी ही विचित्र ध्वनियां एक नन्हा-सा मेंढक पैदा कर सकता है। यज्ञभूमि पर बैठे पुरोहित —तालाब के किनारे, और वर्षा के समारम्भ पर—खुशियों से फूले नहीं समाते, और गीत-आरम्भ कर देते है! सूक्त का अन्त सुख-सम्पत्ति की इस प्रार्थना के साथ हुआ है :—

कोई गौ की तरह रंभा-नाद उठाता है,
तो कोई बकरी की तरह मिमियाता है;
कोई भूरा है तो कोई चितकबरा :
सचमुच ही—ये मेंढक विचित्र सम्पत्तियों के स्वामी हैं।
क्या वे हमारे सोम-सत्र के रक्षक नहीं बनेंगे,..
—हमें समृद्ध नहीं बनाएंगे ?

—सचमुच बड़ा उपहासास्पद-सा प्रतीत होता है; और चिरकाल तक विद्वान् लोग समझते भी यही रहे कि मण्डूक-सूक्त ब्राह्मणों पर एक फबती है, बस।[२९] किन्तु ब्लूमफील्ड ने अब यह सिद्ध कर दिया है कि सूक्त का मूल प्रयोग वर्षा के आह्वान में एक 'मन्त्र' था, क्योंकि—पुराने जमाने से भारतीयों मे विश्वास रहा है कि मेंढकों में वर्षा का समय निकट लाने की कुछ अद्भुत शक्ति होती है। मेंढकों की ब्राह्मणों से तुलना—उपहास से नहीं, अपितु—प्रशंसाबुद्धि से प्रसूत है। मण्डूक-सूक्त सम्भवतः कभी भी एक परिहास नहीं था। आज हमें भले ही इसमें कुछ मजाक लगे, परन्तु उस जमाने के लोग मेंढकों में कुछ जादुई शक्ति मानते थे। हां, यह अलबत्ता सच हो सकता है कि इन मन्त्रों का मूल कभी, धार्मिक न होकर, लौकिक-वाङ्मय भी रहा हो—वैसे ही जैसे ऋग्वेद ७. ७५ शुरू-शुरू में **एक युद्धगीत** था किन्तु करते-करते वह युद्ध में जय-पराजय का 'मन्त्र' बन गया! इस युद्धगीत में कुछ पद्य बड़े ही उदात्त हैं तथा बड़े ही मूर्त्त चित्र उपस्थित करते हैं किन्तु, साथ ही, शेष पद्यों में मन्त्रों की शुष्कता तथा कला-विहीनता छुट भी तो नहीं सकी। कम-से-कम प्रथम तीन पद्य तो थे ही एक प्राचीन युद्धगीत :—

योद्धा के मुखमण्डल को देखो—
कवच पहने, एक काले बादल की तरह, वह
युद्धभूमि के लिए (कितना) उत्सुक है :—

. . . . . .

जाओ,—अक्षत ही लौटना;

कवच की यह दृढ़ता तुम्हारे पर आंच न आने दे ॥

तुम्हारे धनधान्य का, अभ्युदय, विजय का

मूल स्रोत एक ही है—और वह है यह—तुम्हारी

वीरता का प्रतीक—धनुष !

यह धनुष—जो शत्रु के लिए

दुख और कष्ट लाता है

—वीर की दिग्विजय क प्रतीक भी है, साधन भी ॥

और धनुष की यह डोरी

(जैसे वीर के कान में कुछ कहने को)

—उसे आलिंगन करने को—

बार-बार, (किस तरह) खिंची आती है !

यह डोरी सचमुच वीर की पत्नी है;

—विजय का मन्त्र भी इसे ही फूंकना आता है ॥

ऋग्वेद के ये मन्त्रतन्त्रात्मक सूक्त—अथर्ववेद के सामान्य सूक्तों से कुछ भिन्न प्रतीत नहीं होते : बड़ा अजीब-सा लगता है कि देव-स्तुतियों व कर्मकाण्डों के साथ इन मन्त्रों का संग्रह भी ऋग्वेद में हुआ है और—सो-भी केवल दसवें मण्डल में ही नहीं !

और इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि धार्मिक गीतों तथा विनि-योगों के बीच में जहां-तहां ऐसे (तन्त्रादि) लौकिक विषय भी बिखरे पड़े हैं ! सोम-स्तुति-परक सूक्तों के बीच में नवें मण्डल में ११२वां सूक्त मनुष्यों के काम-धन्धों पर एक खुला मजाक है। हो सकता है—यह सूक्त पहले कभी मजदूरों का एक श्रम-गीत ही रहा हो जिसे काम करते-करते मजदूर लोग अपनी थकान दूर करने के लिए गाया करते थे : "**इन्द्रायेन्दो परिस्रव !**" शायद सोम रस निकालते समय लोग यह पंक्ति भी गाते चलते हों। सूक्त इस प्रकार है:—

सबका अपना-अपना दिमाग़ है,

अपने अपने स्वप्न हैं;

और उन्हें पूर्ण करने के लिए अपने-अपने ही ढंग हैं :

ब्राह्मण चाहता है कि कोई यजमान मिले,

बढ़ई चाहता है—कोई चीज टूटे,

हकीम चाहता है—बीमारी बढ़े !

और एक ही सोम है जिसने इतने इन्द्रों की अभिलाषाएं पूर्ण करनी हैं !

कोई फूलों-फलों की भरी डालियां लाता है
तो कोई सुरखाब के पंख या कीमती पत्थर,
कोई अमर जोत : सब यही चाहते हैं कि सोना मिले !
और 'राजा' एक ही है जिसने इतने इन्द्रों की अभिलाषाएं पूर्ण करनी हैं !

मैं गलियों में गा-गू कर—फ़कीरगीरी से—कुछ कमा लाता हूं,
बाप मेरा जख्मों की कुछ मरहम-पट्टी कर लेता है,
मां को चक्की से ही फ़ुरसत नहीं मिलती :
जैसे गौएं जंगल-जंगल की घास खाती—दिन गुजार देती हैं,
वही हाल हमारे परिवार का है ।
पर सोम, जिसने सब-किसी की अभिलाषा
पूर्ण करनी है : एक ही है !

घोड़े को, जोश दिखाने के लिए, कोई रास्ता चाहिए;
मन्त्रियों को, वक्त गुजारने के लिए, कुछ—छिनाल के घर की रंगरलियां;
और, वैसे भी, हर मर्द की हवस, फ़ितरत में, एक ही होती है—
जैसी मेंढक की पानी के लिए !
लेकिन सोम—जिसने सारी दुनियां की सब ख्वाहिशें पूरी करनी हैं,
(वह बेचारा तो)—एक ही है !

इन लौकिक गीतों में सबसे जोरदार गीत शायद '**जुआरी का गीत**' का है : १०.३४ में एक पापात्मा पछता रहा है कि किस प्रकार जुए की इल्लत ने उसकी जिन्दगी का सब सुख-चैन छीन लिया ! कितना करुणापूर्ण है उसका क्रन्दन :—

वह बिचारी तो मुझसे कभी लड़ी नहीं थी
—कभी गुस्से तक नहीं हुई थी;
सचमुच सहृदयता की मूर्त्ति थी वह—
मेरे लिए भी, मेरे मित्रों के लिए भी ।
और मैं कमबख्त—इस जालिम जुए के पंजे में क्या पड़ा
कि—मैंने एक सती को बेघर कर दिया !

और अब हालत यह है :—
सास मुझसे नफरत करती है;
बीबी मुझे तलाक दे चुकी है :
मुसीबत-ज़दा पर दुनियां में कोई रहम नहीं खाता :
—एक जुआरी की भी (बाजार में) वही कीमत होती है
जो एक बूढ़े, निकम्मे पड़-चुके, घोड़े की !

और जब इन पासों की निगाह फिर जाए,
घर-बार दाव पे चढ़ जाय,
पराये लोग उठ कर जुआरी के सामने ही—
उसकी बीबी के साथ जो जी-चाहे आकर करने लगें, ...[३०]
मां, बाप, भाई, बहन—सब—आवाज में आवाज मिलाने लगते हैं :
"हम नहीं जानते—कौन है यह ? पकड़ कर ले जाओ इसे,
और बेहया को जेल में ठूस दो ।"

पासों की जादू-भरी शक्ति को, कितनी 'शबलता' के साथ पेश किया गया है :—

मन में तो दृढ़ निश्चय करता हूं
'अब जाऊंगा नहीं'; और—
पीछे (घर में) रह भी जाता हूं;
लेकिन—उधर पासे पड़ने लगते हैं, शोर कुछ बढ़ता है,
और मैं—एक छिनाल की तरह—अपने पर
काबू नहीं रख पाता :
क्योंकि—
जुए के इन पासों में कुछ आकर्षण है;
लेकिन—इनके इस जादू में भी विष और धोखा है, दर्द है :
बच्चे जैसे आम तौर पर करते हैं —
खिलौना दिखाते हैं लेकिन देते नहीं,
ये पासे भी—फुसलाते जरूर हैं
लेकिन (हाथ में)—पकड़ाते कुछ नहीं !

इन्हें नीचे फेंको, ये झट चित से पट हो जाते हैं;
हाथ-पैर वाले जवां-मर्द को निहत्था कर देते हैं, निकम्मा करते हैं;
अंगारों की तरह चौसर पर पड़ते हैं और—
दिल को खाक करके रख देते हैं
(अगरचे हाथ में जब तलक थे—ठंडे ही लगते थे) !

अजीब बात यह है कि जुआरी अपनी किस्मत को कितना ही रोए, जुए का शिकार वह—बार-बार—बन कर ही रहता है :—

उधर उसकी परित्यक्ता पत्नी
एक किनारे पड़ी रो रही है,

तो घर में दूसरी ओर उसकी मां मुंह छुपाए बैठी है;
सिर पर कर्ज है, और उसे दो-आने चाहिएं
—किसी से मांगते वह डरता है
और रात के वक्त ही दूसरों के घर, डरता-डरता, पहुंचता है !

लेकिन औरों के घर—हर घर—
सुखी पत्नी, सुखी परिवार, देख कर
उसका दिल बैठ जाता है ।
...सुबह जिन घोड़ों को दिग्विजय के लिए उसने जोड़ा था,
—सांझ-पड़ते तक उनसे हाथ धो कर, अब, वह खाली ही लौट रहा है !

किन्तु अन्त में वह दृढ़ निश्चय करता है कि वह अपनी जिन्दगी ही बदल डालेगा। डूबते सूर्य के सामने वह शपथ खाता है कि वह, मेहनत-मुशक्कत करके, खेती-बारी करके, आज से अपने घर की देखभाल में लगेगा। और, लो—आज से वह जुए के बन्धन से मुक्त है !

ऋग्वेद की विषय-वस्तु के प्रसंग में हम अन्त में दानस्तुतियों को लेते हैं—जो धार्मिक तथा लौकिक काव्य को जोड़ने वाली एक कड़ी हैं। इस प्रकार के प्रायः पचास सूक्तों में पुरोहित यजमान की स्तुति गाता है। कुछेक दानस्तुतियां वस्तुतः इन्द्र की स्तुतियां हैं, क्योंकि—इन्द्र ने इन राजाओं की किसी-न-किसी युद्ध में सहायता की थी। सम्भवतः युद्ध के अनन्तर विजय महोत्सव के क्षण में ही इन गीतों की रचना हुई हो। गीतों में विजय का उल्लेख भी मिलता है, देवताओं की स्तुति होती है, और अन्त में—विजय में हासिल हुए धन, रत्न-माणिक्य एवं पशु-वैभव में से जिसने उन्हें भी कुछ दिया—(उसी) यजमान की प्रशस्ति के साथ सूक्त समाप्त हो जाता है और, प्रसंगात्, (कहीं-कहीं) भद्दा मजाक भी दृष्टिगोचर होता है—जैसे बौने, गुलाम (उद्गाता तथा यजमान का) दिल बहलाने के लिए स्टेज पर खींच लाये गये हों !

इन दानस्तुतियों में कुछ लम्बी-लम्बी प्रशस्तियां भी हैं जिन्हें, इन्द्र की स्तुति में, किसी राजा व धनी-मानी पुरुष के कहने पर पुरोहित ने रचा प्रतीत होता है, क्योंकि—ये प्रशस्तियां विशेष-विशेष सत्र के अन्त में गाई जाती थीं; प्रशस्ति की समाप्ति पर प्रायः दो-चार पद्य स्वयं यजमान की दान-वीरता पर भी हुआ करते थे। पुरोहित (अपने) यजमान को भुला कैसे सकता था ? —ऐसा कभी-भी नहीं हुआ कि दानस्तुतियों में धर्मप्रिय यजमान की ऐतिहासिक वीरताओं तथा दानकृत्यों का स्मरण न हुआ हो। यही इनका महत्त्व है। काव्य-दृष्टि से ये गीत निरर्थक हैं,

क्योंकि—तथाकथित कवि की दृष्टि सदा दक्षिणा पर ही टिकी रहती थी; सो, काव्य-कला उसमें कैसे पनप सकती थी? दानस्तुतियों के अतिरिक्त, कुछ अन्य गीत भी ऋग्वेद में ऐसे ही हैं जिन्हें पैसों के लालच में की गई तुकबन्दी के अलावा और कुछ नहीं समझा जा सकता। स्वयं कवि अपनी उपमा, कितनी ही बार, एक बढ़ई से देता है। कुछ हो, ऋग्वेद में ऐसा गीत शायद एक भी नहीं जो काव्य-दृष्टि से कुछ उदात्त हो और साथ ही दानस्तुति भी हो। इसलिए, ओल्डनबर्ग[३१] का यह कहना कि "सामान्यतया वैदिक कविता में सौन्दर्य की उद्भावना दृष्टिगोचर नहीं होती और न-ही वैदिक धर्म में आध्यात्मिक अभ्युदय के लिए कोई दैवी स्तुति ही है; —ऐसा लगता है जैसे वैदिक कविता और वैदिकधर्म का उद्देश्य वर्गाभ्युदय, स्वर्गाभ्युदय, और धनिकाभ्युदय के अनिरिक्त और कुछ था ही नहीं!"—सत्य पर आधारित नहीं, क्योंकि—ओल्डनबर्ग को यह भूल गया प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के १०२८ सूक्तों में से केवल ४० सूक्त ही तो दानस्तुति-परक हैं। हमारा तो विचार है कि, वैदिक सूक्तकारों में जहां कुछ 'बढ़ई' भी थे, कुछ सच्चे कवि भी अवश्य थे।

ऋग्वेद का एक सूक्त, शब्द के कुछ उदात्त अर्थों में, दानस्तुति है। १०. ११७ में एक स्तुति '**दानशीलता**' को हो अर्पित है—किसी विशिष्ट दानवीर यजमान को नहीं; अन्यथा, संपूर्ण ऋग्वेद में (दैनिक क्रियाकलापों में कर्त्तव्याकर्त्तव्य की) नीति का स्पर्श ढूंढे से भी नहीं मिलता। ऋग्वेद, और कुछ हो-सो-हो, एक 'नीति-रत्न-माला' कदापि नहीं है। 'दानस्तुति' -परक वह सूक्त इस प्रकार है:—

भूख को देवताओं ने गरीबों को मारने के लिए (ही) नहीं बनाया था;
भरे-पुरे, सम्पन्न, लोग भी तो अक्सर मरते ही हैं।
सचाई सिर्फ इतनी ही है कि—
एक दानवीर का खज़ाना कभी खुटता नहीं,
और यह—कि कंजूस पर कोई दिल से कभी रहम नहीं खाता।

अगर दुनिया में कहीं कोई ऐसा आदमी भी है
जो एक हाथ-पसारते, जरूरतमन्द, फ़रियादी के सामने
अपने दिल को कड़ा कर लेता है
(जब कि उसके पास घर में सब-कुछ है),
—ऐसे शख्स का, वक्त पड़ने पर,
कोई हमदर्द नहीं बनता।

सच्चा दानवीर तो उदार-हृदय-पुरुष होता है जो
पहले राह जाते फकीर की फिक्र करता है

—अपनी भूख को भुला देता है;
—ऐसा आदमी को रोज़—नये हमदर्द, नये दोस्त, यूं-ही मिल जाते हैं ॥

ऐसे मित्र को तलाक़ दे-दो जो
—तुम्हें घर बुला कर अपनी 'थाली' छुपा लेता है ।
फिर उसकी ओर कभी कदम न करना;
—ऐसे जने से तो अजनबी अनजान ही अच्छे
जो घर-आये अनजान को, देव-वत् मानकर,
सिर-माथे उठा लेते हैं ॥

अमीर को चाहिए कि—
वह गरीब की हमेशा मदद करे :
कौन जानता है कल उसके साथ यही बीत रही हो ?
पैसा क्या है ?—चलते रथ के पहिए हैं,
एक आनी-जानी चीज है ।

मूर्ख लोग जो अपने भरे थाल को ही
सब-कुछ समझे बैठे हैं,
कौन समझाए उन्हें ?—
कि यह रोटी, रोटी नहीं, उनकी अपनी ही मौत बनकर आई है —जो
पुराने मित्रों को दुत्कारती है और नये मित्र बनने नहीं देती ! क्योंकि—
अकेले में खाई-गई रोटी विष बन जाती है ॥

जो हल पृथ्वी पर चलता है वह—
धरती से रोटी, आख़िर, निकाल ही लायेगा;
जो कदम थकते नहीं, बीच में रुकते नहीं, वे
आखिर मंजिल पर पहुंच ही जायेंगे;
ब्राह्मण विद्या-दान की हवस में
अपने मौन व्रत तक को भंग कर दिया करते हैं, और
जिनके पास विद्या-धन नहीं—वे भी
कुछ-तो दे ही सकते हैं !

दोनों हाथ बराबर कभी नहीं होते;
एक ही मां की जायी दो बछियां बराबर दूध अक्सर नहीं देतीं ;
जुड़वां भाइयों की शक्ति और प्रतिभा भी

प्रायः भिन्न-भिन्न ही देखी गई हैं;
और एक ही सम्पन्न परिवार के दो सदस्य
एक-से दानी भी, उसी प्रकार, प्रायः नहीं होते ।

एक-पैर वाला दो-पैर वालों को मात दे-देता है,
दो-पैर वाला तीन-पैर वालों को;
और चार पैर वाला—दो-पैर वालों की जी-हजूरी करता है . . . .
—यही नहीं, देश-देशान्तर से आये राजा-महराजाओं की सेवा में
—होटल के बैरे की तरह, वह देखो, एक ओर चुपचाप खड़ा
क्या कर रहा है ? !

अन्तिम पद्य में कवि की युक्ति कुछ समस्यात्मक-सी हो गई है ।

पहेलियां जुझाने का रिवाज प्राचीन साहित्य में सभी कहीं एक-समान है । ऋग्वेद १. १६४ में ऐसी कितनी ही पहेलियां प्रस्तुत हैं जिनमें अधिकांश हमारी समझ से बाहर हैं । उदाहरण के तौर पर वहां आता है :—

एक-पहिये का एक रथ है—
जिसमें सात (घोड़े) जुते हुए हैं,
किन्तु सच यह है कि उसे एक ही घोड़ा
(सात नामों वाला) आगे खींचता है ।
इस अमर रथ की तीन नाभियां हैं, और—
इसका पहिया कभी रुकता नहीं :
सारा संसार इसी पर सवार है, . . तीर्थ-यात्री है !

जिसका अर्थ यह हो सकता है कि यज्ञ के सात अधिपति पुरोहित (अपने यज्ञ-बल द्वारा) सूर्यरथ में युक्त हैं जिसे सात घोड़े मिलकर—या एक ही (सफ़ेद) सतरंगी घोड़ा— आगे आगे खींच रहा है । इस अमर सूर्य-चक्र की तीन नाभियां हैं, अर्थात्—वर्ष में तीन ही मुख्य ऋतुएं (ग्रीष्म, वर्षा, शरत्) हुआ करती हैं (जिस पर सम्पूर्ण प्राणिजगत् का जीवन आश्रित होता है) । सो, पहेलियां इतनी दुर्बोध भी नहीं, इतनी दुर्गम नहीं, जितनी कि ऊपर से लगती हैं ।

किन्तु इन समस्याओं का हल बुझा सकना, अलबत्ता, कुछ मुश्किल है:—

तीन माता और तीन पिता का 'जनक'
कोई एक है, जो सीधा खड़ा है—
वह इन छहों का बोझ उठा कर भी थकता नहीं, झुकता नहीं ।
आकाश की पीठ पर चढ़ कर भी,

और उस 'सर्वज्ञ' से सम्पर्क में आकर भी, ध्यानी—
वाणी की सर्वव्यापकता को समझ नहीं पाते !

जो स्वयं इस अद्भुत-प्राणी का जन-क है, वह भी—
इसके बारे में कुछ नहीं जानता,
जो इसे एक बार प्रत्यक्ष देख भी चुका है
—उससे भी वह ओझल है !
वह 'मां के गर्भ में' जैसे अभी आवरण में ही, पड़ा है;
उसकी इतनी सन्तान है, फिर भी हाल—वही—बुरा है ।

यह आसमान मेरा पिता है
—मेरा जनयिता है, मेरी परम नाभि है ।
यह फैली पृथ्वी ही मेरी मां है,
सोम के दो खुले पात्रों में जो खाली स्थान है
वही गर्भाशय है, जिसमें हमारा पर-म (जनयिता) पिता—
मानो, अपनी ही पुत्री की देह में
—बीज-वपन किया करता है !

पहेली मुश्किल है, किन्तु, यहां आकर, उसका संकेत कुछ स्पष्ट हो गया है :—

मैंने एक गडरिया देखा
—जो कभी डिगता नहीं,
(राह में) कभी थकता नहीं ।
भेड़ें अलग-अलग दौड़ें, या शायद एक ही होकर —साथ-साथ; उसे क्या?
—वह तो
—मानो उन्हीं में लुप्त हुआ, अपनी लाज को ढकता-सा—
लोक-लोकान्तर की परिक्रमा कर रहा है ।
—यह और कोई नहीं,
वर्णिम रश्मियों (के झीने घूंघट) की ओट में बैठा बाल-शिशु
सूर्य ही है ।

और, इसी प्रकार, यह पहेली भी कोई बहुत मुश्किल नहीं :—

देखा है किसीने मेरा रथ—
जिसके एक पहिया है, तीन नाभि हैं,

और (उस) पहिये के बारह फीते हैं :
तीन-सौ साठ
कीलियों द्वारा इसके अंग-अंग को स्थिर किया गया है !

स्पष्ट ही तीन-सौ साठ दिन, तीन ऋतु, और बारह मास, जिस रथ के अंग हैं वह—संवत्सर ही यहां अभिप्रेत है।

उस प्राचीन युग में कर्मकाण्ड में कुछ विश्राम, सुख, पाने के लिए इन पहेलियों की लोकप्रियता बहुत होती होगी। इस प्रकार की पहेलियां हम अथर्ववेद और यजुर्वेद में भी पाते हैं।

अन्त में ऋग्वेद की विषयवस्तु पर एक विहंगम-दृष्टि डालना अनुपयुक्त न होगा। इन उदाहरणों के आधार पर एक बात जो निश्चयपूर्वक कही जा सकती है वह यह है कि ऋग्वेद में भारतीय काव्य की प्राचीन धाराओं के कुछ खण्ड (धर), कुछ अवशेष, ही संगृहीत हैं : कुछ अवशेष ही, क्योंकि—उस विस्तीर्ण, व्यापक धार्मिक तथा लौकिक साहित्य का बड़ा भाग सर्वथा लुप्त हो चुका है (जिसे अब पुनः पा सकने की कोई उम्मीद नजर नहीं आती)। किन्तु इन सूक्तों में मन्त्र अधिकांश यज्ञपरक ही हैं, क्योंकि—इनका उपयोग यज्ञ के प्रसंग में स्तुति, प्रार्थना के रूप में ही हुआ करता था (जिसका संकेत भी यही प्रतीत होता है कि ऋग्वेद को एक क्रम में बांधने की प्रेरणा शायद भारत के याज्ञिकों को सम्भवतः ऐसे ही गीतों द्वारा मिली हो)। कुछ हो, संग्रह करते समय, अलबत्ता, वेद के सम्पादकों का ध्येय विशुद्ध कविता नहीं था, न ही कोई विशुद्ध धार्मिक दृष्टि थी; सो, संहिता में कुछ लौकिक अंश, (अश्लील अंश) भी हैं—किन्तु जो सम्भवतः भाषा और छन्द की कसौटी पर उन यज्ञपरक तुकबन्दियों की अपेक्षा कुछ कम प्राचीन न थे और, हां—इन्हें विस्मृति के गर्त में विनष्ट हो जाने से बचाने का एक ही उपाय रह गया था कि इन्हें स्मृतिबद्ध कर लिया जाए और इन्हें स्मरण करने की एक परम्परा ही प्रचलित कर दी जाए। निश्चय ही ऋग्वेद में शुरू-शुरू में ऐसा पर्याप्त अंश था जो अश्लीलता की दृष्टि से सर्वथा हेय था। ऐसे अश्लील भाग का जो कुछ अंश अब बच रहा है वह भी मुख्यतया एक परवर्ती संहिता (अथर्ववेद) की बदौलत ही।

१ Wackernagel: *Alt. Gram.* I, XIII A.
२ Oldenberg: *Ueber die Lieduerfassar des Ṛgveda* (ZDMG, 42), 199 ff; Ludwig: *Der Ṛgveda*, III, XIII and 100 ff.
३ A. Bergaigne: JA, 1886-7; Barth: RHR, 19, 1889, 134 ff; Bloomfield: JAOS, 31, 1910, 49 ff.
४ Bloomfield: JAOS, 21, 1900, 42-49.
५ E.V. Arnold: *Vedic Metre*, Cambridge, 1905; Keith and Arnold: JRAS, 1906, 484 ff; 116 ff, 197 ff.

६ E. W. Hopkins: *The Panjab and the Ṛgveda* (JAOS, 19, 1898, 19-28).

७ Macdonell and Keith: *Vedic Index*, II, 145 ff.

८ होमर की उपमाओं की भांति वैदिक उपमाओं में समुद्रीय जहाजों का संकेत क्यों नहीं मिलता ?

९ *Vedische Studien*, I, XXV.

१० Lakshman Sarup: *The Nighantu and the Nirukta, Intro.*, Oxford, 1920.

११ Cf. H. Brunnhofer (*Ueber des Geist der indische Lyrik*, Leipzig 1882, p. 41) : 'ये वैदिक सूक्त प्रभातगीत हैं ?, पंछियों की वह पहली चहचह हैं ?, या (मानवी) चेतना का प्रथम जागरण हैं ?"—!'

१२ *Language and its Study*, London, 1876, 227.

१३ *Vedische Studien*, I, XXII, XXVI.

१४ Also Hillebrandt: *Vedische Mythologie*, II, 8.

१५ Cf. L. de la Vallée Poussin (*Le Vedisme*, Paris, 1909, 61 ff. 68); Keith (JRAS , 1909, p. 469).

१६ Hillebrandt: *Vedische Mythologie*, II, 14 ff.

१७ E. Arbman: *Rudra Untersuchungen Zum altindischen Gauben und Kultur*, Uppsala, 1922.

१८ Consult Macdonell (*Vedic Mythology*), Oldenberg (*Religion des Veda*), Hillebrandt (*Vedische Mythologie*), Abel Bergaigne (*La Religion Védigue d'aprés les hymnes du Ṛgveda*).

१९ Oldenburg: *Rel. des Veda*, 162 ff.; Ṛajvade; Proc. IOC, II, ff.

२० *Vedische Mythologie* , II, 4; Oldenberg, *op. cit.*, 13. and *Ans. Indien und Iran*, 19.

२१ मरुतः=मरने-मारने वाले वीर !

२२ देहांन्त पर प्राणी का 'मृण्यम गृह' कब्र के अलावा और क्या हो सकता है।

२३ op. *cit*, 57.

२४ गृहस्थ के अतिरिक्त अन्य सभी आश्रम—मृत्यु की घड़ी में भी—निरग्नि हुआ करते थे। Cf. Caland: *Die altindischen Totem und Bestattun ge gebräuche*, Amstardam, 1896, 163; Roth: ZDMG, 8, 1854, 467ff; Whitney: *Oriental and Linguistic Studies*, N.Y., 1873, 5 ff; Schraeder :WZKM , 9, 1895, 112 ff.

२५ Cf. H.T. Colebrooke: *Misc. Essays* (2nd ed., Madras,. 1872), I,33 f; Macdonell: *Hist. of Sansk. Lit.* 2nd ed., 564; Wallis; *Cosmology of the Ṛgveda*; 89; Whitney; JAOS, XI, cix; *Allgemeine Geschichte der Philosophie*, I; Scherman; *Philosophische Hymne aus des Rig, und Atharvaveda-Samhita.*

२६ *Le Théatre Indien*, 301 ff; WZKM (18) 19. 4, 59 ff; 137 ff; (23), 1909, 273 ff; *Indische Marchen*, Jena, 1921,

344, 367 f; Mysterius und *Mimus in Rigveda*, 1908; Barth: RHR, 19, 1889, 130 f. Oevres, 11, 15 ff; etc., etc.

२७ *Baudhayana-Śrauta sūtra*, and *Bṛhaddevata*,

२८ A. Winter: *Mein Brüderpeit ummich* (2 Vv., VII, 1897, 172 ff; Schreder: *Mysterium um mimus*, 275 ff; Winternitz: WZKM, 23, 1909, 118 f.

२९ Deussen: AGPh, 1, 1, 100 ff; Bloomfield, JAOS, 17, 1896, 173 ff; Haug; *Brahma und die Brahmanas*. 12; *Schroeder*: *Mysterium*, 396; Hauer: *Die Anfange des Yoga praxis*, 68 ff.

३० Doesn't it refer to the Yudhisthira-Draupadi or Nala-Damayanti episode, to wit ?

३१ *Die Literatur des alten Indien*, 20.

अथर्ववेद[1]

अथर्ववेद का अर्थ है '**अथर्-वाणि**', जादू-टोने। स्वयं 'अथर्वन्' का मौलिक अर्थ था—अग्नि-उद्बोधन करने वाला पुरोहित; जिससे प्रतीत होता है कि इस शब्द का प्रचलन बड़े पुराने समय से, सम्भवतः इण्डो-ईरानियन युग से, होता आ रहा है। **अवस्ता** के अग्नि-पूजक भारतीय साहित्य के ये अथर्वा ही प्रतीत होते हैं। अग्नि-पूजा का प्राचीन भारतीयों के दैनिक जीवन में भी वही महत्त्व था जो कि, उधर, पारसियों में था; इन अग्नि-पूजकों[2] को उत्तरी एशिया में 'शमन' कहते थे और अमेरिकन इण्डियन्स में इनकी प्रतिष्ठा कविराज या 'जादू के पुरोहित' करके थी। मीडिया में इन अथर्वाओं के लिए जो शब्द('मागी') इस्तेमाल होता था उससे भी यही प्रतीत होता है कि जादूगर और पुरोहित—दोनों का ही भाव 'अथर्वन्' की व्युत्पत्ति में समाविष्ट है : अर्थात् अथर्वाणि का अर्थ, मूल में, अथर्वा के (जादू के पुरोहित के) मन्त्र-तन्त्र ही था।

किन्तु अथर्ववेद का पुराना नाम **अथर्वाङ्गिरस** है जिसमें 'अंगिरस्' शब्द का अर्थ भी 'जादू-टोने' ही है। प्रतीत ऐसा होता है कि अथर्वाणि और अंगिरांसि में अभीष्ट भावना आशीर्वाद और अभिशाप—जादू के दो भिन्न तथा विपरीत पार्श्वों की थी, क्योंकि अथर्वाणि में जहां बीमारी आदि दूर करने के लिए गुप्त शक्ति है तो अंगिरांसि में शत्रुओं, प्रतिस्पर्धियों के विरुद्ध शाप देने की क्षमता है : और यही दोनों अंग अथर्ववेद की प्रायः 'समस्त विषयवस्तु' हैं। अथर्ववेद इस प्रकार अथर्वांगिरस का संक्षेप प्रतीत होता है। अथर्ववेद की जो शाखा (शौनक)[3] हमें पर्याप्त सुरक्षित मिलती है उसमें ७३१ सूक्त तथा छः हजार मन्त्र हैं; सम्पूर्ण संहिता २० अध्यायों में विभक्त है। इनमें २०वां अध्याय बहुत पीछे जोड़ा गया (और कभी १९वां अध्याय भी पुस्तक का अंग नहीं था) बीसवें अध्याय के प्रायः सभी मन्त्र ऋग्वेद में मिल जाते हैं; ऋग्वेद का प्रायः $\frac{1}{6}$ आज अथर्ववेद का अंग है। ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में सामान्य रूप से पाये जाने वाले मन्त्रों का अधिकांश ऋग्वेद के दसवें मण्डल में उपलभ्य है। कुछ ही मन्त्र आठवें या पहले मण्डल में मिलते हैं। १८वें अध्याय का क्रम-प्रस्ताव किसी निश्चित योजना के आधार पर किया गया प्रतीत होता है। प्रथम सात अध्यायों में छोटे-छोटे सूक्त संकलित हैं, यथा : प्रथम अध्याय में ४ मन्त्रों के सूक्त, द्वितीय में ५ के, तृतीय में ६ के, और चतुर्थ में ७ के। ५वें अध्याय में ८ से ले कर १८ मन्त्रों तक के सूक्त मिलते हैं, छठे अध्याय में तीन मन्त्रों वाले १४२ सूक्त हैं और सप्तम अध्याय में ११८ सूक्त जो प्रायः दो मन्त्रों

वाले ही हैं। अध्याय८-१४, तथा १७-१८ में लम्बे-लम्बे सूक्त हैं जिनमें २१मन्त्रों का एक सूक्त अध्याय के आरम्भ में ही प्रस्तुत है। अध्याय१५, और प्रायः अध्याय १६भी, इस श्रृंखला को भंग कर देता है। इन सूक्तो की भाषा भी, और शैली भी, सर्वथा ब्राह्मण-ग्रन्थों की भाषा और शैली ही है और—गद्यात्मक है !

यह है अथर्ववेद का बहिरंग रूप, अर्थात्—पद्यों की संख्याओं के अनुसार विभाजन-योजना। इसके साथ ही साथ एक-ही-विषय परक होने से दो, तीन, चार या इससे भी ज्यादह सूक्त, प्रायः, क्वचित्— एक साथ ही निबद्ध कर दिए गए हैं। अध्याय का प्रथम सूक्त, अध्याय के विषय के अनुसार, अध्याय के शुरू में दे दिया गया है; इसी आधार पर अध्याय २, ४, ५, ७ का आरम्भ परमात्म-विषयक जिज्ञासा के साथ होता है। ऐसा होना साभिप्राय भी है ; उपसंहार के तौर पर यह कहा जा सकता है कि संहिता का प्रथम भाग (अध्याय १-७) छोटे छोटे विविध गीतों का संग्रह है जबकि तृतीय भाग (अध्याय १३-१८) में अपना-ही कुछ विनिश्चित क्रम है : उदाहरणतया—१४ वें अध्याय में विवाह का प्रकरण है, तो १८ वें का विषय है——अन्त्येष्टि।

भाषा और छन्द(मूल अर्थों में) ऋग्वेद के ही भाषा-प्रकार और छन्दों की प्रतिच्छाया हैं, यद्यपि अथर्ववेद में परतर रूपों का प्रयोग भी हुआ है (यहां छन्द के विषय में स्वतन्त्रता भी(बरती जा सकती)है। अध्याय १५ सम्पूर्ण गद्यात्मक है; और अध्याय १६ (जिसका अधिकांश गद्य में है) में, कुछेक अन्य स्थलों की भांति, गद्य-स्पर्श मिलता है, और अक्सर यह भेद करना ही मुश्किल हो जाता है कि एक उदात्त गद्य में तथा एक सामान्य छन्द में विभाजक रेखा क्या हो सकती है। प्रक्षेप (अर्थात् वस्तु को बिगाड़ने)की प्रवृत्ति ने मूल-पाठ को बिगाड़ने में कोई कसर नहीं छोड़ी प्रतीत होती। भाषा तथा छन्द के आधार पर भी हम कह सकते हैं कि वेदों का रूप अब वही नहीं रहा। वैसे, सामान्यतः भाषा तथा छन्द के आधार पर, सूक्तों के कर्त्तृत्व का प्रश्न काल-दृष्टि से हल नहीं हो सकता ; सम्पूर्ण संहिता की तिथि तो अभी दूर की वस्तु है, क्योंकि—यह प्रश्न तब भी सदा बना ही रहता है, सदा बना ही रहेगा। भाषा और छन्द विषयक स्वतन्त्रता जो ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में कुछ अन्तर, कुछ भेद, दिखला सकती है, हो सकता है वह—युगदृष्टि से अथवा पुरोहित तथा जनता की अभिरुचि की दृष्टि से—वेद की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता सिद्ध करने में अपर्याप्त ही रहे।

लेकिन, फिर भी, अथर्ववेद निश्चय ही ऋग्वेद के अनन्तर ग्रथित हुआ। इसका सर्वप्रथम आधार अथर्ववेद की भौगोलिक स्थिति है, क्योंकि—वैदिक आर्य लोग अब दक्षिण-पूर्व की ओर गंगा के क्षेत्र तक पहुंच चुके हैं। ऋग्वेद में चीते और शेर का कहीं जिक्र नहीं, जब कि—अथर्व में दोनों एक विभीषिका बन चुके हैं।

राज्याभिषेक-संस्कार में चीते की खाल राजकीय शक्ति का प्रतीक है। अथर्ववेद में ब्राह्मणादि चार वर्णों का स्पष्ट परिचय तो मिलता ही है, साथ ही—ब्राह्मणों के विशिष्टाधिकार भी विशद हो चुके हैं ; यही नहीं, ब्राह्मणों और पुरोहितों के लिए एक नई संज्ञा 'भू-देव' का प्रवर्तन भी हो चुका है। अथर्ववेद के अभिचार-मन्त्रों का—जो इतने लोकप्रिय तथा प्राचीन थे—ब्राह्मणों के हाथों में पर्याप्त रूपान्तर हो चुका है। इन जादू-टोनों के मूल लेखकों के विषय में हमें कुछ नहीं पता, क्योंकि—यही मन्त्र अनुवाद रूप में हमें अन्य जातियों में मिलते हैं और वहां भी उनकी लोकप्रियता, उनका जादू, वही है। किन्तु, अथर्ववेद तक पहुंचते-पहुंचते, ब्राह्मणों के हाथों उन पर पुरोहिताई का मुलम्मा चढ़ चुका है। अथर्ववेद के सम्पादकों का दृष्टिकोण भी कुछ भिन्न है, क्योंकि—खेती-बाड़ी को नष्ट करने वाले कीड़े-मकौड़ों पर, क्षुद्र-जन्तुओं पर, जादू वारा गया है कि वो गन्दुम को छुएं नहीं (जैसे ब्राह्मण यज्ञभोग को हाथ नहीं लगाया करते !)। अथर्ववेद के सूक्तों का एक विशिष्टांग ब्राह्मणों के विषय में ही है कि ब्राह्मणों का आतिथ्य किस प्रकार किया जाय—उनका यज्ञशुल्क क्या हो, इत्यादि-इत्यादि। निस्सन्देह—इन मन्त्रों का ऋषि कोई ब्राह्मणेतर होना असम्भव है।

पुराने जादुओं, व 'मन्त्रों' पर ब्राह्मणों की मुहर के अतिरिक्त, अथर्ववेद के देवताओं का स्वरूप भी स्वयं उस वेद की अर्वाचीनता सिद्ध कर देता है। देवता तो वही अग्नि, इन्द्र, वरुण हैं, किन्तु उनकी वे पुरानी विशिष्टताएं प्रायः मद्धिम पड़ चुकी हैं, उनमें परस्पर भेद अब कोई-बहुत नहीं रह गया, और उनका मूल (प्राकृतिक) स्वरूप, अथवा अर्थ, भी प्रायः विस्मृत हो चुका है, : अथर्ववेद के मन्त्र उनकी स्तुति-उपासना—विशेषतः—भूतों, प्रेतों, बीमारियों को भगाने व नष्ट करने के लिए ही करते हैं ! इन सबके अतिरिक्त, अथर्ववेद में अध्यात्म तथा सृष्टि-विषयक प्रसंगों का आधिक्य भी इसी दिशा में संकेत करता प्रतीत होता है। इन सूक्तों में दार्शनिक परिभाषा बहुत-कुछ निश्चित हो चुकी है और सूक्तों का सर्वात्मवाद उपनिषदों के सर्वात्मवाद के समकक्ष-सा आ गया है। किन्तु इन्हीं उदात्त सूक्तों का प्रयोग एक जादू की छड़ी की तरह हो, और 'असत्' आदि दार्शनिक कल्पनाओं की उपयोगिता भी (४. १९. ६) शत्रुओं, दैत्यों, प्रेतों के नष्ट करने में ही परिसमाप्त हो जाय—यह सब यही सिद्ध करता है कि जादू-टोने की दृष्टि ने हर चीज को 'कृत्रिमता' से अभिभूत कर दिया है।

किन्तु इस बात से कोई यह निष्कर्ष न निकाल ले कि अथर्ववेद कुछ कम प्राचीन है (यद्यपि स्वयं भारतीयों ने इसे वेद के रूप में बहुत ही पीछे स्वीकार किया था)। इसका कुछ कारण तो स्वयं अथर्ववेद की विषय-वस्तु ही है : स्वयं भारतीयों के

अनुसार अथर्ववेद का विषय है—उपशमन, वर-याचना तथा अभिशाप। अर्थात्, क्योंकि इन जादू-मन्त्रों का अधिकांश अभिचार एवं शाप परक ही है, ब्राह्मण और ब्राह्मण-धर्म ही इसके विरुद्ध थे—जैसे यह कोई अपवित्र वस्तु हो जिसे छूने से ही पाप लगता हो! वैसे ही, जादू में और कर्मकाण्ड में कोई बहुत भेद हुआ नहीं करता, क्योंकि—दोनों की उपयोगिता परलोक से कुछ सिद्धि प्राप्त करने में ही समझी जाती है। और पुरोहित तथा जादूगर—दोनों की निष्ठा, दोनों की गतिविधि प्रायः एक-सी ही होती है। लेकिन, हर जाति के इतिहास में एक समय ऐसा आता है जब देवपूजा और इन्द्रजाल परस्पर पृथक् होने लगते हैं; पुरोहित जादूगर के खिलाफ आवाज बुलन्द करता है और भूत-प्रेतों की पोप-लीला के विरुद्ध उठ खड़ा होता है। यही स्थिति भारत में भी आई। बौद्धों और जैनों में ही नहीं, ब्राह्मण धर्मशास्त्रों में भी इन्द्रजाल को तथा अभिचार-क्रिया को एक पाप ठहराया गया है और जादूगरों की गणना उचक्कों, डाकुओं और धोखेबाजों, में करते हुए राजा को आदेश है कि वह उन्हें उचित दण्ड दें। यह भी ठीक है कि इन्हीं धर्मग्रन्थों में कुछ ऐसे स्थल (मनु ११. ३३) भी हैं जहां शत्रुओं के विरुद्ध अभिचार-तन्त्र प्रयोग में लाने का विनिश्चित आदेश है, और इन कर्मकाण्डों में महायज्ञों के प्रसंग में—जगह-जगह ऐसे मन्त्र, ऐसे रहस्यात्मक प्रयोग, मिलते हैं जिन्हें क्रियान्वित पुरोहित "जो हमसे द्वेष करता है और जिससे हम द्वेष करते हैं उसे" नष्ट करने के लिए करता है। कुछ हो, स्वयं ब्राह्मणों में ही जादू-टोने को एक 'वेद' मानना कुछ मुश्किल हो गया। उनकी बुद्धि ठिठक गई, और वे इसे अपने प्राचीन धर्मग्रन्थों में स्थान देने को तैयार न हुए। सो, शुरू से ही अथर्ववेद की स्थिति कुछ अजीब-सी रही है। प्राचीन वेदशास्त्र को 'त्रयी' विद्या कहने की प्रथा है। अथर्ववेद का परिगणन कई बार तो बिल्कुल होता ही नहीं और जब होता भी है तो हमेशा, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद का एक साथ नाम ले कर उसके बाद होता है। हैरानी तो यह है कि वेदों के साथ वेदांगों को, इतिहास, पुराण को भी पवित्र माना गया है, किन्तु अथर्ववेद का जिक्र तक (ऐसे स्थानों में) नहीं हुआ! शाङ्खायन गृह्यसूत्रों (१. २४. ८) में जात-कर्म संस्कार के अवसर पर नवजात में 'वेदाधान' करते हुए प्रक्रिया इस प्रकार है: "हम तुझमें ऋग्वेद का आधान करते हैं, यजुर्वेद का आधान करते हैं, सामवेद का आधान करते हैं। वाकोवाक्य, आख्यानोपाख्यान, इतिहास, पुराण, ज्ञान-विज्ञान का तुझमें आधान करते हैं।"—यहां भी अथर्ववेद का नाम तक नहीं आया। प्राचीन बौद्ध-साहित्य में भी ब्राह्मणों में श्रेष्ठ को त्रैविद् ही कहा गया है, किन्तु **कृष्ण-यजुर्वेद** की एक संहिता (तैत्ति० ७. ५. ११. २) में—तथा प्राचीन ब्राह्मणों और उपनिषदों में—अथर्ववेद का स्पष्ट उल्लेख हम (प्रथमबार) शेष तीनों वेदों के समकक्ष ही

हुआ पाते हैं; तब—उसकी प्राचीनता के सम्बन्ध में कोई सन्देह रह ही नहीं जाता।

हां, एक बात हम निश्चय से कह सकते हैं : वह यह कि—अथर्ववेद का जो रूप हमें आज मिलता है वह निस्सन्देह ऋग्वेद का समकालीन नहीं, यद्यपि उसका विषय कुछ अंशों में शायद ऋग्वेद से भी प्राचीनतर हो। इस प्रकार, सम्भवतः स्वयं अथर्ववेद का अर्वाचीन अंश ऋग्वेद के अर्वाचीन सूक्तों से परतर हो : अर्थात्—यदि कुछ अंश अथर्ववेद का ऋग्वेद के अधिकांश से परतर है तो कुछ, समकालीन ही नहीं, पूर्वतर भी हो सकता है : और इसीलिए—अथर्ववेद के कितने ही प्रसंग ऋग्वेद के प्राचीन यज्ञ-प्रसंगों की भांति धुंधले हैं, दुर्बोध हैं—क्योंकि वे एक भूले-हुए जमाने की याद हैं। जिस प्रकार ऋग्वेद में कोई एक विशिष्ट युग ही प्रतिविम्बित नहीं है, अथर्ववेद के नये और पुराने अंशों में भी सदियों का अन्तर है; अथर्ववेद के पिछले हिस्से तो जैसे ऋग्वेद के सूक्तों के नमूने पर ही लिखे गये लगते हैं। हमें ओल्डनबर्ग (**लितरेतुर दास आल्तेन इण्डिएन**, ४१) का यह विचार—निरपवादवत्-प्रस्तुत रूप में—कुछ जंचा नहीं कि भारत में प्राचीन मन्त्रों का आदि रूप गद्यात्मक था जिसे पीछे चलकर ऋग्वेद के यज्ञ-मन्त्रों के अनुकरण पर पद्यमय कर दिया गया!

बात यह है कि यदि ऋग्वेद की सूक्तियां और अथर्ववेद के मन्त्र, दोनों ही; स्वाभाविक उच्छ्वास हैं, तो—दोनों उच्छ्वासों में आसमान-पाताल का अन्तर है, दोनों की दुनियां ही, कुछ और है, दोनों का वातावरण ही कुछ और है : ऐसा क्यों? एक ओर—आकाश के महान् देवता हैं, प्रकृति की महती शक्तियां हैं जिन्हें ऋग्वेद का उद्गाता स्तुति, आहुति, प्रार्थना अर्पित करता है (क्योंकि वह उसके लौकिक जीवन में कुछ रंग, कुछ उदात्तता भर देती है); तो दूसरी ओर—अथर्ववेद के ऋषि का क्षेत्र अन्धकार, बीमारी, फूटी किस्मत, जादू, भूत-प्रेत आदि के अभिशाप हैं जिन्हें शान्त करने में ही वह 'दत्तचित्त' है। ये जादू के मन्त्र, गीत और तन्त्र प्रायः संसार में सभी-कहीं एक ही रूप में प्राये जाते हैं—क्योंकि मानव मन मूलतः एक-रूप ही है। उत्तरी अमेरिका के रेड-इण्डियनों, में अफ्रीका के हब्शियों में, मलय तथा मंगोलिया में, पुराने जमाने के यूनानियों और रोमनों में, और अक्सर आजकल के यूरोपियन किसानों में भी, वही विचार-बल, वही अन्धविश्वास, (ऐसे) मन्त्रों की अद्भुत शक्तियों में दृष्टिगोचर होता है। यही बात है कि अथर्ववेद के मन्त्रांशों में, विषय और विषय-प्रस्ताव दोनों-ही दृष्टियों से अमेरिकन-इण्डियन्स और तातार, शमन, और मर्सबर्ग के जादूगरों में—वही साम्य हम आज भी प्रत्यक्ष देखते हैं। पुरानी जर्मन कविता के अवशेषों में बाल्डेर के घोड़े की जब टांग टूटती है तो मयाना वोडेन जपता है :—

हड्डी के साथ हड्डी
खून में खून,
हर अंग—
जैसे हर दूसरे अंग के साथ जुड़ा हुआ हो।

इसमें और अथर्ववेद ४. १२ में (टूटी टांग को ठीक करने के प्रसंग में) क्या भेद है?:—

तेरी मज्जा मज्जा से मिल जाए,
टूटा अंग अपने टूटे हिस्से से मिल जाए,
और इस तरह—तेरा मांस और तेरी हड्डियां,
फिर से जुड़ जाएं।

जब मज्जा एकरूप हो जाय
तो चमड़ी, सेहत में आकर, उसे ऊपर से ढक दे:
तेरे खून में, तेरी हड्डी में, तेरे मांस में
—नई जिन्दगी आ जाए।

यह बूटी तेरे टूटे हिस्सों को जोड़ दे
उन पर चमड़ी का आ-वसन डाल दे,
और उस में से तेरे बाल, फिर से, उसी तरह
उगने लगें।

अथर्ववेद संहिता का वास्तविक महत्त्व इस में है कि अभी लोकप्रिय धर्म, साधारण जन-धर्म—ब्राह्मणों की पोप-लीला से अस्पृष्ट है। इस जनधर्म के अंग भूत-प्रेत, दैत्य, चाण्डाल, चुड़ैल और जादू—मानवजाति के क्रमिक विकिरण की कहानी बखूबी बता सकते हैं। एक ऐतिहासिक के लिए अथर्ववेद का महत्त्व क्या है—यह अथर्ववेद की विषय-सूची पर एक विहंगम दृष्टि डालने से ही स्पष्ट हो जाता है।

अथर्ववेद के मुख्य अंगों में एक **'भैषजानि'** —अर्थात् बीमारियों का इलाज करने के मन्त्र-तन्त्र है। इन मन्त्रों के सम्बोध्य या तो स्वयं रोग हैं या फिर उन रोगों को लाने वाले अधिष्ठाता कोई दैत्य (कृमि?)। भारत में भी, पुराने समय से, यह विश्वास चला आता है कि बीमारियां कुछ खास दैत्यों की बदौलत ही बीमार पर आया करती हैं। कुछ गीतों में, अलबत्ता, आयुर्वैदिक ओषधियों की स्तुति भी गाई गई है, जबकि कुछ अन्य प्रार्थनाओं में अग्नि और जल का आह्वान रोग-निवारण के लिए किया गया है। भारतीय आयुर्वेदशास्त्र का यह प्राचीनतम रूप है जब कि इन मन्त्रों में, और इन मन्त्रों के साथ जुटे कर्मकाण्ड में, कुछ शक्ति

मानी जाती थी। हमारे इस निष्कर्ष का साक्षी स्वयं **कौशिक सूत्र** है। लेकिन तमाशा यह है कि भिन्न-भिन्न बीमारियों के चिह्न इन गीतों में इतने स्पष्ट दिए गए हैं कि उनके रोग-शास्त्र का एक अंग होने में सन्देह रह ही नहीं जाता। यह बात खास तौर पर बुखार के बारे में लागू होती है। बुखार को रोगों का राजा कहा गया है (क्योंकि इसी से आम तौर पर हमें वास्ता पड़ता है और यह बड़ा ज़लील भी होता है)। कितने ही मन्त्र अथर्ववेद में **तक्मा** को सम्बोधित कर कहे गए हैं; अथर्ववेद ५.२२ में **बुखार** के इस दैत्य की कल्पना इन शब्दों में की गई है :—

क्यों तुम एक आग की तरह आते हो,
और लोगों का खून चूस कर—
उन्हें कमजोर कर देते हो ?

जाओ, तुममें अब कोई ताकत बाकी न रहे—
पाताल म जाकर अपना मुंह छिपाओ।
मन्त्र की महाशक्ति से मैं आज
ज्वर को
पाताल खदेड़ता हूं।
रोगी के शरीर पर कोई दाग, कोई तमक-लाली,
बाकी न रहे।
जाओ, तुम मूजवान् पर जा बसो,
वाह्लिकों में अपना डेरा बसा लो,
या—किसी शूद्र लड़की को अपना लो !

पर यह क्या ?—'मरीज सर्दी से कांप रहा है !
खांसी जरा चैन नहीं लेने देती,
और उसे शिकायत है कि—
अन्दर (बाहर, सभी जगह) आग ही आग लग रही है !'
कितने भयानक तौर हैं बुखार के ?—
खांसी, दमा और फुंसियां—बुखार के ये भाई-बहन,
ये भाई-बन्द—जाकर हमारे दुश्मनों में क्यों नहीं रहते ?

दूसरे लोगों में, दूसरे देशों में, भी बीमारी को खदेड़ने की प्रार्थना जैसे (अथर्ववेद-वत्) एक धर्मकृत्य ही है ! **खांसी** को भगाने के लिए भी उसी तरह की एक प्रार्थना अथर्व ६.१०५ में मिलती है : इच्छाशक्ति कहां से कहां पहुंच सकती है—कहां नहीं पहुंच सकती ? :—

एक तीर भी, हम देखते हैं—क्षण में ही—
बीच के अन्तर को लांघ जाता है,
सूर्य की एक किरण लोक-लोकान्तर में व्याप जाती है;
तो क्या उसी प्रकार यह मेरी खांसी
पृथ्वी को—पृथ्वी की समुद्र-परिखा को—
लांघ कर किसी और लोक को अपना आवास नहीं बना सकती ?

कई बार तो इन वर्णनों की चित्रमयता, भाषा की स्वच्छता, इतनी उठ आती है कि वे एक गीतिकाव्य-सा प्रतीत होने लगते हैं। किन्तु इस काव्य-स्पर्श से हम कहीं बहक न जाएं : हमारे लिए एकाध सुन्दर उपमा ही पर्याप्त होनी चाहिए : कहीं हम और अधिक आशा न कर बैठें ! अथर्व १. १७ में ज़ख्मी का खून बन्द होने में नहीं आता, तब :—

रक्त की वाहिनी ये नाड़ियां
अब क्षीण हो चुकी हैं—
—जैसे किसी कुआरी बहन का
भाई न रह गया हो।
ऐ—शरीर के ऊपर के हिस्से में,
निचले हिस्से में, और बीच के हिस्से में, बहने वाली शिराओं,—
और, हे रक्त के समुद्र—हृदय, तुम भी
क्षण भर के लिए शान्त हो जाओ—
—वैसे ही, जैसे समुद्र क विपुल प्रवाह
चारों ओर रेत ही रेत पाकर स्वयं शान्त हो जाया करता है।

किन्तु यह कविता का स्पर्श निरन्तरित नहीं मिलता। आम तौर पर तो इसमें शब्दों, वाक्यांशों, वाक्यों, विचारों की इतनी पुनरुक्ति होती है कि सुनने को जी नहीं चाहता, और (जादू का अंश होने से) इनके अर्थ को जानबूझ कर अस्पष्ट रखा गया प्रतीत होता है। अथर्व. ६. २५ में एक छालों से भरी देह है :—

गर्दन के आसपास के ये पचास या पचास से भी ज्यादह छाले
—ये अधपके उबाल—गजर जाएंगे।
: हैं शायद; या—सत्तर से भी अधिक है ?
, या उससे भी अधिक ?
ने ही हों,
गाएंगे।

जर्मनी में भी (सभ्यता की दृष्टि से पिछड़े प्रान्तों में) ५५, ७७, ९९ किस्म की बीमारियों का जिक्र हम आज भी पाते हैं :—

मसीहा का यह पानी और यह खून,
जिस्म की तमाम—सत्तर—बीमारियों के लिए अमृत है।

इसके अतिरिक्त, भारतीयों में ही नहीं, जर्मन लोगों में ही नहीं, कितने ही अन्यान्य देशों में—बीमारियां कीड़ों से उत्पन्न हुआ करती हैं : यह विश्वास भी प्रायः एक-सा ही मिलता है। सो, इन मन्त्रों में प्रायः इन कीड़ों को दुराने का भी जिक्र (अथर्व २. ३१) दृष्टिगोचर होता है:—

आंतों में, सिर में, पसलियों में,
—जहां कहीं, भी कीड़ें हैं : हम उन्हें
इस मन्त्र के जरिये चकनाचूर कर देंगे।
पहाड़ों पर, जंगलों में, पौधों में, पशुओं में, नदियों में,
कीड़े जहां भी हों,
हम उनका नाम न रहने देंगे :
—वे हमारे ही जिस्म में आकर क्यों रहें ?

यही नहीं, इन कीड़ों के भयानक रूप होते हैं : इनका भी सरदार होता है, गवर्नर होता है। इनके भी नर और मादा भेद होते हैं। ये रंग-बिरंगे होते हैं और इनकी शक्ल भी बड़ी अजीब होती है। बच्चों की बीमारियों के अधिष्ठाता ये कीड़े कितने भौंडे हो सकते हैं—इसकी कल्पना का एक नमूना अथर्ववेद ५. ३२ में इस प्रकार मिलता है :—

उसकी देह के सारे कीड़ों को मार दो :
हे इन्द्र, तू ही इस मेरी धरोहर का रक्षक है।
मेरे शाप द्वारा सब दानवी शक्तियां क्षीण हो चुकी हैं ;
—आंखों में, नाक में, दांतों में, जहां भी कहीं कीड़े हों,
हमारा यह ब्रह्मास्त्र हर-कहीं पहुंच जाता है !
दो कीड़े—एक रंग के हैं तो, विभिन्न रंगों के हैं तो,
—काले, लाल, भूरे, कोयल की शक्ल के, गीध की शक्ल के—
—बचकर कोई भी नहीं जा सकता !
रंग-बिरंगे ये कीड़े, सफेद-काले कन्धों वाले,
किस तरह लड़खड़ा रहे हैं।
कीट-राष्ट्र का अधिपति, और अधिपति का सामन्त,
दोनों ही अब जिन्दा रहीं रहे।

सम्पूर्ण राज-परिवार ही अब नाम-शेष हो चुका है,
उसका अन्तःपुर, उसके मित्र, उसके नन्हें बच्चे
...स्त्री-पुरुष—सब—मर गए !
हमने उनके सिर फोड़ डाले,
और अब—
उन्हें अग्निसात् करते हैं ।

बिलकुल इसी तरह के शब्द नर और मादा को खत्म करने के लिए, कि उनकी सन्तान आगे चल ही न सके, उधर पश्चिम में (जर्मन लोक-कविता में) भी मिलते है । दांत-दर्द पर एक लोकगीत है :—

ऐ नाशपाती,
मुझे तुझसे शिकायत है
कि तू ने अब तक मेरे त्रिःदुख को—
—मेरा खून चूसने वाले
भूरे, नीले, और लाल कीड़ों को—
(अब तक) मारा क्यों नहीं, खत्म क्यों नहीं कर डाला ?

विशेषतः पिशाचों और राक्षसों के विरुद्ध तो अथर्ववेद, जैसे लट्ठ ले कर पड़ा हुआ है क्योंकि पिशाचों और राक्षसों का पूर्ण वर्ग ही रोगों के लिए सभी कहीं एक उर्वरा भूमि माना गया है। इन मन्त्रों का ध्येय ही इन रोग-दैत्यों को खदेड़ भगाना है। अथर्ववेद ४. ३६ में जादूगर की सारी शक्ति, पुंजीभूत हो कर, इन शब्दों में उतरी है:—

जैसे बैल शेर के सामने टिक नहीं सकता,
और कुत्तों को कोई राह सूझती नहीं, ...
—पिशाचों के लिए मैं एक मुसीबत बनकर आया हूं :
मैं पिशाचों, चोरों, उचक्कों, आवारों, को बरदाश्त नहीं कर सकता,
जिस गांव में मैं घुसता हूं,
वहां से—ये दुम दबा कर खड़े होते हैं !

बीमारी की जड़—ये भूत-प्रेत हैं। इस विश्वास के साथ एक और अन्धविश्वास भारतीयों में यह भी है कि बीमारियों के नर और मादा मर्त्यों के पास रात के समय पहुंचते हैं। (क्या पुराने गन्धर्व और अप्सरा यही कुछ थे ?) जर्मन लोक-विश्वास में जिन्हें जादू के देव और परियां माना जाता है, मूल में, दोनों-ही प्रकृति में (नदी

और अरण्य की) अधिष्ठातृ-देवियां थीं; ये अद्भुत शक्तियां वृक्षों और नदियों में बसती हैं और इन्सान को तंग करने के लिए अपनी इन अप्राकृतिक खोहों को छोड़ कर जब-तब बाहर निकला करती हैं। प्राचीन भारतीय इन प्रेतात्माओं से मुक्ति पाने के लिए एक सुगन्धित बूटी, **अजा-शृंगी** का और (अथर्ववेद ४. ३५ की बीन) का इस्तेमाल किया करते थे :—

अजाशृंगी के द्वारा
मैं इन अप्सराओं और गन्धर्वों को बिखेरता हूं
—अजाशृंगी की सुगन्धि को वे सहन नहीं कर सकते।
अप्सराए, गुग्गुलु, पिला, नलदी, औक्षगन्धी, ऋमन्दनी, ...
—इन सब को मैंने खदेड़ दिया है, और अब
—ये नदियों में (या समुद्र में) पनाह ढूंढना चाहें, ढूंढ लें।
इनको मैंने पहिचान लिया है :
अब ये मेरे सामने टिक कैसे सकती हैं ?
अश्वत्थ और न्यग्रोध की छाया में
ये छुप सकती हों, तो छुप जाएं !
गन्धर्व—किस तरह अप्सरा के साथ नाचता हुआ आया था ?—
कहां हैं उसके वे 'दो-दो मुंह' ?
—वह बिलकुल निर्वीर्य्य हो चुका है !
वही गन्धर्व—जो अभी तक कुत्ते की तरह
बेचारी अप्सरा के पीछे पड़ा हुआ था—
उसके वे घुंघराले बाल,
वह उसका उल्लास,
—अब कहां है ?
अप्सरा और गन्धर्व, दोनों ही,
अ-मानुषी हैं :
अब वे—इन्सानों की बस्ती में—मर कर भी नहीं आएंगे।

पुराने जादू-टोनों में जर्मनी और भारत में, इन अजीबो-गरीब देवताओं को नदियों और वृक्षों में मुंह छुपा कर रखने के मन्त्र हैं। भारतीय अप्सराओं और गन्धर्वों की तरह जर्मनी की जल-परियां तथा अन्य क्षुद्रात्म (अर्ध-पशु) नृत्य और गान द्वारा मर्त्यों की जिन्दगी को दुर्भर बना देते हैं। जर्मन गाथाओं में भी गन्धर्वों में यह शक्ति होती है कि वे जब चाहे अपना रूप बदल सकते हैं—कुत्ता बन कर, बन्दर

बन कर, लहराते बालों से, वे—मनुष्य को विचलित कर सकते हैं। वृक्षों में पींग डाल कर वे भी शाखाओं के साथ झूले झूलते हैं। सुगन्धित बूटियां इन दैत्यों को खदेड़ने के लिए काफी हैं। इतनी समानताएं आनुषंगिक नहीं हो सकतीं। करीब साठ वर्ष हुए दोनों देशों के जादू-टोनों की तुलना करके एडाल्बर्ट कु'न' इस परिणाम पर पहुंचा था कि इन्द्रजालीय वाङमय के कुछ अंश ही नहीं, पूर्ण गीत, पूर्ण मन्त्र —जर्मनी और भारत में इण्डो-यूरोपियन युग के अवशेष रूप में आज भी, तद् यावत्, चले आते हैं : जिनके द्वारा प्रागैतिहासिक इण्डो-यूरोपियन कविता का पर्याप्त परिचय हमें मिल सकता है।

अथर्ववेद का अगला प्रसंग **आयुष** सूक्तों का है जिसमें स्वास्थ्य और दीर्घायु के लिए प्रार्थना की गई है; किन्तु, इन्द्रजाल-परक मन्त्रों से ये सूक्त कुछ बहुत भिन्न नहीं। चूड़ाकर्म, मुण्डन आदि पारिवारिक उत्सवों पर, तथा उपनयन पर, इन सूक्तों द्वारा दीर्घायुष्य के लिए प्रार्थना की जाती थी—जिसमें बार बार 'शरदः शतम्' के लिए एक-सौ-एक तरह की मृत्युओं से मुक्ति, तथा सभी तरह के रोगों से रक्षा, प्रभाव-वाह्यता के लिए—प्रार्थना करना प्रायः पुनरुक्ति-सा प्रतीत होने लगता है। १७वें अध्याय में इस प्रकार के तीस पद्यों का एक पूरा का पूरा सूक्त है—जिसमें आयुर्वेद की एक ओषधि से बार-बार वही प्रार्थना की गई है जो अक्सर बाजूबन्द या तावीज़ को सम्बोधित करके की जाया करती है।

इसी प्रसंग में **पौष्टिक** सूक्तों का भी उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है। बात यह है कि किसान, गडरिये और व्यापारी बिना देवी-देवता की पूजा के एक कदम—जिन्दगी में—उठा नहीं सकते; सो, किसी मकान का शिलान्यास करना हो, किसी जमीन पर पहली बार हल चलाना हो, बीज बोना हो, फसल काटनी हो, या फिर—खेती को कीड़ों से या आग पानी आदि की कज़ा से बचाना ही अभीष्ट हो, और—इसी प्रकार—अपने पशुधन को जंगली जानवरों से, डाकुओं से अभिरक्षा इष्ट हो, या यात्रा के लिए स्वस्त्ययन ही इष्ट हो, जुए पर दाव लगा हुआ हो, या सांप के प्रभाव से बचना हो : 'प्रार्थना' अपना प्रसंग आप ही ढूंढ लेती है। इन मन्त्रों में कवित्व की खोज करना बेवकूफी है, क्योंकि—सारे में वही की वही रट होती है (एकाध पंक्ति निहायत खूबसूरत भी यदा-कदा आ सकती है)। इन सुन्दर सूक्तों में एक सूक्त (अथर्ववेद ४.१५) है जहां हवा के पंखों पर उड़ते बादलों के बारे में कहा गया है कि "बादलों की ओढ़नी ओढ़े यह महान् वृषभ चिंघाड़ता है : मेंह बरसाता है और पृथ्वी फिर से हरी-भरी हो जाती है!" मेघ से (पद ६) प्रार्थना की गई है :—

इतना पानी बरसाओ
—कि इन्सान पनाह ढूंढता रह जाय।

किन्तु—ग्वाले को
सही-सलामत ही उसके घर पहुंचने देना।

किन्तु जिन मन्त्रों में सार्वजनीन सुख अथवा दुःख कष्ट से मुक्ति के लिए प्रार्थना की गई है, उन में कवित्व बहुत ही कम है। अथर्व ४. २३-२९ में इस प्रकार के **मृगार** सूक्तों का एक स्तवक प्रस्तुत है जिसके हर सूक्त में सात-सात मन्त्र हैं। सूक्तों का सम्बोधन क्रमशः अग्नि, इन्द्र, वायु और सविता, द्यावापृथ्वी, मरुत, भव और शर्व, मित्र और वरुण—से किया गया है कि 'हमारे कष्ट दूर करो।'

अद्भुत यह है कि ऐसे प्रसंगों में **अंहस्** शब्द का अर्थ कुछ 'मुसीबत, कष्ट' है तो कुछ 'पाप, अपराध' भी। शायद इसीलिए, उपरिनिर्दिष्ट सूक्त-सप्तक का विनियोग प्रायश्चित्त-प्रकरण में होता है। इन प्रायश्चित्त सूक्तों में और रोगनिवारण, दीर्घायुष्य परक सूक्तों में कोई बहुत भेद नहीं है क्योंकि—भारतीय विचारधारा के अनुसार—प्रायश्चित्त का अवसर कोई वास्तविक पाप व नियम-भंग ही हो, ऐसी बात नहीं; यहां तो मन-वचन-कर्म—तीनों को ही पाप का एक-सा माध्यम माना जाता है। इसलिए उधार लेना और उसे वापिस न करना, जुआ खेलना लेकिन बाज़ी न दे सकना, ग़ैर-कानूनी शादी या छोटे भाई का बड़े भाई से पहले विवाह—इत्यादि के लिए यहां—जहां प्रायश्चित्त का विधान है वहां बीमारियों,अपशकुनों पर, युग्मजों के जन्म पर, अथवा किसी भयंकर 'ग्रह'-यन्त्रणा एवं दुर्घटना के प्रत्यक्ष पर भी—प्रायश्चित्त-परक तन्त्र, मन्त्र,गीत विहित हैं। भारतीयों के मन में पाप, अपराध, किस्मत, बुरे विचार—प्रायः, पर्यायवाची होते हैं; और यह भी माना जाता है कि बीमारी और बदकिस्मती गुनाह और बुरा-ख्याल—सभी के लिए कोई-न-कोई प्रेतात्मा जिम्मेवार है; जैसे कि एक बीमार आदमी या एक पागल, समाज का एक अपराधी या एक छुपा पापी—सभी किसी-न-किसी दैत्य या चुड़ैल के कब्जे में समझे ही जाते हैं। सभी बीमारियां, अपशकुन और दुर्घटनाएं, सभी प्रकार के प्रकोप इन्हीं देवता-स्वरूपों की देन हैं। १०.३ में एक बाजूबन्द की स्तुति की गई है और उसे मन्त्र-शक्ति से इतना भर दिया गया है कि कोई अभिशाप, कोई बुरा स्वप्न या शकुन या टोना अब उसे पहनने वाले के खिलाफ कारगर नहीं हो सकता: यही नहीं, एक-ही बाजबन्द सम्पूर्ण परिवार को सर्वथा-सुरक्षित रखने के लिए समर्थ है और सभी प्रकार की बीमारियों के विरुद्ध एक रामबाण भी है।

पारिवारिक वैमनस्य भी इन्हीं तथाकथित देवताओं का प्रकोप ही होते हैं। सो, जहां अथर्ववेद में **सांमनस्य** के गीत आते हैं, उनकी स्थिति इन प्रायश्चित्त सूक्तों तथा आशीर्वचनों के बीच-की ही होती है,क्योंकि—इन मन्त्रों में, एक ओर, परिवार में सुख शान्ति के लिए प्रार्थना होती है तो उसके साथ, दूसरी ओर,वही शब्द देवता के प्रकोप को शान्त करने के लिए भी प्रयुक्त हुए होते हैं। ऐसे प्रसंगों के साथ ही सभा

में, राज्याधिकरणों में—वाग्मिता आदि अन्यान्य प्रसंगों का भी संकेत प्रायः समानान्तर होता है। इन में भी अथर्ववेद ३.३० को, एक प्रकार से, आदर्श-सूक्त कहा जा सकता है :—

तुम्हारी भावनाएं और चिन्तन एक हों,
तुममें परस्पर विद्वेष न हो,
परार्थ में ही तुम्हें सुख मिले :
—जैसे गौओं का सारा जीवन
अपने बछड़ों की देखभाल में ही सब-कुछ पा लेता है।

पुत्र पिता का आज्ञाकारी हो;
माता का आदर करे;
पत्नी पति के सम्मुख मीठे वचन ही होठों पर लाये।
भाई-भाई में प्रेम हो और बहनें
—भाइयों की छत्रछाया में—
आपस में सौतें न बन बैठें :
—मन, वचन तथा कर्म में यह विश्व
एक खुला घोंसला बन जाए, सर्व-जन-हित-सुखाय
—एक 'सर्वार्थसिद्धि' मन्दिर बन जाय !

और इन सांमनस्य सूक्तों का प्रयोग पति-पत्नी के बीच में उठ-खड़े वैमनस्य को दूर करने के लिए भी किया जा सकता था। किन्तु विवाह और प्रेम सम्बन्धी अभिचार मन्त्र अथर्ववेद का एक स्वतन्त्र विभाग ही हैं : **कौशिक सूत्र** में हमें कितने ही प्रकार के प्रेम-सम्बन्धी अभिचार-तन्त्रों का विधान मिलता है जिन्हें वहां **स्त्री-कर्माणि** कहा गया है, और इन स्त्रीकर्माणि के प्रसंग में ही अथर्ववेद के इन सूक्तों और मन्त्रों का प्रयोग मूलतः हुआ भी करता था। विवाह और प्रेम सम्बन्धी ये अभिचार मन्त्र प्रायः दो प्रकार के होते हैं : एक तो वे—जिनकी उपयोगिता वैवाहिक (एवं सामाजिक) जीवन में पुत्रोत्पत्ति द्वारा शान्ति इष्ट हो, और दूसरे वे—जिनकी 'धार्मिकता' कुमारी कन्याओं द्वारा वर ढूंढने में (और वरों द्वारा वधू खोजने में) स्वयं-सिद्ध हो जाती है; इसी प्रकार नव-विवाहितों के प्रति आशीर्वाद, अथवा गर्भिणी के गर्भ की रक्षा, तथा अजात एवं नवजात की अभिरक्षा—की दृष्टि से, तथा पुसंवन की अभिलाषा से, उद्गीर्ण भावों में इन सूक्तों की उपयोगिता सिद्ध है। अथर्ववेद का १४वां अध्याय इसी प्रकार के मन्त्रों और सूक्तों से भरा पड़ा है जो वस्तुतः ऋग्वेद के विवाह-सम्बन्धी मन्त्रों का ही एक परिवर्धित एवं नूतन संस्करण प्रतीत

होता है। इन मन्त्रों के अतिरिक्त, कुछेक सूक्त वैवाहिक जीवन में विक्षोभ तथा मन-मुटाव लाने के लिए भी प्रयुक्त हुआ करते थे : इसमें कोई सन्देह नहीं। और मन-मुटाव एक बार हो जाने पर पत्नी को हम प्रायः पति की विद्वेष-भावना को शान्त करने के लिए कुछ शान्ति-मन्त्रों का पाठ करती हुई पाते हैं, तो उधर पति एक विश्वासघातिनी पत्नी का प्रेम पुनः प्राप्त करने के लिए उसी प्रकार के मन्त्रों का उपयोग करता है। अथर्ववेद ४-६ में प्रेमी प्रेयसी के यहां रात को चुपके-चुपके आ गया; उसके मुख से उस समय निकले मन्त्र हैं : "तेरी मां नींद में सोई रहे, तो तेरा पिता, घर के सब वृद्ध, नींद में मस्त रहें—कुत्ते की भी आंख न खुलने पाए, तेरे सगे-सम्बन्धी अभी उठें नहीं।" गन्धर्वलीला के प्रसंग में कुछ तन्त्र-मन्त्र उस प्रागैतिहासिक सभ्यता की स्मृति ताजा कराते प्रतीत होते हैं—जब मन्त्रों द्वारा किसी व्यक्ति को लोग उसकी अपनी इच्छा के विरुद्ध प्रेम करने पर मजबूर किया करते थे। विश्व भर में उस युग में तब एक विचार प्रसिद्ध था कि किसी व्यक्ति की तस्वीर या मूर्ति बना कर उसके द्वारा उस व्यक्ति के हृदय को(अपने) वश में लाया जा सकता है। भारत में भी यही अवस्था थी। यदि कोई पुरुष किसी स्त्री का प्रेम प्राप्त करना चाहे, तो उसके लिए बड़ा आसान तरीका यह था कि "प्रेयसी की एक वह मिट्टी की मूर्ति बना ले और पोस्त के रेशों से धनुष की डोरी बना कर, फूलों-भरी डालियों का एक धनुष बना कर, तीर में एक कांटा सिर-लगा कर, उल्लू के पंख से तीर के पिछले भाग को सजा कर, और काली लकड़ी की एक कमान बना कर—यदि उस मूर्ति के हृदय को अब तीर के साथ बींधना शुरू कर दे तो,—उसका अर्थ यह समझा जाता था कि, इस प्रकार, प्रेमी अपनी स्वप्न-प्रिया के हृदय को काम-विद्ध कर रहा है, 'परवश' कर रहा है: अब वह निश्चय ही उसकी, उसी की, बन जाएगी।" इस प्रसंग में अथर्ववेद ३. ३५ के कुछ मन्त्र इस प्रकार हैं :—

मन्मथ तुझे मथित कर दे;
बिस्तर में तुझे शान्ति की नींद न आए :
काम के घोर शर द्वारा मैं तेरे हृदय को बींध रहा हूं।

यह तीर—जिसमें मेरे मनोरथ के पंख लगे हैं,
मेरे प्रेम की नोक, ...
मेरी अदम्य इच्छा जिसकी कमान है :
—कामदेव इसके द्वारा तेरे हृदय को बींध दे।
काम के उस लक्ष्य-वेधी बाण द्वारा
—जो पंखों से उड़ता है,

विपक्षी को भस्म कर देता है—
उसके दिलो-जिगर को खुश्क कर देता है :
—मैं तेरे हृदय को बींधता हूं ।

काम की अन्तर्ज्वाल द्वारा विद्ध होकर, समिद्ध हो कर,
अपने सूखे लबों के साथ—प्यास की मारी—
तू मेरे पास, झट से, आ जा :
—अपने अभिमान को एक ओर रख के
वाणी की मधुरता के साथ
मेरे प्रेम में पगी—मेरी ही बन कर—
मेरे यहां पहुंच जा—मेरे हृदय में, मेरे अंगों में
समा जा !

एक अंकुश चुभो कर, मानो,
मैं तुझे तेरे माता-पिता से पृथक् करता हूं
कि अब तू मेरी (वशं-वद) हो जा :
मेरी इच्छा की दासी बन जा ।

हे—दैवी युगल, मित्र और वरुण
तुम उसे विचारशक्ति से सर्वथा हीन कर दो, और—
इच्छाशक्ति से भी सर्वथा विरहित करके . . . .
उसे मेरी ही 'अधीन' कर दो ।

और यदि किसी औरत के मन में भी कुछ ऐसी ही इच्छा पैदा हो जाय तो वह भी इसी प्रकार के मन्त्रों द्वारा किसी भी पुरुष को 'निर्वश' करके अपना सकती थी । तरीका वही है : पुरुष की मिट्टी की मूर्त्ति बना कर अपने सामने रख लो, और अथर्ववेद ६ तथा १३८ के मन्त्रों के साथ उस मूर्त्ति पर तीर चलाने शुरू कर दो । इन मन्त्रों की टेक हैं : "हे देवताओ, अपने काम-दूत इधर भेजो और इसे मेरे प्रति प्रेम से दिग्ध कर दो ।" कुछ मन्त्र इस प्रकार है :—

हे मरुतो, हे वायु, हे अग्नि :
इसे प्रेम से पागल कर दो,
—इसमें मेरे लिए मुहब्बत की मस्ती जगा दो ।
'मैं तुझे शाप देती हूं

और अपनी उत्कट इच्छा से—
तुझे प्रेम से आहत करती हूं ।

हे देवताओ, अपने काम-दूत इधर भेज दो
और इसे मेरे प्रति प्रेम से आविष्ट कर दो ।

'भले ही तू तीन योजन, पांच योजन
(दिन में) दौड़ सकता हो—
उतनी दूर जहां तक कि एक घोड़ा
पहुंच .... ओझल हो जाय !....

'तुझे लौट कर वापिस आना ही पड़ेगा—
मेरी घर-गिरस्ती का, और हमारे नन्हे-मुन्हों का,
पालक—पिता—तुझे बनना ही पड़ेगा ।'

कुछ मन्त्र ऐसे भी हैं जिनमें यह 'प्रेम' पशुता की हद तक पहुंच गया है। ऐसे अवसरों पर जबकि स्त्री का उद्देश्य अपने प्रतिपक्षियों के, अपनी सौतनों के उच्छेद और विनाश के अतिरिक्त और कुछ न हो—(ऐसे अवसरों पर) घृणा के अतिरिक्त और वह उगल भी क्या सकती है? अथर्ववेद १. १४ का एक ही उदाहरण पर्याप्त होना चाहिए :—

'मैं उस कम्बख्त की सारी सम्पत्ति को,
—सारी विभूति को,
इस प्रकार अपना रही हूं
—जैसे किसी वृक्ष से एक फूलों की माला
गूंथ रही होऊं !'

× × ×

'एक विपुल पर्वत
जिस प्रकार अपने विपुल आधार के साथ
वहीं जमा रहता है :
—वह भी
युग-युगान्तर अपने माता-पिता के
घर में ही जमी रहे ।

'हे, यमराज,
यह औरत तेरी ही पत्नी बनने के काबिल है :
तब तक—यह अपनी मां के साथ,

अपने भाई के साथ,
अपने पिता के साथ,
—बनी रहे : 'सौभाग्यवती' बनी रहे !

'हे यम,
यह औरत तेरी ही गृहिणी बने तो बने
—तेरा ही घर संभाले,
और इससे पूर्व कि इसके बाल सिर से झड़ नहीं जाते
यह अपने ही रिश्तेदारों में—क्वारी ही अच्छी !'

× × ×

असित, कश्यप और गय
के प्रभावशाली मन्त्रों द्वारा
मैं तेरे सौभाग्य को
उसी प्रकार आच्छादित करती हूं
जैसे—किसी सन्दूक में कोई कंजूस अपने मनहूस खजाने को ।

यहीं पशुता, शायद, सीमोल्लंघन तक पहुंच चुकी प्रतीत होती है जब कि इन अभिशाप-मन्त्रों का प्रयोग, अथर्ववेद ७. ३५ में, औरत को बांझ बनाने के लिए—या फिर, अथर्ववेद ६. १३८ एवं ७. ९० में, पुरुष को उसकी जननेन्द्रिय से विहीन करने के लिए—करने का विधान है।

प्रेम के प्रसंग में, इन मन्त्रों का प्रयोग शुरू-शुरू में अंगिरांसि के व्यापक नाम द्वारा हुआ करता था : **अंगिरांसि**—अर्थात् दैत्यों, जादूगरों, तथा शत्रुओं के विरुद्ध प्रयुक्त होने वाले अभिशापों का विधान—जिनका दूसरा नाम **आभिचारिकाणि** भी है। घाव और बीमारी वगैरह को शान्त करने के लिए प्रयुक्त मन्त्र भी आरम्भ में, सम्भवतः, इसी श्रेणी में आते थे, क्योंकि —तब अन्ध-विश्वास यही था कि बीमारी दैत्यों, दानवों, राक्षसों की ही एक देन होती है। इसी प्रकार के सूक्तों का एक समुदय अथर्ववेद अध्याय १६ का उत्तर-भाग है जिसमें **दुःस्वप्न** से मुक्ति पाने के लिए मन्त्र में कहा गया है कि वह शत्रुओं के घर में अपना डेरा लगाए; और, जब ये अभिशापमन्त्र प्रयुक्त होते हैं—तब, दैत्यों ऐन्द्रजालिकों, चुड़ैलों में किसी प्रकार का भेद मालूम नहीं देता : क्योंकि—(ऐसे प्रसंगों में) अग्नि को विशेष रूप से आमन्त्रित किया जाता है कि वह आकर हमारी इन राक्षसों से मुक्ति दिलाए। दैत्यों के कितने ही लोकप्रसिद्ध नाम—जिनका प्रसंग और कहीं नहीं आता—इन सूक्तों में हमें प्रायः मिल जाते हैं। और इन नामों के साथ सम्बद्ध कथाएं भी, वस्तु एवं विन्यास में, वैदिक न हो कर लोकवाङमय-गत अधिक हैं। इस प्रकार, एक बद्धमूल-सी

आस्था लोकमानस में घर कर चुकी है कि बीमारी और बदकिस्मती दानवों के अतिरिक्त जादू-टोनों से समर्थित विशिष्ट-पुरुषों की—वी-आई-पी'ज़ की—देन भी हो सकती है ! मन्त्र-शक्ति में यह विश्वास, मात्र भारतीय नहीं, सार्वलौकिक है। जिस मन्त्रशक्ति द्वारा ये दुष्ट (जन) मुसीबत लाते हैं, प्राचीन गीतों में वह प्रायः कोई जीती-जागती-सी वस्तु समझी जाती है; और उससे बचने का उपाय भी जादू-टोनों के द्वारा उसी प्रकार समर्थित कोई बूटी, कोई कंगन, कोई तावीज, या कोई और चीज, होती है जिसके सामने आते ही मुसीबत आप से आप छू-मन्तर होने लगती है। कुछ हो, जादू-टोनों के इन मन्त्रों एवं सूक्तों में जादू का बुरा और अच्छा प्रयोग भले ही हमें पसन्द न हो, लेकिन उसकी ताकत को, उसकी शक्तिमत्ता को, हमें मानना ही पड़ता है; और उसमें भी अपनी ही एक खूबसूरती होती है जो ऋग्वेद के यज्ञपरक सूक्तों में हमें कहीं नहीं मिलती। अथर्ववेद ५.१४ में जादू की बुरी निगाहों से बचने के लिए कुछ मन्त्र इस प्रकार आते हैं जो निस्सन्देह विश्व लोक-वाङ्मय का एक अविभाज्य अंग माने जा सकते हैं :—

एक गरुड़ ने तुझे कहीं पाया था :
एक जंगली सूअर
—पता नहीं जमीन के किस कोने से—
तुझे अपनी थूथनी से कुरेद कर बाहर लाया था।
हे ओषधि, उठ
और उठ कर कुछ करामात दिखा :
—इस जादू-भरी मुसीबत को
खत्म कर दे—दूर भगा दे।

इन यातुधानों को
इन ऐन्द्रजालिक वृत्रों को खदेड़ दे ;
हे ओषधि, अपने जादू से
हमें तंग करने वाले इस आदमी को
परे ले जा।

सफेद पैरों वाले कृष्ण मृग को
जैसे उसी की खाल की बनी रस्सी से बांध देते है,
जादू की सुनहरी शृंखला से,
हे परमेश्वर,
खुद नामुराद जादूगर को बांध दे।

'जादू-टोने' का यह जबरदस्त हाथ पकड़ कर
उसे, वापिस जादूगर के पास लौटा दे,
जादूगर के सामने इसे टिका दे
कि जादूगर को अपनी ही मौत नजर आने लगे।

जादू की इस कला को, इस अभिशप्ति को,
अभिशाप देने वाले उस जादूगर के
घर ही वापिस ले जा।

जादू का यह सुनहरी रथ
अपने पहियों के साथ
उलटा चलना शुरू कर दे,
और स्वयं जादूगर को ही कुचल दे।
जैसे--घोड़े को रस्सी से बांध कर
उसे उसके ठिकाने पर वापिस ले जाते हैं:
जो कोई भी यहां—मनुष्यों में, पशुओं में—
अद्भुत शक्ति द्वारा मुसीबतें बरसाता है
—हम उसी की शक्ति से आज उसी-को क्षीण करते हैं।

और तू भी, ओ जादू और जादू की छड़,
—वहीं वापिस पहुंच जा
जहां से कि तेरा जन्म हुआ है !
एक कुचले हुए सांप की तरह चमक उठ—
और अपने बन्धनों से छूट
—उस बांधने वाले को ही बांध दे,
डस दे, ख़त्म कर दे !

इसी प्रकार, अथर्ववेद ६. ३७ में भी अभिशाप को ऐसे सम्बोधित किया गया है जैसे वह कोई प्रतिमूर्त्ति एक दानवी शक्ति हो :—

रथ में घोड़ों को जोत कर, शाप
—सहस्राक्ष बन कर—
मेरे अभिशप्ता को ढूंढने निकल पड़ा है
—जैसे भेड़िया किसी गडरिये का घर ढूंढने
निकला हो !

किन्तु, हे अभिशाप—,
तूने हमें न छूना;
जैसे दावानल सरोवर को छोड़ जाती है;
और जैसे बिजली आसमान से नीचे की ओर गिरती है
और वृक्ष को भी अपने साथ गिरा देती है
—तुझे भी अपने शत्रु का पता हो।

जो कोई भी हमें शाप देता है
या स्वयं अभिशप्त हो कर, या अनजाने यूं-हीं,
हमारी जिन्दगी से खिलवाड़ करता है :
मैं उसे मृत्यु के ग्रास की तरह उसी तरह फेंकता हूं
जैसे—किसी कुत्ते को कोई
हड्डी का एक टुकड़ा फेंक रहा हो !

अथर्ववेद ४. १६ में—वरुण की जो उदात्त स्तुति गाई गई है, परमेश्वर की सर्वज्ञता और सर्वशक्तिमत्ता को जिस प्रकार प्रत्यक्ष किया गया है : उसका कुछ आभास हमें पाश्चात्यों की धर्मपोथी बाइबल के 'साम' गीतों में हो चुका है। किन्तु अथर्ववेद के मन्त्रों में कुछ विशेषता है : जो हमें इधर नहीं मिलती, क्योंकि—सूक्त के उत्तरार्ध में फिर झूठों के विरुद्ध, द्रोहियों के विरुद्ध, अभिशाप की वही पुरानी वृत्ति फिर से जाग उठी है जो अथर्ववेद में तो प्रायः मिलती ही है किन्तु (भारत में) अन्यत्र दुर्लभ है। सूक्त इस प्रकार है:—

सातवें आसमान में रहने वाला परमेश्वर
हमारे कृत्यों को भली भांति जानता है
—जैसे वह, यहीं-कहीं, निकट में खड़ा हो !
हम अपने कुकृत्यों को कितना ही छिपा-लें,
क्या देवताओं से भी कुछ ओझल किया जा सकता है ?

हम खड़े हों, चलते-फिरते हों,
चोरी करते हों, या फकत हेरा-फेरी करते हों,
कहीं जा कर छुप जाएं :
—देवता हमारी सारी गतिविधि हर घड़ी देख रहे होते हैं।

जहां-कहीं भी षड्यन्त्र हो रहा होता है—
और दोनों जने सचमुच समझ भी यही रहे होते हैं कि और कोई नहीं है, . .

वे अनजान—क्या जानें कि वरुण भी उन्हीं-में
—एक तीसरा बन कर—वहीं-कहीं ओट में विद्यमान है !

वरुण सर्वव्यापक है,
पृथ्वी और आकाश में उसका साम्राज्य है, उसी एक का साम्राज्य है ।
यह चतुर्दिक्-अनन्त समुद्र उसी का विश्राम-स्थल है
और छोटे-छोटे ये सरोवर—सब उसी बाल-कृष्ण के क्रीड़ागार हैं !

भले ही आसमान से परे पहुंच जाओ,
—वरुण की आंख से नहीं बच सकोगे, कभी नहीं ।
आसमान से ही उसके दूत,
उसके गुप्तचर, उतरते हैं—
और अपनी उन हजारों आंखों से
पृथ्वी का कोना-कोना छान जाते हैं !
पृथ्वी, आकाश और वह परात्पर व्योम :
—विश्व में कुछ भी तो नहीं, जहां वरुण की आंख न पहुंच सकती हो !
यहां तक कि—हमारे आंख झपकने तक को
वह उसी प्रकार गिन सकता है—
जैसे कोई जुआरी—
जुए के सब दावों को !

हे वरुण,
तेरे घोर पाश,
सात-सात करके तीन बार
पापी को लपेट लें, झूठ बोलने वाले को निकम्मा कर दें—
और—सच बोलने वाले को छोड़ दें ।

हे वरुण,
तुम-तो हमारी सब करनी जानते हो ;
झूठा आदमी बच कर निकलने न पाए,
उसे अपने सैकड़ों पाशों में बांध लो !
दुश्चरित्र का पेट फाड़ दो—
उसकी सारी पोल उसी प्रकार खुल कर बाहर आ जाय
जैसे कहीं कोई पीपा उलट गया हो !

वरुण के जो भी पाश
दाएं-बाएं, ऊपर-नीचे—फैले हुए हैं
—वे पाश जो हमें ज्ञात हैं,
—वे पाश जो, हमें ज्ञात नहीं, दैवी हैं—
उन सबसे मैं अपने शत्रु को बांध रहा हूं,
उसके वंश को निर्मूल कर रहा हूं।

इसी सूक्त के सम्बन्ध में रोथ ने एक स्थान पर कहा है: "सम्पूर्ण वैदिक वाङमय में कोई भी और स्थल ऐसा नहीं शायद जहां दैवी सर्वज्ञता को इतने प्रभावपूर्ण शब्दों में वर्णित किया गया हो; किन्तु इतनी सुन्दर कलात्मक कृति का प्रयोग अभिशाप के लिए करके उसे 'अवद्य' कर दिया गया। खैर, अथर्ववेद के अन्यान्य स्थलों की भांति यहां भी अनुमान यही निकलता है कि प्राचीन सूक्तों में कुछ ही अंश ऐसे अवशिष्ट रह गए हैं जिनकी उपयोगिता इन जादूभरे विनियोगों के अतिरिक्त और कुछ न रह गई थी। अन्यथा, सूक्त के प्रथम पांच मन्त्रों में और पिछले चार मन्त्रों में संगति बिठा सकना असम्भव है।" इसके विरुद्ध ब्लूमफील्ड का यह कहना कि सम्पूर्ण कविता ही शुरू में अभिशापमूलक थी—कुछ उचित नहीं जंचती।

कितने ही अभिचार-सूक्त राजाओं और क्षत्रियों के लिए लिखे गए थे, जिनमें अपनों के लिए आशीर्वाद तथा परायों के लिए शाप स्वाभाविक ही प्रतीत होता है 'पुराने समय से भारत में प्रत्येक राजा को अपने लिए एक कुल-पुरोहित नियुक्त करना आवश्यक होता था, और इस कुल-पुरोहित के लिए राज-जीवन के अंग-भूत अन्यान्य मन्त्र-तन्त्रों, विनियोगों, और मन्त्रों का परिचय आवश्यक होता था। अथर्ववेद का इस प्रकार क्षात्र धर्म से अथवा **राजकर्माणि** से भी निकट सम्बन्ध है। राज-कर्म-परक इन सूक्तों में सिंहासन पर बिठा कर राजा को अभिषेक करने के लिए कुछ मन्त्र हैं, तो दूसरे कुछ मन्त्र अन्य सीमान्त- नृपतियों पर अपनी प्रभुता स्थापित करने के लिए भी विहित हैं; और, साथ ही, कवच धारण करते समय, रथ पर चढ़ते समय या युद्ध जाते समय—उसकी अभिरक्षा के लिए प्रार्थनाएं भी हैं। अथर्व ३.४ में राजा के निर्वाचन के समय एक प्रार्थना गाई गई है जिसमें स्वयं देव-राट् वरुण उपस्थित हो कर राजा का चुनाव करता है, क्योंकि—वरुण का मूल सम्बन्ध √**वृ** धातु से जो है! अथर्व ३. ३ में निर्वासित राजा को पुनः पद-प्रतिष्ठित करने के लिए एक अद्भुत उपाय अभि-लिखित है। क्षत्रियों से सम्बद्ध सूक्तों में सबसे सुन्दर कृति सम्भवतः अथर्ववेद के **युद्धगीत** हैं—और उनमें भी, विशेषतः, योद्धाओं को युद्ध और विजय के लिए उकसाने वाले गीत। दो **दुन्दुभि-गीत** अथर्व-वेद ५. २०-२१ हैं जिनसे कुछ पंक्तियां हम यहां उद्धृत करना चाहेंगे :—

काष्ठनिर्मित और चर्मबद्ध--
उच्च ध्वनि वाला दुन्दुभि ही
हमारा परम वीर है, हमारा सेनापति है ।
सिंह की तरह दहाड़ते हुए, हे दुन्दुभि,
उठ, और उठ कर, शत्रुओं को भयभीत कर दे,
नष्ट कर दे ।

और जब शत्रु की सेना, डर में,
तितर-बितर होने लगे
एक जंगली बैल की तरह
तू उसकी सम्पत्ति पर कूद पड़;
व्यथा से शत्रु के हृदय को बींध जा
और उसमें फिर वापिस आने की ताकत न रहने दे !
शत्रु
अपना घर भी छोड़ कर भाग जायं ! !

दुन्दुभि की दूर तक पहुंचने वाली
प्रतिध्वनि को सुनकर
शत्रुओं की पत्नियां जाग उठें
और--आकुलता में--
पुत्र का हाथ पकड़ कर
बेतहाशा--हमारे अस्त्रों की ओर ही--
भागती आएं ।

इन ब्राह्मण-पुरोहितों में अलबत्ता, समझ ही नहीं, समझदारी भी, थी कि वे इन मन्त्र-तन्त्रों का प्रयोग अपने लिए नहीं, राजाओं और क्षत्रियों की सेनाओं के लिए ही, किया करते थे। किन्तु इस प्रकार नहीं कि उससे उनके अपने ही स्वार्थ को हानि पहुंचने लग जाय। **मनुस्मृति** (११. ३३) में भी स्पष्ट शब्दों में निर्देश हैं कि जादू-टोनों और अभिचार-मन्त्रों का प्रयोग कहां और किस प्रकार होना चाहिए: "ब्राह्मण को पूर्ण अधिकार है कि वह बिना किसी झिझक के अथर्ववेद के पवित्र मन्त्रों का प्रयोग समय आने पर करे, क्योंकि--'शब्द ब्रह्म' ही तो ब्राह्मण का अपने शत्रुओं को नष्ट करने के लिए, एकमात्र और अनुपम, ब्रह्मास्त्र है।" अथर्ववेद के दिनों में भी ब्रह्मास्त्र का मुख्य प्रयोग शुरू-शुरू में ब्राह्मणों के हित में हुआ करता था, क्योंकि--एतद्विषयक सूक्तों में ब्राह्मण की सम्पत्ति को, ब्राह्मण के जीवन को, बड़े स्पष्ट और सशक्त शब्दों में अप्रधृष्य कहा गया है। जो भी उस तरफ आंख उठाएगा,

उसकी खैर नहीं। ब्राह्मण का सारा तेज जैसे उसके अभिशापों में ही पुंजीभूत हो ! इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण को मिलने वाली दक्षिणा का अर्थ समझाने के लिए भी बड़े विलक्षण, अतिशयोक्तिपूर्ण, रहस्यात्मक शब्दों का प्रयोग किया गया है। जहां ब्राह्मणों पर रोब-दाब कसना सबसे बड़ा **पाप** है, उन्हें छेड़ना अपनी मौत है, उसी प्रकार—सबसे बड़ा **पुण्य** भी ब्राह्मणों को उदारतापूर्वक दक्षिणा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। अथर्ववेद इसी प्रकार के गणनातीत, मूलभूत, विचारों से परिपूर्ण है जिन्हें धर्म की दृष्टि से बहुत ऊंचा नहीं कहा जा सकता। जिन सूक्तों में बुद्धि, ज्ञान, यशस्विता, धर्मबोध, और नीतिमत्ता के लिए प्रार्थना की गई है, वे कुछ इने-गिने ही सूक्त हैं—जो निश्चय ही अथर्ववेद संहिता में (साहित्य एवं धर्म की दृष्टि से) बहुत पीछे आए।

अथर्ववेद संहिता के पिछले भागों में कुछ ऐसे गीत और मन्त्र भी हैं जिनकी रचना विशुद्ध यज्ञ-विनियोग की दृष्टि से की गई थी। इन परतर सूक्तों का अभिप्राय अथर्ववेद को शेष तीन वेदों के साथ एक ही श्रेणी में—अर्थात् यज्ञपरक रूप में बिठा देने का प्रतीत होता है। इस प्रसंग में अथर्ववेद के दो आखिरी सूक्त उद्धृत किए जा सकते हैं जो ऋग्वेद के अन्यान्य यज्ञात्मक सूक्तों से किसी प्रकार भिन्न नहीं। १५ वें अध्याय में यजुर्वेद की भांति कुछ **गद्यात्मक** वाक्यांश भी हैं जिनका प्रायः आधा भाग जल की शुद्धि एवं शोधक शक्ति के अन्यान्य विधानों एवं उपकरणों से परिपूर्ण है। १८वें अध्याय के अन्त्येष्टि-परक सूक्त, तथा पितरों की पूजा में आने वाले श्राद्ध सरीखे विधान भी—इसी श्रेणी में आते हैं।

ऋग्वेद के, अन्त्येष्टि सूक्तों की प्रायः उन्हीं शब्दों में यहां पुनरावृत्ति हुई है, यद्यपि—उनमें बहुतेरा मसाला और भी यहां जोड़ दिया गया है। इसी प्रकार अध्याय २०, जो अथर्ववेद में बहुतपीछे से जोड़ा गया, प्रायः सारा का सारा, ऋग्वेद के ही सोम-सत्र परक विभिन्न अंशों का उल्था एवं पुनः सम्पादनमात्र है। इस अध्याय के सूक्त [६] १२७-१३६ की संगति क्या है (स्वयं **कुन्ताप** का शब्दार्थ क्या है) यह कोई आज तक जान नहीं पाया। इतना ही अनुमान होता है कि ये कुन्ताप भी मूलतः यज्ञ-परक ही थे, क्योंकि—**अर्थ** की दृष्टि से ये प्रायः ऋग्वेद की दानस्तुतियां-सी प्रतीत होती है (जिनमें यजमान की उदारता की प्रशंसा तो की ही गई है, लेकिन साथ ही कुछ पहेलियां भी इनमें हैं—उनके उत्तर भी हैं और कुछ—भद्दे, बेहूदा मजाक भी)। महासत्रों के प्रसंग में—जब कि यज्ञ की विधि अक्सर बहुत लम्बी हो जाया करती थी—इस प्रकार के सूक्तों में पुरोहितों में परस्पर एक यज्ञ-विषयक वाद-विवाद भी अनु-विहित थे।

अथर्ववेद के कुछ सूक्तों को एक और ही नाम देना पड़ेगा जिसमें **धर्मशास्त्र** तथा **सृष्टिशास्त्र** मुख्य विषय बन कर आते हैं। अथर्ववेद के साधारण जादू-टोनों में,

अन्धविश्वास में और सृष्टिशास्त्र की **वैज्ञानिकता** में, दार्शनिकों की पैनी दृष्टि में परस्पर क्या सम्बन्ध हो सकता है समझ में नहीं आता, निश्चय ही ऐसे अंश अथर्ववेद संहिता के अर्वाचीनतम अंश हैं। परन्तु इनका संकलन भी मूलतः प्रयोगात्मकता की दृष्टि से, स्वार्थपरता की दृष्टि से, हुआ था इसमें कोई सन्देह नहीं;[७] सत्य की जिज्ञासा से प्रेरित हो कर अथवा सृष्टि के गूढ़ रहस्यों के समाधान की आकांक्षा से इन सूक्तों के ऋषि कवि नहीं बने थे। अपितु दार्शनिकता के व्यपदेश से दार्शनिकों की परिभाषाओं के चतुर, कृत्रिम, प्रयोगों द्वारा और अर्थहीन कल्पनाओं द्वारा—यहां केवल रहस्यात्मकता का कुछ इन्द्रजाल ही बुना गया है: जो-कुछ पहली नजर में गम्भीरता नजर आती है वह जरा से चिन्तन से कितनी थोथी, उल्थी और अर्थविहीन सिद्ध हो जाती है! रहस्यमय शब्दों से मामूली सच्चाई को ढक देना—पुरानी जादूगीरी है। फिर भी, यह तो मानना ही पड़ेगा कि इन सूक्तों की पृष्ठभूमि सचमुच दर्शन के पर्याप्त उच्च विकास ने ही जुटायी थी। उपनिषदों के मुख्य विचार—जहां परमेश्वर को स्रष्टा और प्रजापति के रूप में वर्णित किया गया है, जहां सृष्टि के मूल में एक अपौरुषेय नियम के दर्शन होते हैं, जहां **तपस्**, **असत्**, **मनस्**, **प्राण** आदि परिभाषाओं का स्वच्छन्द प्रयोग हुआ है—एक शब्द में, उपनिषदों की सम्पूर्ण **ब्रह्मविद्या** की पृष्ठभूमि, ब्रह्मविद्या का मूल स्रोत भी तो—यहीं-कहीं होना चाहिए। निष्कर्ष यह कि अथर्ववेद के इन अध्यात्म और सृष्टिपरक सूक्तों का स्थान भारतीय दर्शन के विकास में एक पूर्वपीठिका के रूप में निश्चित है। ऋग्वेद के जिन सूक्तों में दार्शनिकता के प्रथम दर्शन हमें होते हैं उनका परतर विकास उपनिषदों में हुआ; किन्तु—अथर्ववेद के दार्शनिक विचार भी क्या सचमुच उपनिषदों की उड़ान के पूर्वाभास हैं? क्या प्राचीन भारतीय 'ब्राह्मण' दर्शन में तथा उपनिषदों के परतर दर्शन में अथर्ववेद एक कड़ी है? डाउसन के अनुसार—अथर्ववेद की यह दार्शनिकता—भारतीय-दर्शन के महान् प्रवाह की एक धारा न होकर उसके साथ कुछ दूर तक बहने वाली एक सरिता हो, तो हो।[८]

रहस्यात्मकता की इस धुन्ध में से कभी-कभी सचमुच एक गम्भीर अनुभव, एक उच्च दार्शनिक विचार, चमक उठता है; किन्तु ऐसे स्थलों पर सन्देह यही होता है कि अथर्ववेद का कवि इस विचार या अनुभव का कर्त्ता नहीं, (किसी अन्य ऋषि के पूर्वोद्भासित उद्गारों का) प्रयोक्ता मात्र है। इस प्रकार **काल** के विषय में यह उद्गार कि वह सृष्टि का प्रथम कारण है—सचमुच दार्शनिकता से शून्य नहीं। परन्तु सोचना यह है कि इस विचार को दार्शनिक महत्ता को अथर्ववेद (१९. ५३) के छायावादी 'कवि' ने क्या से क्या कर दिया! :—

काल एक अश्व है:
उसके सात रश्मियां हैं,

सहस्त्र आंखे हैं,
वह अजर है, अमर है,
और 'बीजों' से भरा है ।
...लोक लोकान्तर उसके रथ के पहिये हैं
जितेन्द्रिय और उदात्त विचार वाले ऋषि ही
उसकी सवारी कर सकते हैं ।

काल-रूपी रथ के सात पहिए हैं,
सात ही उसकी नाभियां हैं,
अमृत उसका अक्ष है,
सब लोक लोकान्तरों को वह, अपनी ही इच्छानुसार,
ले चलता है ।
काल ही प्रथम देव है,
और वह अपनी यात्रा पर अग्रसर है !

एक पूर्ण कुम्भ काल के सिर पर रखा हुआ है ;
यहां हम उसके विभिन्न रूपों को ही देख पाते हैं,—
सच्चा स्वरूप तो उसका हम
—उसके आत्म पदों में ही —
किसी और लोक में ही देख पाएंगे
—जिधर लोक लोकान्तरों को
यह अविरत लिए जा रहा है ।

पांचवें और छठे मन्त्र में काल की सर्वोत्पादकता की स्तुति गाई गई है :—

काल ने ही परम व्योम को बनाया,
काल ने ही लोक लोकान्तरों को बनाया,
यह वर्तमान, भूत और भविष्य :
—सब-कुछ काल ही की महिमा है ।

यह पृथ्वी काल ही की कृति है
काल ही में सूर्य प्रकाशित होता है,
काल ही में सब लोक-लोकान्तर, और प्राणी, बसते हैं ।
काल ही में यह नन्हीं-सी आंख अपने से परे सब-कुछ देख लेती है !

किन्तु इसके एकदम ही बाद, अगले सूक्त (१९. ५४) में, हर तरह की चीजों की महज एक सूची बनाकर पेश कर देना : इसे कहां तक दर्शन कहा जाय,

कहां तक कविता कहा जा सकता है ? परमेश्वर के जितने भी नाम उन दिनों प्रचलित थे—प्रजापति, तपस्, प्राण—सबका जनक काल है !

अथर्ववेद का ८वां अध्याय **रोहित** सूक्तों से भरा पड़ा है जिसमें दार्शनिकता की अपेक्षा रहस्यात्मकता का प्रलाप अधिक है। सूक्तों में तरह-तरह की असम्बद्ध कल्पनाएं एक साथ पेश कर दी गई हैं, जैसे—पहले ही सूक्त में रोहित को, अर्थात् उगते सूर्य की लालिमा को, सृष्टि का मूल तत्त्व उद्घोषित किया गया है : रोहित ही द्यावापृथ्वी का स्रष्टा है, रोहित की शक्ति ही पृथ्वी और आकाश को अपने-अपने ठौर संभाले हुए है, इत्यादि। किन्तु—बीच में ही, कहीं से, एक पार्थिव राजा आ टपकता है और आकाश के सम्राट् रोहित को और उस पृथ्वी-सम्राट् को, जान-बूझ कर, एक सम्मिश्रित रूप में उपस्थित कर दिया जाता है ! यही नहीं, सूक्त में—निरर्थक-शत्रुओं और प्रतिस्पर्धियों के विरुद्ध शाप उगले गए हैं (और जो लोग गौ को लताड़ते हैं और सूर्याभिमुख हो कर मूत्र विसर्जन करते हैं, उन्हें भी धिक्कारा गया है !) १३. ३ में कुछ मन्त्र सचमुच वरुण के पूर्वोद्धृत करुणापूर्ण सूक्तों की श्रेणी में रखे जा सकते हैं, जिनमें रोहित की परम-देव करके स्तुति की गई है; किन्तु, सूक्त की टेक यह है कि 'रोहित क्रोध में आकर ब्रह्म-द्वेष्टा को कुचल दे':—

पृथ्वी और आकाश का जो जनक है,
लोक-लोकान्तर जिसके आवरण हैं,
ये छः अन्तरिक्ष जिसके अन्दर समाए हुए हैं,
जिसके निर्मल अन्तराल में से
पक्षियों की पैनी, क्रान्त दृष्टि दूर तक वस्तुस्थिति को भांप सकती है,
और ब्राह्मण जिसने विद्या अधिगत कर ली है (!),..

हे वरुण,—
उसे अस्थित कर दे,
उसे नष्ट कर दे,
—ब्राह्मण के विद्वेषी को
अपने पाशों में बांध ले।

रोहित पापी पर कुपित होता है;
रोहित से ही प्रसूत हो कर
ये हवाएं ऋतु धर्मानुसार बहती हैं
रोहित से ही निकल कर
ये समुद्र दिशा-दिशा में फैल जाते हैं,
रोहित ही परम देव है; इत्यादि।

रोहित ही जीवन का दाता है,
रोहित ही जीवन का हर्त्ता है;
रोहित ही प्राणि-मात्र में
प्राण का आधान करता है;
रोहित ही
पृथ्वी और आकाश को—
समुद्र के उदर को—
अनुप्राणित करता है
रोहित ही परम देव है : इत्यादि ।

इन उदात्त स्तुतियों के साथ-साथ जब हम यह पाते हैं, यज्ञ के बृहत् और रथन्तर छन्दों के परिणय से रोहित की उत्पत्ति हुई या यह कि गायत्री अमृत का निधान है, तो—सन्देह होने लगता है कि कहीं ऋषि रहस्यात्मकता के विचार के साथ खिलवाड़ तो नहीं कर रहा। ऐसे प्रसंगों के धुंधलेपन को दूर करना व्यर्थ है। इसी प्रकार का एक स्थल अथर्ववेद ४. ११ है जिसमें **वृषभ** की स्तुति सृष्टि के कर्त्ता-धर्त्ता के रूप में की गई है। किन्तु उसमें किसी प्रकार की दार्शनिकता (तथ्यों की खोज) किसी परिणाम पर नहीं पहुंचेगी :

वृषभ ही—
पृथ्वी और आकाश का कर्त्ता है;
वृषभ ही—
अन्तरिक्ष का जनक है;
वृषभ ही—
इन छः अन्तरिक्षों का जनयिता है;
वृषभ ही—
सम्पूर्ण सृष्टि का पिता बन कर
—लोक-लोकान्तर में व्याप्त है ।

समस्या तब भी सुलझ नहीं जाती जब हमें बताया जाता है कि यह वृषभ इन्द्र है या कोई और परम-देव है; उलटे, उलझन बढ़ जाती है, इससे, जब आगे चलकर हमें बताया जाता है कि यह वृषभ दूध देता है और कि यह दूध ही उसका यज्ञ रूप धारण कर लेता है, . . कि पुरोहित की दक्षिणा सचमुच इस वृषभ का दोहन ही है—और कुछ नहीं ! यही नहीं, बड़े बलपूर्वक फिर कहा है कि जो भी कोई वृषभ के इन सप्त दोहनों को जान लेता है, उसके घर पुत्र उत्पन्न होता है और वह स्वर्ग का अधिकारी बन जाता है ! इसी प्रकार की निरर्थक स्तुति वृषभ की, पुनः, अथर्ववेद ९.४ में की गई है : यह वृषभ-रूप-रूप का परम निधान है; आरम्भ में यह जल रूप था,

आपः था—इत्यादि। किन्तु, अन्त में, हम चकित रह जाते हैं—यह जानकर—कि यह वृषभ यज्ञ-मेध्य के पशु के अतिरिक्त और कुछ नहीं है !

इन अतिशयोक्तियों का अभिप्राय स्पष्ट है। अथर्ववेद १०.१० में दार्शनिकता और रहस्यात्मकता का ढोंग खुद-ब-खुद खुल जाता है। **गौ** के विषय में रहस्योद्घाटन करते हुए लिखा है कि गौ ही पृथ्वी-आकाश की, और समुद्रों की, रक्षा करती है। इस गौ के पीछे सौ दुग्ध पात्र, सौ गवाले, और सौ दोग्धा बैठे हैं। देवता इस गौ में प्राणों का आधान करते हैं, उन्हें ही इस गौ के विषय में सच्चा ज्ञान है; यह गौ क्षत्रिय की माता है, यज्ञ गौ का पुनीत अस्त्र है, .. विचारों की मूल जननी है; इसी प्रकार के विचारों का विकास होते-होते गो-विषयक परम रहस्य का उत्कर्ष अन्ततोगत्वा इन शब्दों में होता है: "गौ ही अमृत है, गौ की ही मृत्यु के रूप में पूजा होती है, ये लोकलोकान्तर देवी-देवता, मनुष्य, असुर, ऋषि—सब गौ के ही रूपान्तर है।" किन्तु इसके अनन्तर—रहस्य की क्रियात्मकता स्वयं प्रकट हो जाती है : केवल वही व्यक्ति जो इस परम ज्ञान को समझता हो, **गोदान का सच्चा अधिकारी** है, और जो व्यक्ति ब्राह्मणों को गोदान करता है लोकलोकान्तर का स्वामी बन जाता है, क्योंकि—गौ में ही ऋत, ब्रह्म, तथा तपस् के परमतत्त्व अन्तर्निहित हैं। उपसंहार में, एक बार फिर, कहा गया है :—

गौ पर ही
देवताओं का जीवन आश्रित है;
गौ पर ही
मनुष्यों का जीवन आश्रित है;
गौ पर ही
सारे संसार का जीवन आश्रित है;
जहां तक भी
सूर्य की किरणें पहुंच सकती ह,
जीवन का एकमात्र आधार—यह गौ ही है।

अथर्ववेद ११.५ में वैदिक **ब्रह्मचर्य** की स्तुति भी प्रायः इन्हीं शब्दों में की गई है। रोहित, वृषभ तथा गौ की तरह वह भी सर्वशक्तिसम्पन्न है। अध्याय १५ में तो जैसे एक सूक्तावलि-सी **पर-ब्रह्म** की स्तुति में गाई गई है जिसमें ब्रह्म को—**व्रात्य** कह कर—महादेव, ईषान, रुद्र आदि का पार्थिव रूप कहा गया है ! मूल में व्रात्य लोग शायद भारत की पूर्वी सीमा पर रहने वाली कुछ जातियां थे। वे आर्य थे अथवा अनार्य—कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु वे सावित्री-पतित थे, ब्राह्मण-बाह्य थे। अपने जनधन को पशु-धन को, गाड़ियों में रख कर, और ढक कर—बे-घर, बे-ठिकाने—इधर-उधर घूमा-फिरा करते थे; उनके अपने ही धर्म-नियम,

पूजा-पाठ आदि के विधान थे; किन्तु—कुछेक वैदिक यज्ञादि के अनुष्ठान द्वारा उन्हें ब्राह्मणधर्म में पुनर्दीक्षित होने का अधिकार था। और इसी प्रकार का ब्राह्मण-धर्म में दीक्षित व्रात्य ही अथर्ववेद के व्रात्य सूक्त[९] का एक स्वतन्त्र विषय भी है।

अथर्ववेद के दार्शनिक सूक्तों में कुछ अर्थ, कुछ संगति, बिठाने के लिए दाउसन[१०] ने एक पूरा जीवन खपा दिया। दाउसन के अनुसन्धान के अनुसार—अथर्ववेद १०.२, ११.८ का विषय मानव जीवन में **ब्रह्मसिद्धि** है; १०.२ में यह सिद्धि अगर आधिभौतिक रूप में अधिगत की जा सकती है तो ११.८ में आध्यात्मिक स्तर पर भी सुलभ है। हमें अलबत्ता इन सूक्तों में 'वही दार्शनिकता' नहीं मिली। दार्शनिकता के नाम से जो-कुछ ऐसे स्थलों पर कहा गया है वह विश्व के दर्शनशास्त्र को (इनकी) कोई नई-देन प्रतीत नहीं होती, अपितु मनुष्य के अन्तर्गत असीम सम्भावनाओं की प्राचीन दृष्टि को रहस्यात्मकता का एक निरर्थक बाना पहना दिया गया है—बस जो कुछ यहां स्पष्ट था उसे और भी अस्पष्ट रूप में प्रस्तुत किया गया है! ऋग्वेद १०.१२१ में ऋषि ने सृष्टि की असीम विभूतियों से चकित हो कर प्रश्न उठाया था कि—क्या स्रष्टा भी स्वयं सृष्टि के परम रहस्य को जानता है?.. क्या इस (कुतूहल) का कोई स्रष्टा है भी? अथर्ववेद १०.२ में इसी प्रकार कवि 'पुरुष' के अंग-प्रत्यंग का विवेचन 'समाप्त' कर के अन्त में पूछता है: पुरुष की ये एड़ियां, यह उसका बाह्य चर्म, ये उसके टखने, ये उसकी कोमल उंगलियां और देवपुरी के आमन्त्रक ये 'नव द्वार', और घुटनों को ढकने वाला यह आच्छादन—आखिर किसने बना दिया यह सब? इसके दोनों पैरों को अलग किसने किया—क्यों किया—आखिर यह किसकी कल्पना-सिद्धि है?

इसी प्रकार की जिज्ञासा में आठ पद अर्पित हैं, और फिर अगले नौ पद्यों में मानव जीवन के सभी अंगों का वर्णन करके स्वयं जीवन को ही पहेली मान कर पूछा गया है, "यह रुचि, यह अरुचि, नींद, भय, थकान, यह सुख और आनन्द, यह गरीबी और मुसीबत—आखिर आती कहां से है?" इसी प्रवाह में, आगे चल कर, तरह-तरह के सवाल पूछे गए हैं कि—शरीर में जल, और नसों में खून, किसने डाला? मनुष्य को यह कद, बुत, यह नाम, यह गति, बुद्धि, प्राण, सत्य-असत्य, मृत्यु और अमृत, वस्त्र, .. लम्बी उम्र, शक्ति और शीघ्रता किसने दी? फिर अन्त में, प्रश्न किया गया है कि—मनुष्य प्रकृति पर विजय किस प्रकार पा लेता है? और, तब कहीं, सभी प्रश्नों का समाधान एक ही वाक्य में कर दिया गया है कि **ब्रह्म-रूप** हो कर ही पुरुष इतना सामर्थ्य पा लेता है, सर्वशक्तिमान् हो जाता है। सूक्त में कोई ऊंचा काव्य नहीं, कोई अद्भुत सौन्दर्य भी नहीं, किन्तु—यहां तक, कम-से-कम—विचार कुछ स्पष्ट तो है; अन्त के आठ मन्त्रों में, पुनः, वही रहस्यात्मकता सब-कुछ चौपट कर देती है :—

पुरुष के हृदय और बोध को
एक-सूत्र करके
अथर्वा ने—मस्तिष्क के ऊपर आकर—
उसे पवित्र कर दिया,
उसे प्रेरित कर दिया !

अथर्वा ही पुरुष के मस्तिष्क का अधिष्ठाता है :
पुरुष का मस्तिष्क एक छोटी-सी देवपुरी है
जिसकी रक्षा करना प्राण, अन्न और मनस् का काम है ।

इस प्रकार के सूक्तों में **दार्शनिकता** ढूंढना स्वयं वैदिक वाङ्मय के साथ अन्याय करना होगा। अथर्ववेद ११. ८ के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार हमारे विचार दाउसन के विचारों से मेल नहीं खाते। दाउसन का कहना है कि "यहां आधिभौतिक तथा आध्यात्मिक तत्त्वों के मैथुन से मनुष्य की उत्पत्ति का वर्णन अभिप्रेत है और कि, अपने तईं, अध्यात्म और अधिभूत स्वयं अन्ततः ब्रह्म पर आश्रित हैं।" किन्तु, यह तो वैसे ही हुआ जैसे कोई झूठा आदमी कभी-कभी इस ख्याल से ही सच बोल देता है कि लोग उस पर कुछ तो विश्वास करने लगेंगे। अथर्ववेद का दार्शनिक अपनी निरर्थक कल्पनाओं को कुछ तथ्यान्वेषण का रूप देने के लिए कहीं-कहीं सचमुच की दार्शनिक उक्तियों का समावेश भी कर छोड़ता है ! यह दार्शनिकता पल्लव-ग्राहिणी दार्शनिकता है, और इसलिए—अथर्व ११. ८ का आधारभूत सिद्धान्त भले ही, अनुसन्धान में, पुरुष और ब्रह्म की एकात्मता हो; किन्तु क्या—वह अथर्ववेद के कवि को भी उसी रूप में स्पष्ट था ? उदाहरणार्थ, हम पूछते हैं—कवि का लक्ष्यार्थ प्रस्तुत मन्त्र में क्या था ? :—

इन्द्र, सोम और अग्नि की उत्पत्ति कहां से हुई ?
त्वष्टा और धाता की उत्पत्ति कहां से हुई ?
—इन्द्र ही इन्द्र का जनक है,
सोम सोम का, और अग्नि अग्नि का,
त्वष्टा त्वष्टा का, और धाता धाता का—जनक है ।

यह सब एक थोथी तुकबन्दी के अतिरिक्त कुछ नहीं है। न इसमें कहीं दार्शनिकता है, न कविता। एक और स्थल पर अथर्ववेद में कुछ मन्त्रों में पृथ्वी की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है; पृथ्वी की उत्पत्ति स्वयं सृष्टिविकास-परक वैदिक वाङ्मय का एक अंग है; परन्तु सृष्टि की उस उत्पत्ति में कहीं भी कोई रहस्यात्मकता नजर नहीं आती, और न दार्शनिकता ही। और, शायद इसीलिए, अथर्व० १२. १ का कवि ६३ मन्त्रों में पृथ्वी माता की सच्ची स्तुति गा सका है कि किस प्रकार यह निर्जीव धरती ही—के स्थावर-जंगम जीवन की धारयित्री तथा पालयित्री है। सूक्त

के अन्त में इसी निर्जीव मिट्टी से ही मानव जीवन के सभी सुखों की आशा कवि करता है। प्राचीन भारत की धार्मिक कविता का एक सुन्दर नमूना है यह अथर्व-वेद का **पृथ्वी सूक्त** :—

ऋत, सत्य, यज्ञ, तपस्, ब्रह्म, श्रद्धा
—ये तत्त्व हैं जो पृथ्वी का अन्तर्धारण करते हैं।
पृथ्वी ही भूत और भव्य के सकल चक्र की
एकमात्र अधिष्ठात्री है।
पृथ्वी अपनी विशाल छाती में
हमें स्थान दे।

पृथ्वी—
जो पहले समुद्र में जल-रूप थी;
जिसे ऋषि लोग अपनी अद्‌भुत शक्तियों से बाहर निकाल लाए;
पृथ्वी—जिसका हृदय
परम-व्योम में अन्तर्निहित है;
स्वयं सत्य और ऋत
जिसके नित्य-स्पन्दन की रक्षा करते हैं,
वही पृथ्वी —हमें ज्योति दे, वर्चस् दे
—हमारी मनोभावनाओं को उदात्त कर दे।

पृथ्वी—
जिसे अश्विनीकुमारों ने
एक सिरे से दूसरे सिरे तक
सबसे-पहल मापा था;
और फिर विष्णु ने, इन्द्र ने,
अपनी परम शक्तियों द्वारा
रिपु-हीन कर दिया था
—वही पृथ्वी हमारी माता है,
हम बच्चों को दूध पिलाने वाली माता है॥

हे पृथ्वी,—
तेरे वन, अरण्य, पर्वत,..
तेरे हिम शृंग
—हमारे लिए सुखदायी हों;

मैं पूर्ण स्वस्थता में तुझ पर विचरूं,
तेरी परिक्रमा करूं।
इन्द्र द्वारा परिरक्षित
इस रंग-बिरंगे और दृढ़ भूतल पर
मैं अभय हो कर विचरूं।

तू ही
द्विपाद्-चतुष्पाद् की, मर्त्यों की, जननी है;
तू ही
पंच-भूतों की जननी है :
तेरे ही आदेश में सूर्य
कण-कण में उजाला भर देता है।

पृथ्वी पर ही
हम मनुष्य यज्ञ करते हैं,
और देवताओं को आहुतियां देते हैं ;
और स्वयं—यज्ञ-शेष पर गुज़र कर छोड़ते हैं।
पृथ्वी
हमें प्राण दे, जीवन दे, लम्बी आयु दे।

जो कुछ वनस्पति या रत्न
मैं पृथ्वी में से उखाड़ कर बाहर ले आता हूं,
पृथ्वी की उर्वरता में उससे कोई कमी न आए ;
मैं अपनी उच्छृंखलता में, उच्छेदन में,
मां के (कोमल) मर्मस्थल को न छू जाऊं।

पृथ्वी—जिसकी विस्तृत छाती पर
लोग तरह-तरह के नृत्य-गान करते हैं,
दुन्दुभि की ध्वनियों से जिसका वातावरण
पूरित होता रहता है,..
वही पृथ्वी—हमारे शत्रुओं को खदेड़ दे।
पृथ्वी—जो ज्ञान-अज्ञान का, मृत्यु और अमृत का,
पाप और पुण्य का—बोझ उठाए है,..
पृथ्वी जो—मनुष्यता और पशुता का
एक-एव अधिष्ठान है,

एक ही घोंसला, है, एक ही घर है, एक ही हृदय है,..
—हमारे लिए सांमनस्य का प्रसाद इस धरती और आकाश में,
हमारे जीवन में, ला दे
—हमारे घर को सदा भरा-पुरा रखे !

यह सूक्त ऋग्वेद में भी हो सकता था,—किन्तु अथर्ववेद में यह है—इससे भी यह सिद्ध होता है कि, ऋग्वेद की अपेक्षा अथर्ववेद में अधिक, वैदिक युग के इन अवशिष्ट अंशों में कुछ निश्चित परस्पर-संगति है। अथर्ववेद में लौकिकता, लोक-वाङ्मयता, लोक-विश्वास के साथ-साथ—ऐसे विचार-रत्न भी प्रकीर्ण और पनप-रहे मिलते हैं : यह सचाई भी—इसी ओर इंगित करती प्रतीत होती है कि वैदिक युग की उस प्राचीन काव्यधारा का रस दोनों संहिताओं के एक साथ अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकता है—अनुभाव्य बन सकता है।

१ Whitney: HOS, 7-8, 1905; Bloomfield : SBE, 42 and *Grundriss* II, IB; Henry : *La Magiel dans L'India antique*, 1904, Edgerton: *American Journal of Philology*, 35, 1916, 435 ff.
२ Cf. the Flamines of Ancient Rome (Th. Mommsen: *Romische Geschichte*, G. Auft, I, 170 f); and the 'bhṛgu-aṅgirasas' of *Cūlikā-upaniṣad*, 11.
३ Paippalāda recension also now, published by Raghuvira.
४ SBE, X, II, 176; XLV, 105, 133, 363, *Manu*, IX, 258, 290; XI, 64. *Visṇu*, 54, 25.
५ *Zeitschrift* für vergleichende Sprachwissenschrift, XIII, 49 ff. 113 ff.
६ *Grundriss* II, I B, 96 ff.
७ Studies in Honour of M. Bloomfield, 115 ff.
८ A G Ph, I, I, 209.
९ Weber and Aufrecht, *Ind. Stud.* I; Hillebrandt, *Rituallitteratur*, 139 f; Bloomfield, *op. cit*, 96 ff; Lanman, HOS 8, 769 ff. *Vedic Index* II, 341 ff; JBRAS, 19, 1896, 357, ff; to ZKH, (23) 151 ff, (25) 355 ff; JRAS, 1913, 155 ff. Hauer, *op. cit.*, 11 ff, 172 ff; *Festschrift für Scherman*, 2B, VI, 1924-25, 48 f.
१० A G Ph, I, 1, 209 ff 264 ff; Scherman: *Philosophnische Hymnen*, 1887.

प्राचीन वैदिक यज्ञ-परम्परा

ऋग्वेद और **अथर्ववेद** का बहिरंग परिचय हो लिया; और जो कुछ अन्तरंग परिचय भी हमें इस प्रकार प्रसंगात् प्राप्त हुआ, उससे भी इतनी बात तो स्पष्ट हो जाती है कि दोनों वेदों की रचना यज्ञ-याग से प्रसक्त विनियोगादि को लक्ष्य करके नहीं की गई थी। यद्यपि ऋग्वेद के अधिकांश सूक्तों का उपयोग पीछे चल कर सत्रों के प्रसंग में होने भी लगा और, उसी प्रकार, अथर्ववेद के मन्त्रों-तन्त्रों की उपयोगिता को भी जादू-टोनों तक ही सीमित कर दिया गया, तथापि—दोनों संहिताओं में सामान्यतः सूक्तों की परस्पर-संगति में, और क्रम में, किसी प्रकार की विनियोगात्मकता इष्ट नहीं प्रतीत होती। दोनों ही संहिताओं में सूक्तों का सम्पादन ऋषियों अथवा 'ऋषि-कुलों' की दृष्टि से वैसे ही किया गया था जैसे आजकल किसी भी 'कविता-निकुंज' का किया जाता है; इसके अतिरिक्त—दोनों ही संहिताओं में कहीं-कहीं विषय की दृष्टि, एवं लघुता-गुरुता की दृष्टि, भी संकलयिता की नियामक हो गई प्रतीत होती है। दोनों वेदों के संकलन में सम्पादक की दृष्टि साहित्यिक ही रही है, कर्मकाण्ड की उपयोगिता की नहीं।

सामवेद और **यजुर्वेद** का सम्पादन, अलबत्ता, प्रस्तुत दोनों वेदों से कुछ भिन्न है: साम और अथर्व में मन्त्र, मन्त्रांश, आशीर्वचन उसी क्रम में संकलित हैं जिसमें कि यज्ञों में उनका विनियोग इष्ट था। **साम** और **यजुष्**, सचमुच पुरोहित के हाथ में 'संस्कार-विधि' सरीखे दो साधन हैं जो पीढ़ी-दर-पीढ़ी उपाध्यायों-गुरुओं की परम्परा में ऋषियों के लिए सुरक्षित चले आते हैं; सो, इनकी उत्पत्ति को एवं इनके विकास को समझने के लिए आर्य यज्ञ-प्रणाली के सम्बन्ध में कुछ परिचय प्राप्त कर लेना अनिवार्य प्रतीत होता है। यज्ञ-परम्परा के कुछ अन्तरंग परिचय के बिना, सच तो यह है कि, वैदिक वाङ्मय के किसी भी अंग को सही-सही हृद्गत कर सकना असम्भव है।

ब्राह्मण-धर्म को जहां तक उसे वैदिक कहा जा सकता है, इतिहास में हमें उसके दो रूप मिलते हैं। हम ऊपर देख ही चुके हैं कि **ऋग्वेद** के कुछ सूक्तों का, और **अथर्ववेद** के अधिकांश मन्त्रों और गीतों का, उपयोग वैदिक जीवन में विवाह, जन्म, मृत्यु, श्राद्ध आदि पवित्र अवसरों पर ही हुआ करता था; यद्यपि इसकी कुछ विस्तृत उपयोगिता पशुधन और कृषि धन के विकास की दृष्टि से उस कृषि युग में निस्सन्देह थी। इन संस्कारों को भारतीय अपनी प्राचीन प्रथा के अनुसार '**गृह्य-कर्माणि**' कहते आये हैं। **गृह्यसूत्रों** में इन गृह्य-कर्मों का विस्तृत विवेचन हुआ भी

है—जहां घरेलू जीवन से सम्बद्ध दैनिक, पाक्षिक, वार्षिक यज्ञों में ब्राह्मण की स्थिति सर्वोपरि सर्वसम्मत है (क्योंकि ब्रह्मा—यजमान अपिवा पुरोहित की आज्ञा या अनुमति के बिना—एक कदम भी न उठा सकता था)।[1] यज्ञों का रूप तब सामान्यत: कुछ निश्चित ही हुआ करता था: गृह्मेधाग्नि से यज्ञाग्नि प्रज्ज्वलित की जाती और उसमें देवताओं के लिए आहुतियां अर्पित की जातीं। इन दैनिक यज्ञों के अतिरिक्त, प्रत्येक आर्य का यह धार्मिक कर्त्तव्य होता था कि--वह गरीब हो, अमीर हो, कुलीन हो, अज्ञात-कुल-शील हो—इन्द्र आदि देवताओं से सम्बद्ध सोम-सवन आदि महायज्ञों में हाथ बटाए, यद्यपि—इन महासत्रों का यजमान कोई राजा स्वयं भी हो सकता था। यज्ञ-विधान में महायज्ञों के प्रसंग में तीन पावन वह्नियों के आधान का नियम है जिसका उल्लंघन सर्वथा अक्षम्य है; और इन महायज्ञों से सम्बद्ध पुरोहितों की चार विभिन्न श्रेणियां भी होती थीं जिनका काम यज्ञ की सम्पूर्ण पेचीदा गतिविधि की निगरानी तथा पालन करना होता था। यजमान का अधिकार यज्ञ में इस प्रकार सर्वथा नगण्य था : वह केवल उदारतापूर्वक बाह्मणों को दक्षिणा ही दे सकता था। सो, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ब्राह्मणों ने यज्ञ को एक स्वतन्त्र-विद्या अपिवा विज्ञान के रूप में पल्लवित कर लिया, उसमें पर्याप्त अनुसन्धान किया : जिस अनुसन्धान और आडम्बर का प्रथम परिचय हमें **ब्राह्मणग्रन्थों** में मिलता है (जिसे प्राचीन परम्परा मूल वैदिक श्रुति का एक अविभाज्य अंग ही मानती आई है)। इस नवीन परिभाषा में यज्ञों का ब्राह्मण-प्रदत्त नाम था '**श्रौत-कर्माणि**' जब कि गृह्य कर्मों को स्मृति—अर्थात् दैवी श्रुति से कुछ भिन्न, लौकिक रीति-रिवाज—कहने की प्रथा भारत में आज तक उसी रूप में प्रचलित है भी। परन्तु स्मृति की प्रामाणिकता वह नहीं जो श्रुति की मानी जाती है।

अब हम श्रौत-यज्ञों से सम्बद्ध चार पुरोहितों को लेते हैं : सबसे पहले—(१) **होता** का स्थान आता है जिसका काम होता था उपयुक्त ऋचाओं द्वारा स्तुतियां गा-गा कर देवताओं का यज्ञ में आह्वान करना; (२) **उद्गाता**—जो सोम-सवनों में, विशेषतः साम-गीतों द्वारा, यज्ञ की एक पूर्व पीठिका-सी जुटाया करता था, (३) **अध्वर्यु**—जो यज्ञ के अन्यान्य विनियोगों की पूर्ति, गद्यमय यजुषों को गुनगुना कर, साथ-साथ करता चलता था; और (४) **ब्रह्मा**—जिसका काम होता था सम्पूर्ण यज्ञविधि पर निगरानी रखना कि कोई अप्रत्याशित संकट न आ खड़ा हो। कोई भी धार्मिक कृत्य क्यों न हो, कोई भी यज्ञ क्यों न हो—संकट तो बना ही रहता है; और, सो, यदि कोई विनियोग उचित विधि-विधान के अनुसार न किया जाय—उपदिष्ट आदेशानुसार उसमें मन्त्रोच्चारण न हो, गीत (प्रथा के प्रतिकूल) अशुद्ध गाए जाएं—तो सारा-का-सारा धर्मकृत्य दूषित हो जाता है (जिसका उत्तरदायी यजमान को ही ठहराया गया है)। इसीलिए यज्ञशाला के दक्षिण में

ब्रह्मा को एक ऊंचे आसन पर प्रतिष्ठित करने का आदेश है, क्योंकि—**दक्षिण-दिशा** स्वयं यमराज की (मृत्यु की) दिशा है, यज्ञ के शत्रु असुरों की (दण्ड-)**दिशा** है। ब्रह्मा प्रतिक्षण, चुपचाप, अपने मनश्चक्षुओं द्वारा यज्ञ की सम्पूर्ण गतिविधि का अनुसरण करता रहता है कि कहीं भी जरा-सी गलती न होने पाए, कहीं भी उच्चारण व लय में फर्क न आजाए। (**स्वास्तिवाचन** गुनगुनाता हुआ वह चुपचाप भूल-चूक को शान्त भी करता चलता है।) यही नहीं, ब्रह्मा को (एक प्राचीन ग्रन्थ में) 'पुरोहितों में परम-वैद्य'[२] तक कहा गया है। किन्तु इस महान् कर्त्तव्य को निभाने के लिए ब्रह्मा को, अर्थात् पुरोहित-राज को, वेदमय (त्रयीमय) होना आवश्यक होता है कि उसकी निगाह से किसी भी प्रकार की उपेक्षा न होने पाए।[३]

अन्य तीन पुरोहितों के लिए, इसके विपरीत, एक-एक वेद का ज्ञान होना ही पर्याप्त माना गया है। जिन पद्यों द्वारा होता देवताओं का आह्वान करता है उन्हें यज्ञ की परिभाषा में **अनुवाक्य** कहते हैं; और जिन पद्यों द्वारा वह देवताओं को भेंट उपस्थित करता है उन्हें **याज्य**। **होता** के लिए ऋग्वेद संहिता का ज्ञान आवश्यक है, ऋग्वेद उसे कंठस्थ होना चाहिए कि सोम-सवन के अनुषंग में प्रयोज्य **शस्त्र** सूक्तों का वह सही संकलन कर सके। अर्थात्—यद्यपि ऋग्वेद संहिता का वैसे कोई सीधा सम्बन्ध 'होता' से नहीं होता, होता का कर्त्तव्य ही स्वयं—उसके अपने **स्वार्थ** के लिए—ऋग्वेद का ज्ञान आवश्यक करार देता है।

सोमसवन का सम्बन्ध होता द्वारा प्रस्तुत इन **शस्त्र** सूक्तों से तो होता ही है, साथ ही **उद्गाता** तथा उसके सहायकों द्वारा गाए गए **स्तोत्रों** का सम्बन्ध भी यज्ञ-प्रक्रिया में कुछ कम नहीं समझा जाना चाहिए। ये **स्तोत्र** प्रायः ऋग्वेदीय ऋचाओं का ही एक लयमय रूप होते हैं जिन्हें **साम** कहने की प्रथा है। पुराने जमाने में इन सामगीतों को सही-सही गाने के लिए विशिष्ट सम्प्रदाय हुआ करते थे जिनमें इन गीतों का सम्पादन इसलिए नहीं होता था कि ये कोई स्वतन्त्र रचनाएं हैं अपितु इसलिए कि पद व पद्य एक होते हुए भी उस (पद व पद्य) के गान-प्रकार कितने ही हो सकते थे।

और अन्त में—**अध्वर्यु** का काम होता था कि यज्ञ में बड़ी धीमी आवाज के साथ वह निरन्तर गद्यमय **यजुष्**—और, ऋक्-सम्मिश्रित **निवित्**, गुनगुनाता चले।[४] यजुर्वेद में ये मन्त्रांश और निवित्-रूप प्रार्थना-पद प्रायः विनियोग-नियमों के साथ ही अध्वर्यु का दिशा-निर्देश करने के लिए उसी क्रम में रक्षित हैं जिस क्रम में कि वे यज्ञों में विहित होते है।

यज्ञ-मीमांसा के इस विवेचन के अनन्तर अब हम **सामवेद** और **यजुर्वेद** की यज्ञ-परक संहिताओं को लेते हैं। अब हमने देखना यह है कि—ये **ऋग्वेद** और **अथर्ववेद** की संहिताओं की 'सूत्रिता' में किस प्रकार भिन्न उतरते हैं?

१ **आश्व लायन** १. ३. ६; **गोभिल** १. ९. ८– । गृह्य यज्ञों में ब्रह्मा की आवश्यक नहीं होती; और पाकयज्ञों में, विशेषतः, एक ही ब्रह्मा से गुजारा चला लिया जाता है; यजमान स्वयं होता के सब कर्त्तव्य निभा देता है।

२ **शतपथ** १४. २. २. १९ ; **छान्दोग्य** ४. १७. ८– ।

३ **ऐतरेय**-आरण्यक ३. २. ३. ६; **शतपथ** ९. ५. ८. ७ । श्रौत यज्ञों में तो ब्रह्मा का अथर्ववेद से सीधा कोई सम्बन्ध नहीं होता; किन्तु, गृह्य यज्ञों में क्योंकि एक ब्रह्मा ही यज्ञ की सम्पूर्ण विधि को निभाने के लिए पर्याप्त समझा जाता था (और यह कार्य अथर्ववेद की आशीर्वचनों के बिना असम्भव था), तो दोनों में परस्पर सम्बन्ध भी स्पष्ट ही कुछ-न-कुछ था ही, यद्यपि—अथर्ववेद को '**ब्रह्म-वेद**' कहने की परम्परा बहुत पीछे चलकर शुरू हुई ।

४ विधि में '**स्तोत्र**' पहले आते हैं, '**शस्त्र**' पीछे। **होता** ऋचाओं का उच्चारण करता है, **उद्गाता** उन्हें गीतमय करता है, जब कि **अध्वर्यु** निरन्तर निवित् गुनगुनाता रहता है; केवल **ऋत्विक्** आदि को वेदि पर बुलाने के लिए ही अध्वर्यु को अपनी आवाज को (निगदों में) कुछ ऊंचा उठाना ज़रूरी था ।

सामवेद

पुराणों में लिखा है कि किसी समय **सामवेद** की एक हजार संहिताएं थीं। किन्तु आज इनमें तीन बाकी रह गई हैं, और इन तीन में भी **कौथुम**[1] संहिता ही अधिक प्रसिद्ध है। कौथुम—**पूर्वार्चिक** तथा **उत्तरार्चिक** दो भागों में विभक्त हैं। दोनों भागों में जो मन्त्र आते हैं वे प्रायः ऋग्वेद में भी उसी रूप में मिल जाते हैं। कुल मन्त्र १८१० हैं : जिनमें से यदि आवृत्तियां निकाल दें, तो—१५४९ ही शेष रह जाते हैं। इनमें ७५ के अतिरिक्त सारे मन्त्र ऋग्वेद के ८वें और ९वें मण्डल में भी तथैव संकलित है। मन्त्रों की रचना प्रायः गायत्री छन्द में, अथवा गायत्री तथा जगती मिश्रित प्रगाथा-वृत्तों में, हुई है। इनका मूल उद्देश्य गेय पदों की रचना करना था। ऋग्वेद में न मिलने वाले ७५ मन्त्र अन्य संहिताओं में जहां-तहां, और कभी-कभी कर्मकाण्डपरक ग्रन्थों में भी, प्रकीर्ण मिलते हैं। सम्भव है इनमें कुछ किसी अज्ञात संस्करण से भी लिए गए हों। वैसे, प्रतीत यही होता है कि, ऋग्वेद की बिखरी पंक्तियों को मिलाकर इनका एक और अर्थहीन-सा संस्करण सम्पादित कर दिया गया है, बस। **ऋग्वेद** और सामवेद में कुछ पाठभेद भी मिलते हैं जिनका अभिप्राय यह समझा जाता है कि कोई और प्राचीनतर संहिता थी जो आज हमें नहीं मिलती। प्रो० ऑफ्रेख्त[2] ने इन पाठभेदों के कारणों को ढूंढने का प्रयत्न किया भी है, और उनका कहना है कि ये पाठ-भेद प्रायः गान की सुविधा के लिए जान-बूझ कर किए गए हैं, क्योंकि—सामवेद के दोनों आर्चिकों में मूलपाठ मौलिक न होकर, किसी लक्ष्य की दृष्टि से, किंचिद् भिन्न है। यह लक्ष्य, सामवेद के सम्पादक का, गान की लय में विद्यार्थी को दीक्षित करना प्रतीत होता है क्योंकि सामवेद के उद्गाता का ध्येय, मुख्यतः, सामवेद की मुख्य-मुख्य शाखाओं की आधारभूत लयों का अध्ययन ही हुआ करता था। पहली सहायता इसमें पूर्वार्चिक जुटाना, तो यज्ञ के गानों में स्तोत्रों को मौखिक गाने के लिए पुनः उत्तरार्चिक का सहारा लेना पड़ता।

पूर्वार्चिक में कुछ मिलाकर ५८५ ऋचाएं हैं जिन्हें, वहां, विभिन्न यज्ञों की संगति में—विभिन्न लयों से संयुक्त कर दिया गया है। **साम** का मूल अर्थ लय था, यद्यपि पीछे चलकर उसका अभिप्राय एक 'गेय ग्रन्थ' भी समझा जाने लगा। आजकल हम कहते हैं कि अमुक पद अमुक लय में गाया जाना चाहिए, जबकि भारतीय परम्परा इसके विपरीत यह प्रतीत होती है कि "अमुक लय अमुक साम का उद्गीत है"; और सचमुच वैदिक धर्मशास्त्रों में लय को पद से प्रसूत मानने की प्रथा भी है। उनकी परिभाषा में ऋचा 'योनि' है जिससे साम का (प्र)सवन होता है। और

यद्यपि एक ही पद को, कितनी ही स्वाभाविक लयों में गाया जा सकता है—और यद्यपि एक ही लय कितना ही विभिन्न पदों को दी जा सकती है—तथापि भारत में कुछेक विशिष्ट पदों को कुछ-ही विशिष्ट लयों की योनि माना जाता था। इस प्रकार **पूर्वार्चिक** में ५८५ ऐसे पद संगृहीत हैं जिनको प्रायः १२०० लयों में गाया जा सकता है।[३] इस दृष्टि से हम सामवेद को एक ऐसा गान-ग्रंथ कह सकते हैं जिसमें प्रायः गीत का प्रथम पद ही अंकित हुआ है कि गाने वाले को लय स्मरण करने में मुश्किल पेश न आये।

उत्तरार्चिक में, दूसरी ओर, तीन-तीन पदों के प्रायः ४०० छन्द हैं जिन्हें महासत्रों में स्तोत्र-रूप में गाने की प्रथा थी। पूर्वार्चिक में जहां पदों अथवा सूक्तों को छन्द तथा देवतानुसार संकलित किया गया है, वहां उत्तरार्चिक में तत्सम्बद्ध मुख्य-मुख्य स्तोत्रों को ही प्रमुख-सत्रों-के-अनुसार[४] प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार—तीन या तीन से अधिक पदों का स्तोत्र **पूर्वार्चिक** में निर्दिष्ट किसी एक ही लय के अनुसार गाया जा सकता था : अर्थात्—**उत्तरार्चिक** एक ऐसा गीत-संग्रह है जिसमें प्रत्येक गीत का पूर्ण रूप दिया हुआ है जबकि उस गीत का लय-संकेत **पूर्वार्चिक** में पहले ही दिया जा चुका है। सो, **उत्तरार्चिक** सचमुच **पूर्वार्चिक** के अनन्तर सम्पादित हुआ—इसमें कोई सन्देह नहीं रह जाता।[५] इस सम्भावना की पुष्टि में हम देखते भी हैं कि **पूर्वार्चिक** में संगृहीत लयों में कितनी ही लयें ऐसी हैं जिनका **उत्तरार्चिक** में कोई प्रयोग नहीं हुआ, और साथ ही—उत्तरार्चिक में कितने ही गान ऐसे हैं जिनके लिए **पूर्वार्चिक** में कोई लय उपदिष्ट नहीं। **उत्तरार्चिक** इसके अतिरिक्त, **पूर्वार्चिक** का एक पूरक भी कहा जा सकता है जिसे हम उद्गाता के लिए एक और आर्चिक समझ सकते हैं।

संहिता के दोनों भागों में मौखिक परम्परा ही संगृहीत है, क्योंकि —गीत में शिक्षित होने के लिए मौखिक तथा वाद्य विद्या का सहारा लेना आवश्यक था। लयों को षड्ज आदि स्वरों में अंकित करने के लिए पीछे चल कर गान-पुस्तकें भी लिखी गई जिनमें प्रत्येक ऋचाओं के अक्षरों एवं पदों का आयाम, आवर्त्तन, आगम स्पष्ट अंकित है (जहां गीत-प्रवाह में **होयि, हुआ, होई**, आदि का अभ्यागम ठीक वैसा ही प्रतीत होता है जैसे पश्चिम में आनन्दातिरेक में श्रोता या गाता के मुख से निर्वश '**हुज्जा**' सरीखा कोई उद्गार आप से आप मुख से निकल आता है। इन आवर्त्तनों तथा उद्गारों की परिभाषा थी '**स्तोम**'—जिसके लिपि-बन्धन के लिए सर्वप्रथम **त, चो, ण** आदि अक्षरों का प्रयोग किया गया। सात मूल स्वरों को सात संख्याओं १, २, ३, ४, ५, ६, ७ द्वारा उसी प्रकार अंकित करने की प्रथा थी जिस प्रकार हमारे यहां F, E, D, C, B, A, G की परम्परा है। वैदिक गानों को गाते हुए स्वर-संकेत पुरोहित अपने हाथों और उंगलियों की विविध गतियों से किया करता था।[६]

पूर्वार्चिक से संलग्न एक **ग्राम-गेय-गान** तथा एक **आरण्य-गान** भी है : जिसमें आरण्य-गान को कुछ भयावह-सा समझा जाता था और, सो, इन गीतों की लय को जंगल में ही, ग्रामों में नहीं, सीखने का विधान था।[६] इन दोनों गानों के अतिरिक्त **ऊह गान** तथा **ऊह्य गान** में ऋचाओं को उसी क्रम में संकलित किया गया है जिस प्रकार कि यज्ञों में उन्हें ग्राम-गेय तथा आरण्य गानों के प्रसंग में गाया जाना चाहिए।

शुरू-शुरू में, सचमुच, साम-गान की लयें असंख्य (८००० ?) ही होंगी, और हर लय का अपना-अपना पृथक् नाम होता होगा। कर्मकाण्ड की पुस्तकों में उन्हें उनके नाम से ही संकलित किया गया है; और ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, के रहस्यावाद और संकेतवाद के विकास में उनका योग भी कुछ कम नहीं रहा होगा। इन लयों में **बृहत्** और **रथन्तर** का उपवर्णन और प्रयोग तो **ऋग्वेद** के युग से चला आता था। सो, ये लयें संभवतः पुरोहितों की निजी रचना न होकर प्रागैतिहासिक लोक-गीतों के अवशेष हैं जिन्हें प्राचीन सत्रों तथा संक्रांति आदि महोत्सवों के प्रसंग में गाने का रिवाज था; हो सकता है—कुछ का सम्बन्ध (ब्राह्मण-धर्म से भी प्राचीन) जादू-टोनों से, रमते फकीरों के उस युग से, हो जब जादूगर छड़ी घुमाकर, उसे उलटा-सीधा पटक कर और निरर्थक शोर मचा कर, इनके साथ लोगों को प्रभावित किया करता था।[७] साम-गानों में अंकित 'स्तोत्र' नामक खुशी-के-उद्गारों का संकेत स्पष्ट है कि ये किस युग के अवशेष हैं; इसके अतिरिक्त, परतर ब्राह्मण-युग में इन्हें विशिष्ट अद्भुत-शक्तियों से सम्पन्न माना भी गया है। सामवेद के कर्मकाण्ड से सम्बद्ध **साम-विधान-ब्राह्मण** का उत्तर भाग जादू-टोनों पर एक अच्छा शिक्षा-शास्त्र माना जा सकता है। इसके अतिरिक्त, ब्राह्मण-धर्म के एक विनिश्चित रूप में आने से पूर्व विश्वास यह था कि यदि कहीं कोई साम की ध्वनि सुन पड़े तो **यजुर्वेद** और **ऋग्वेद** का पाठ एकदम बन्द कर देना चाहिए; विशेषतः **आपस्तम्ब** धर्म-सूत्र[८] में तो एक स्पष्ट नियम उद्धृत भी है कि कुत्तों, गधों, गीदड़ों, भेड़ियों, उल्लुओं की, यहां तक कि वाद्य तन्त्रों की और रोने की, आवाज सुन कर—और **सामगान सुन** कर—ब्राह्मण को चाहिए कि वह वेदपाठ करना एकदम बन्द कर दे !

इस प्रकार, सामवेद संहिता का महत्त्व जहां भारतीय यज्ञ-परम्परा और जादू-परम्परा के इतिहास के लिए अपरिहेय है वहां **'भारतीय संगीत-शास्त्र'**[९] की उत्पत्ति पर भी उससे बहुत-कुछ प्रकाश पड़ सकता है—यद्यपि ऐसा कोई उपयोग सामवेद के गानों का अब तक वस्तुतः किया नहीं गया। साहित्यिक रूप में, वैसे, सामवेद का महत्त्व नगण्य है।

१ शेष दो संहिताओं के नाम क्रमशः **राणायनीय** तथा **जैमिनीय** हैं।

२ Theodor Aufrecht: *Rgveda* (2nd ed., Bonn, 1877) II, pp. xxxviii ff. (Cf. also Brune: *Zur Textkritik* der *dem*

Samaveda mit dem achten Mandala des Rgveda gemeinsamen Stellen, Diss, Kiel, 1909; and Oldenberg: *Hymnen des Rgveda* I, pp. 289 ff.

३ Oldenberg: GGA, 1908, 712 A.

४ Hillebrandt: *Ritualliteratur* (Grundriss, III, 2), pp. 99 ff.

५ For the controversy, see Oldenberg, GGA, 1908, 713, 722.

६ Cf. A. C. Burnell : *Arsheya Brahmana of the Sāma Veda* (Mangalore, 1876), Intro. xxviii, xli-xlviii; Caland: *Die Jaijminīya Samhitā*, 2 ff., 10; Oldenberg: GGA, 1908, 722 ff.

७ A. Hillebrandt: *Die Sonnwendfeste in-Alt-Indien* (Sep. aus der Festschript fur Konrad Hof mann), Erlingen 1889, 22 ff. 34 ff; Bloomfleld, *The God Indra and the Sāma-Veda*, in WZKM, 17, 1903, 156 ff.

क्या 'साम' का मूल अभिप्राय, अवस्ता के शमनों की भांति, शान्ति-उपचार था। छन्दोगों में 'साम' की व्युत्पत्ति √छन्द् (√चदि) आह्लादे से करने की प्रथा '**छन्दस्**' भी है।

८ १.३.१.१९.

९ Oldenberg : *Samaveda* (GGGA, 1908, 734); E. Felber : *Die indische Musik der vedischen und der klassischen Zeit, mit Texten und Uebersetzungen von B. Geiger*, SWA, 1912; R. Simon, ; *Die Notationen der vedischen Liederbucher*, WZKM, 27, 1913, 305 ff.

वैदिक पदों की मूल भावना को आधारित करने के लिए भाषा-विज्ञान के साथ-साथ 'प्राचीन भारतीय संगीत' का परिचय भी आवश्यक है। प्रोफेसर फेल्बर के (वियना एकेडमी की 'फोनोग्राम-आर्कीव' में सुरक्षित) क्रियात्मक अनुसन्धान भी आखिर तीन हजार साल पुरानी गीत-परम्परा के लिए कहां तक प्रामाणिक कहे जा सकते हैं ?

यजुर्वेद

सामवेद यदि उद्गाता के हाथ में एक गान-पुस्तक है, तो **यजुर्वेद** में अध्वर्यु की सुगमता के लिए वैदिक प्रार्थनाएं-निवेदन संगृहीत हैं। व्याकरणकार पतंजलि का कहना है कि "अध्वर्यु-वेद की एक-सौ-एक शाखाएं मिलती हैं"; यह असम्भव भी नहीं, क्योंकि—यज्ञ के विभिन्न कर्मकाण्डों में अध्वर्यु के कर्त्तव्यों तथा अध्वर्यु द्वारा प्रस्तूयमान निविदों के विषय में पर्याप्त मतभेद रहा है और, तदनुसार, संभव है अध्वर्यु की सहायता के लिए विभिन्न मतों ने विभिन्न कर्मकाण्ड-पुस्तक तथा प्रार्थना-पुस्तक प्रचलित भी किए हों। यज्ञ-प्रक्रिया में जरा-से मतभेद अथवा परिवर्तन से एक नया सम्प्रदाय खड़ा होना कोई अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता; खैर, लेकिन जो अवशिष्ट रूप इन मतभेदों का आज, यजुर्वेद की शाखाओं के रूप में, मिलता है—उनकी संख्या केवल पांच है और वह इस प्रकार है :—

१. **काठक** संहिता;

२. **कपिष्ठल-कठ** संहिता (जिसकी केवल एक टूटी-फूटी हस्तलिपि ही उपलब्ध हो सकी है);

३. **मैत्रायिणी** संहिता;

४. **तैत्तिरीय** अथवा **आपस्तम्ब** संहिता;

ये चार संहिताएं किसी एक मूल से ही उद्भूत हुई प्रतीत होती हैं जिसे वैदिक परम्परा में **कृष्ण-यजुर्वेद** का नाम दिया जाता है, जब कि—

५. **वाजसनेयि**-संहिता (जिसका नामकरण याज्ञवल्क्य-वाजसनेय के नामकरण पर हुआ) के भी कठ तथा माध्यन्दिन, दो परस्पर मिलते-जुलते से, संस्करण (**शुक्ल यजुर्वेद** के) आज मिलते हैं।

शुक्ल तथा **कृष्ण** यजुर्वेद में भेद केवल इतना ही है कि वाजसनेयि-संहिता में जहां केवल मन्त्र, स्तुति तथा उपासना ही उपस्थित हैं, कृष्ण यजुर्वेद में वहां इनके अतिरिक्त यज्ञप्रक्रिया को तथा यज्ञप्रक्रिया-परक किंचित् विवेचन को भी साथ-साथ दे दिया गया है : अर्थात्—**कृष्ण** यजुर्वेद की संहिताओं में वैदिक मन्त्रों के साथ (वैदिक परिभाषा का) ब्राह्मण-अंश भी प्रत्येक प्रसंग में, यथावसर, संगृहीत है! और ऐसा होना स्वाभाविक भी था, क्योंकि—अध्वर्युओं का कर्त्तव्य जब एक बार निश्चित हो गया कि यज्ञ से सम्बद्ध प्रत्येक अंग का निर्वाह उन्हें ही करना होगा (और, सो, क्योंकि इन मन्त्रों-मन्त्रांशों का महत्त्व, सम्पूर्ण यज्ञ-परम्परा में, बहुत ही कम हुआ करता था), तदनुसार—यजुर्वेद की प्रार्थना-पुस्तकों में निर्देश-बाहुल्य

असंगत नहीं ठहराया जा सकता। इसके अतिरिक्त, इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि **कृष्ण** यजुर्वेद **शुक्ल** यजुर्वेद की अपेक्षा एक प्राचीनतर संहिता है जिसका पुनः—सम्पादन आगे चल कर, शेष वेदों के अनुकरण पर, विशुद्ध मन्त्र-रूप में भी कर दिया गया।[1]

और यजुर्वेद की एक ही संहिता की विभिन्न शाखाओं में पुरोहितों और धर्म-प्रवक्ताओं की दृष्टि से भले ही पर्याप्त मतभेद रहा हो, आज हमारे लिए उस मत-भेद का कुछ महत्त्व नहीं है; और, सम्भवतः काल-दृष्टि से भी **कृष्ण** तथा **शुक्ल** संहिता की शाखाओं में परस्पर अन्तर कभी उतना न रहा हो। इसलिए—वाजसनेयि-संहिता का विषय विवेचन ही यजुर्वेद की सारी शाखाओं से परिचय प्राप्त करने के लिए पर्याप्त होना चाहिए।

वाजसनेयि-संहिता में ४० अध्याय हैं जिनमें अन्तिम १५ (शायद २२) अध्याय मूल में पीछे से जोड़ दिए गये प्रतीत होते हैं। यजुर्वेद के पहले २५ अध्यायों में महासत्रों के प्रसंग में पढ़ी जाने वाली प्रार्थनाएं संगृहीत हैं। प्रथम २ अध्यायों में **दर्श** और **पूर्णमास** (चन्द्र-सम्बन्धी) दो सत्रों का विधान है जिनमें **पिण्ड-पितृ यज्ञ** परक आहुतियां देने का जिक्र भी है। तीसरे अध्याय में दैनिक '**अग्निहोत्र**' के प्रार्थना-मन्त्र, **अग्न्याधान**, प्रातः तथा सायं पढ़े जाने वाले विशिष्ट आग्नेय मन्त्रों का, एवं **चातुर्मास्य** सत्र का उल्लेख है। **सोम**[2]**-यज्ञ** सामान्य रूप में, तथा सोम-सम्बद्ध पशु-यज्ञ, के प्रकरण में (चौथे से आठवें तक) पांच अध्यायों का विषय है। सोम-यज्ञों में कुछ यज्ञ यदि एक दिन की अवधि के हैं तो कुछ कितने ही दिनों तक फैल जाते हैं। एक-दिवस यज्ञों में हम क्षत्रियों तथा राजन्यों की रथेष्टियों से सम्बद्ध **वाजपेय** सत्र का निर्देश पाते हैं जिसमें सोम-पान की भी अनुमति थी (यद्यपि सोम-पान का विधान अन्यत्र ब्राह्मणों के लिए ही हुआ है)। **राजसूय** का सम्बन्ध राजाओं से ही हुआ करता था, परन्तु इस यज्ञ के साथ संलग्न दो-एक प्रथाएं और भी थीं, जैसे—जय-यात्रा का नाट्य, जूए के एक-दो दौर, और तरह-तरह के जादू-टोने : इन दोनों सत्रों से सम्बद्ध मन्त्रों का विधान नवम तथा दशम अध्याय में मिलता है। इसके अनन्तर ११वें से १८वें अध्याय तक **अग्निचयन** सम्बन्धी—विविध मन्त्रों तथा मन्त्रांशों का सम्पादन हुआ है, क्योंकि—यह अग्नि-चयन सारा साल, निरन्तर, चलता रहता था और अग्नि-चयन के प्रत्येक अंग की, प्रत्येक रहस्य की, व्याख्या ब्राह्मणों में भी काफी खोलकर की गई है। यज्ञवेदि ही अग्निदेव का पार्थिव प्रतिरूप है और, सो, पुजारी की ध्यान-धारणा का एकमात्र विषय है। यज्ञवेदि को १०८०० ईंटों से, एक पंख-फैलाए विशाल - पक्षी के रूप में, बनाने का आदेश है। वेदि के निम्नतर आधार में पांच यज्ञ-पशुओं को गाड़ा जाना चाहिए और इन पशुओं के शरीरों को पवित्र जल में फेंक कर ही ईंटें और यज्ञ-पात्र बनाने चाहिएं। इन ईंटों में प्रायः प्रत्येक का

पृथक् नाम है, पृथक् निर्माण-प्रकार है। उसी प्रकार, यज्ञ के पवित्र पात्र को पकाने का भी एक विशिष्ट ढंग विहित है। छोटे-छोटे प्रक्रियांगों का अपना-अपना अर्थ है, अपना-अपना रहस्य है जो बिना विशिष्ट मन्त्रों-मन्त्रांशों के शक्तिहीन हो जाता है। १९ से २१ के तीन अध्यायों में **सौत्रामणि** सत्र का उपवर्णन हुआ है जिसमें सोम के स्थान पर **सुरा** का प्रयोग विहित है; और इस यज्ञ की आहुतियों के देवता हैं—अश्विनी कुमार, सरस्वती और इन्द्र। इस यज्ञ का विशेष प्रसंग कोई भी ऐसा व्यक्ति हो सकता है जिसने सोमपान में इतनी अति कर दी हो कि अब सोम का उस पर कोई प्रभाव ही न पड़ता हो; मूल अभिप्राय इस यज्ञ का शायद यही था; किन्तु इसके अतिरिक्त—ब्राह्मण किसी कार्य में सफलता के लिए, निर्वासित राजा खोए राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए, क्षत्रिय विजय के उद्देश्य से, तो वैश्य धन कमाने की गर्ज से ... इसका उपयोग कर सकता है। यज्ञ के कितने ही मन्त्र इन्द्र की उस पुरानी गाथा की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं जिसमें सोमपान में मस्त, और होशहवास खो-बैठे देवराज का उपचार कभी, कहते हैं, अश्विनीकुमारों ने और सरस्वती ने किया था। और अन्त में २२ से २५ तक के चार अध्यायों में प्राचीन चक्रवर्त्तियों के प्रिय यज्ञ **अश्वमेध** का वर्णन है। पुरानी गाथाओं में तथा महाकाव्यों में हम कितने ही राजाओं का उल्लेख पाते हैं कि वे अश्वमेध कर के चक्रवर्ती बने, लोक-लोकान्तर के स्वामी बने। अश्वमेध को वैदिक यज्ञों का शीर्ष-स्थानीय समझा जाता है और इसी के साथ प्राचीन वाजसनेयि-संहिता समाप्त होती है। २२वें अध्याय के २२वें मन्त्र में अश्वमेध के चरम ध्येय को इन सुन्दर शब्दों में अंकित किया गया है :—

विश्व में, सभी-कहीं—
वर्चस्वी,
ब्रह्म-ज्ञानी ब्राह्मणों की 'शान्त ज्योति' की छाया हो;
तेजस्वी
शूर, धनुर्धारी, महारथी क्षत्रियों का अनुशासन हो।
घर-घर में सम्पन्नता हो—
दुधेला गाएं, शक्तिशाली वृषभ, और फुर्तीले घोड़े,
और साध्वी गृहिणियां घर-घर की शोभा बढ़ायें;
यजमान का घर—
वीर-पुत्र की विजयों से
वीर-गीतों से, वीर-प्रवचनों से ..
—प्रतिध्वनित होता रहे।
पृथ्वी पर, कहीं भी,
मेघ अकाल न आने दें,

वनस्पतियां फलें-फूलें :
सभी-कहीं खुशहाली ही खुशहाली नजर आए।

हमने कहा था कि यजुर्वेद के अन्तिम १५ अध्याय मूल यजुर्वेद का भाग नहीं हैं, क्योंकि–एक तो २६ से ३५ अध्याय तक आपूर्ण यजुर्वेद को स्वयं भारतीय ही खिल अर्थात् परिशिष्ट मानते आए हैं; साथ ही—यह भी प्रसिद्ध है कि २६ वें से २९वें अध्याय तक का ग्रन्थांश पिछले अध्यायों की परिपूर्ति-मात्र है। इसके अतिरिक्त ३० वां अध्याय तो पुरुषमेध में आहुति रूप पड़ने वाले विविध पशुओं की परिगणना के अतिरिक्त कुछ और है भी नहीं—कहीं भी कोई प्रार्थना नहीं, कोई मन्त्रांश नहीं; और जिन देवताओं को यह आहुति पड़ती है, वे भी क्षण-एक के लिए देव-पद प्राप्त कर चुकी कुछ (पार्थिव) शक्तियां ही हैं—बस। **पुरुषमेध** के प्रसंग में कम से कम १८४ पशुओं, मनुष्यों को ज़िबा कर देने का हुक्म है: जिसके कुछ उदाहरण ये हैं: "ब्राह्मण को पुरोहित देवता के लिए, क्षत्रिय को राजन्य देवता के लिए, वैश्य को मरुतों के लिए, शूद्र को तप के लिए, चोर को अन्धकार के लिए, हत्यारे को नरक के लिए, नपुंसक को पाप के लिए, वेश्या को हीन वासना के लिए, गायक को शोर-शराबे के लिए,भाट को नृत्य के लिए, अभिनेता को गान के लिए, शिकारी को मौत के लिए, जुआरी को जुए के लिए, अन्धे आदमी को नींद के लिए, बहरे को अन्याय के लिए, आग लगाने वालों को चमक-दमक के लिए, धोबिन को 'यज्ञ' के लिए, रंगरेज औरत को 'इच्छा' के लिए, बांझ औरत को यम के लिए, बंसी-वाले को उत्सव की खुशी के लिए, सितार बजाने वाले को 'चीख' के लिए, लंगड़े आदमी को पृथ्वी के लिए, और गंजे को स्वर्ग के लिए (!)—हम अर्पित करते हैं।" यह असम्भव प्रतीत होता है कि इतने प्रकार के आदमियों को एक साथ देवार्पित करने के लिए कभी सचमुच शाला में लाया जाता हो। मूल भावना सांकेतिक प्रतीत होती है। इन विविध पुरुषों की गुड़िया बना कर अथवा नाम से ही उन्हें आग के अर्पित किया जाता था—असम्भव नहीं। और तो और—इस सांकेतिकता में अश्वमेध भी पुरुषमेध[३] से पछाड़ खा गया; सो, स्पष्ट ही है कि यज्ञ-याग का पूर्ण आडम्बर मूल रूप में रहस्यात्मक ही अधिक था। हमारी इस कल्पना की पुष्टि में यजुर्वेद ३१ में सम्पादित **पुरुषसूक्त** का 'एक और रूप' दिया जा सकता है जिसमें प्रायः ऋग्वेद ९. ९० के प्रसिद्ध शब्दों में ही पुरुषमेध द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का विशद वर्णन है और, साथ ही, वहां सूक्त के अन्त में पुरुष को ही विश्वरूप कह कर, सृष्टि का परमोत्कर्ष बताते हुए, स्वयं (पुरुषमेध) सूक्त को उपनिषद् का नाम दे दिया गया। अध्याय ३२ भी, विषय एवं विषय के उपन्यास की दृष्टि से, एक उपनिषद् ही ठहरता है जिसमें पुरुष को, एवं ब्राह्मण को, स्रष्टा एवं प्रजापति की उपाधि दी गई है। अध्याय ३४ के प्रथम छः मन्त्रों का तो नाम ही है—

शिवसंकल्पोनिषद्। अध्याय ३२-३४ में सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ यज्ञ, **सर्वमेध,** का उल्लेख है जहां यजमान अपना जीवन-शेष, वानप्रस्थ रूप में बिताने से पूर्व, अपनी सम्पूर्ण चल-अचल सम्पत्ति को ब्राह्मण देवता के हाथ, अन्तिम दक्षिणा के रूप में, दे जाता है। अध्याय ३५ में ऋग्वेद से संगृहीत कुछ **अन्त्येष्टि** मन्त्र हैं। अध्याय ३६-३९ में उसी प्रकार **प्रवर्ग्य** से सम्बद्ध कुछ मन्त्र हैं जिनमें एक बड़े कड़ाहे को यज्ञ-कुण्ड पर इतना तपाया जाता है कि वह लाल होकर सूर्य की तरह चमकने लगता है और, उसे सूर्य का प्रतिरूप समझ कर ही, उसमें दूध उबाला जाता है और उस दूध को आहुति रूपमें अश्वियों के मुख में डाल दिया जाता है। प्रवर्ग्य की सम्पूर्ण प्रक्रिया अद्यावधि स्पष्ट नहीं हो पाई; इसकी परिसमाप्ति यज्ञपात्रों को 'पुरुष' के रूप में सजाकर ऐसे की जाती है कि—दुग्ध-पात्र पुरुष का सिर प्रतीत हो (जिस पर केशों की भ्रान्ति कुश-निक्षेप द्वारा करने का विधान भी है); दो दोहन-पात्र इधर उधर रख दिए जाते हैं (जो उस पुरुष-मूर्त्ति के दो कान-से लगते हैं); दो स्वर्ण-पत्र पुरुष की आंखें लगती हैं तो दो छोटे-छोटे पात्र उसकी एड़ियां,.....और फिर आटा छिड़क कर, पुरुष-कंकाल की सम्भावना उपस्थित करते हुए, दूध और शहद की मिश्रित धाराएं रक्त-वाहिनियों का चित्र उपस्थित करने लगती हैं। प्रक्रिया के सभी अंग प्रायः वैसे ही हैं जैसे तान्त्रिकों के कर्मकाण्ड में हम (वाममार्गीय दर्शनों में) सामान्यतः पाते हैं।* और चालीसवां अध्याय, यजुर्वेद का, तो सचमुच है ही **ईशोपनिषद्** जो सभी उपनिषद्-संग्रहों में संकलित है (और जिसका उल्लेख हम आगे चल कर उपनिषदों के अध्याय में करेंगे भी)।

यह वर्णन स्वतः-पर्याप्त है : जिससे स्वयं सिद्ध हो जाता है कि यजुर्वेद के अन्तिम १५ अध्याय प्रक्षिप्त प्रकरण हैं। इस बात की पुष्टि, अन्यथा, **कृष्ण यजुर्वेद** में आलोचित यजुषों द्वारा भी हो जाती है, क्योंकि—उन मन्त्रों तथा मन्त्रांशों में **शुक्ल** संहिता का प्रथम भाग ही उद्धृत हुआ है।

अब हम यजुर्वेद में आए मन्त्रांशों तथा यज्ञ-विधान परक वाक्यों को लेते हैं—जिनसे कि यजुर्वेद की शाखाओं का मुख्य अंग विनिर्मित होता है। यज्ञ-विधि में ऋचाओं तथा गद्यांशों का प्रयोग साथ-साथ होता है। गद्यांशों की परिभाषा है **यजुष्** और यजुषों के समुदय को ही दूसरे रूप में यजुर्वेद कह सकते हैं; किन्तु इन गद्यांशों अथवा यजुषों की भी प्रायः अपनी ही लय होती है, अपनी ही काव्यमयता होती है। ऋचाएं प्रायः ऋग्वेद से ही ली गई होती है। किन्तु यजुषों की अपनी उड़ान भी कुछ कम नहीं। यजुर्वेद की ऋचाओं में कहीं-कहीं पाठभेद भी है, किन्तु वह पाठभेद मूल यजुर्वेद से किसी कदर कम पुराना नहीं, क्योंकि—ये परिवर्तन ऋचाओं को वस्तुतः यज्ञ-प्रक्रिया में सुसंगत करने के लिए ही समय-समय पर होते रहे होंगे। ऐसे स्थल बहुत ही कम हैं जहां ऋग्वेद के सूक्त

के सूक्त ही यजुर्वेद में उद्धृत हुए हों। प्रायः एक-दो ऋचाएं ही, या ऋचा के कुछ अंश ही, यज्ञ के प्रसंग में अनुकूलता के साथ बिठा दिए गए हैं। स्वयं यजुर्वेद की दृष्टि से इन ऋचाओं का वह महत्त्व नहीं जो विशुद्ध यजुर्वेदीय गद्य मन्त्रों का होता है।

यजुष् का सरलतम रूप वह है जिसमें देवता का नाम लेकर आहुति को चुपचाप अग्निमुख में डाल दिया जाता है और यजुर्वेद में इस तरह के मन्त्रांश हैं भी वस्तुतः बहुत अधिक हैं: **अग्नये त्वा, इन्द्राय त्वा, इदमग्नये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा** इत्यादि। और, यह कह कर, आहुति को एक ओर रख दिया जाता है, या, आग में डाल दिया जाता है। **अग्निहोत्र** में जिस प्रकार एक छोटे से वाक्य द्वारा अग्नि को स्तुति और (दूध की) आहुति अर्पित की जाती है, उससे और छोटा रूप प्रार्थना का दूसरा हो भी क्या सकता है?: **अग्निर्ज्योतिः ज्योतिरग्निः, स्वाहा**—इस प्रकार सांझ के वक्त, तो—**सूर्यो ज्योतिः, ज्योतिः सूर्यः, स्वाहा** के साथ प्रातः काल। और यज्ञ की इस पवित्र प्रक्रिया का मानवीय ध्येय क्या है, यह भी बहुत थोड़े शब्दों में ही कह दिया जाता है: पुरोहित उठता है और एक शाखा काट कर बछड़ों को गौओं से पृथक् करते हुए कहता है:—**रसाय त्वा शक्तये त्वा**। इसी प्रकार, इन पवित्र कार्यों में प्रयुक्त होने वाले पात्रों के साथ भी कोई न कोई इच्छा जोड़ दी जाती है, यहां तक कि—यज्ञाग्नि को प्रदीप्त करने वाली समिधाओं को अर्पित करते हुए ऋत्विक् के शब्द होते हैं: 'अग्नि ने तुझे प्रज्ज्वलित किया; तुझ में अग्नि की जीवन-ज्योति समा जाय और, समाकर, हमें भी प्रज्ज्वलित कर दे, प्रत्युज्जीवित कर दे।' और यदि यज्ञवेदि पर प्रयुक्त होने वाले किसी भी साधन से किसी प्रकार की कोई आशंका हो, तो छोटा-सा एक वाक्य पढ़ कर उसके दुष्प्रभाव को नष्ट कर दिया जाता है। जिस रस्सी से मेध्य-पशु को यूप के साथ बांधा जाता है वेदों में उसके लिए सम्बोधन है: 'तू सांप न बन जाना'। वह छुरी जिससे वैदिक मन्त्रों के साथ दाढ़ी के बाल काटे जाते हैं, जैसे सुन सकती हो: 'तू कोई जख्म न कर देना!' राज्याभिषेक के समय—राजा की आंखें नीची होती हैं, और उसकी प्रार्थना होती है: '(पृथ्वी) मां! मैं तुझे, कभी दुख न पहुंचाऊं; तेरी गोदी में मैं सुख ही सुख पाऊं।'[५]

इन यज्ञ-परक मन्त्रों से देवताओं को सीधे शब्दों में सम्बोधित नहीं किया जाता जब तक कि पहले उनका सम्बन्ध प्रसंगात् यज्ञगत किसी पात्र अथवा प्रक्रिया से बन न चुका हो। उदाहरणार्थ—यजमान की पत्नी को रस्सी से बांधते हुए पुरोहित कहता है: "तू रस्सी नहीं, अदिति की मेखला है।' सोम-सवन के उत्सव में यजमान, स्वयं अपने को मूंज की मेखला में बांधते हुए, कहता है: "तू अंगिरस् की शक्ति है, तू ऊन की तरह कोमल है—तेरी यह मृदुता मुझे बल दे।" और इसके अनन्तर कौपीन में गांठ बांधता हुआ वह कहता है: 'तू सोम की ग्रन्थि है।' और

फिर—सिर पर पगड़ी बांधता हुआ, या उत्तरीय पहनता हुआ, वह गुनगुनाता है : तू विष्णु का आवरण है, यजमान का आवरण है।" कृष्णमृग के सींग को, उत्तरीय के एक पल्ले में बांधते हुए, अन्त में, सम्बोधन करता है : 'तू इन्द्र की योनि है।" यज्ञ की समाप्ति पर, रथ से यज्ञ का प्रसाद लेते हुए, पुरोहित के शब्द होते हैं : 'तू अग्नि की देह है, मैं तुझे विष्णु के अर्पित करता हूं'; 'तू सोम की देह है, मैं तुझे विष्णु के अर्पित करता हूं।' यज्ञपात्र ग्रहण करते समय, पुरोहित की प्रसिद्ध उक्ति होती है : "सविता के आदेश से मैं तुझे अश्विनी-कुमारों की बांहों द्वारा, और पूषा के हाथों द्वारा, ग्रहण कर रहा हूं।"[६]

यज्ञाग्नि को प्रज्ज्वलित करने का प्रकार भी निश्चित होता है; और, इस प्रकार, अरणियों की रगड़ से पैदा होने के कारण हम आग को उन्हीं अर्थों में **अरणि-पुत्र** मान सकते हैं—जिस प्रकार पिता और माता के संयोग से, सामान्यतः, प्राणी का जन्म होता है ! किसी-किसी स्थल पर तो—जिस प्रकार आज भी इण्डोनेशिया में मलय लोग अरणियों को माता और पिता नाम से स्मरण करते हैं, उसी प्रकार वेदों में सोम-सवन के प्रसंग में अग्नि-समिन्धन के समय दोनों अरणियों को पुरुरवस् तथा उर्वशी (दो प्रेमियों) के नाम से स्मरण किया भी गया है। लकड़ियां रगड़ते हुए ऋत्विक् कहता है : 'तू अग्नि की योनि है, तू आयु की योनि है;' और—कुश की दो पत्तियां ऊपर रखते हुए पुनः, उन पत्तियों को पुरुष के वीर्योत्पादक अंगों के नाम से स्मरण करता है ! लकड़ी का एक छोटा-सा फलक बिछाते हुए, कहता है : 'तू उर्वशी है' और, दुग्ध पात्र को यज्ञकुण्ड पर रखते हुए लकड़ी से उसे हिलाता जाता है और कहता जाता है : 'तू आयु है', 'तू आयु है' ; दोनों लकड़ियों को एक साथ मिलाकर ऊपर वाली लकड़ी को सम्बोधन करके कहता है—'तू पुरूरवस् है'; दोनों लकड़ियों को हिलाता है, रगड़ता है, और साथ-साथ कहता चलता है, 'मैं तुझे त्रिष्टुभ् द्वारा उद्दीप्त करता हूं, गायत्री द्वारा उद्दीप्त करता हूं, जगती द्वारा उद्दीप्त कर रहा हूं'।[७]

इस प्रकार के निरर्थक मन्त्रों व मन्त्रांशों की यजुर्वेद में भरमार है। ऐसे सुसंगत स्थल, शृंखलित स्थल अथवा वाक्य, जिनमें यजमान गद्य में अपनी हार्दिक इच्छा प्रकट करे (जैसे कि अश्वमेध के प्रकरण में हमने ऊपर देखा भी था), सचमुच बहुत कम हैं। सामान्यतः छोटे-छोटे मन्त्रांश ही कुछ सार्थक विचार प्रकट करते प्रतीत होते हैं:—

हे अग्नि,
तू शरीरों का रक्षक है :
तू मेरे शरीर की रक्षा कर।
हे अग्नि,

तू जीवन का दाता है:
मुझे जीवन दे ।
हे अग्नि,
तू शक्ति का दाता है :
मुझे शक्ति दे ।
हे अग्नि,
तू मेरी अपूर्णताओं को पूर्ण कर दे :
यज्ञ के द्वारा
हमारे जीवन में, हमारे प्राणों में,
हमारी दृष्टि में, हमारी श्रुति में,
हमारी दृढ़ता में, हमारी यज्ञमयता में,
—पूर्णता आ जाए ।

किन्तु, इसके विपरीत, कितने ही यजुष् हमें इस प्रकार के मिलते हैं जैसे कोई पारावार हो और उसका ओर-छोर हमें समझ न आए :

एकाक्षर द्वारा
अग्नि ने प्राण पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।
द्वयक्षर द्वारा
अश्वियों ने द्विपदों पर विजय पा ली;
मै भी पा लूं ।
त्र्यक्षर द्वारा
विष्णु ने तीनों लोकों में विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।
चतुरक्षर द्वारा
सोम ने चतुष्पाद्-जगत् पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।
पंचाक्षर द्वारा
पूषा ने पांचों लोकों पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।
षडक्षर द्वारा
सविता ने छः ऋतुओं पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं ।

सप्ताक्षर द्वारा
मरुतों ने सात गृह-पशुओं पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं।
अष्टाक्षर द्वारा
बृहस्पति ने गायत्री पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं।
षोडशाक्षर द्वारा
अदिति ने षोडशविध स्तोम पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं।
और सप्तदशाक्षर द्वारा
प्रजापति ने सप्तदशविध स्तोम पर विजय पा ली;
मैं भी पा लूं। (वाज० ९. ३१-३४)

इन प्रार्थनाओं में, यज्ञ-मन्त्रों में, जो निरर्थकता का आभास हमें होता है, उसका कुछ कारण है : वह यह कि—परस्पर-असंगत वस्तुओं को यजुर्वेद में कुछ बेमतलब जोड़ देने की प्रवृत्ति ही है। उदाहरणतया—आग पर पड़े एक पतीले को सम्बोधन कर के कहा गया है :—

तू आकाश है, तू पृथ्वी है,
तू मातरिश्वा का पाक-भाजन है। (वाज० १. २.)

और जब गौ को, सोम दे कर खरीदा जाता है—तब पुरोहित कहता है :

तू विचारशक्ति है, तू मन है,
तू बुद्धि है, तू दक्षिणा है,
तू स्वामित्व के योग्य है,
तू यज्ञ-पात्र है,
तू द्विशिरा अदिति है। (वाज० ४. १९)

यज्ञ-वेदि के निर्माण के समय पात्र में पड़े जिन अंगारों से अग्नि-समिन्धन करना होता है, उसे लक्ष्य करके कहा जाता है :

तू ही सुपर्ण (पक्षी) है :
त्रिवृत् स्तोम तेरा मूर्धा है,
गायत्र-छन्द तेरी आंख है,
बृहत् और रथन्तर तेरे पंख हैं,

स्तुति तेरी आत्मा है,
विभिन्न वृत्त तेरे अंग हैं,
याजुष मन्त्र तेरा नाम है,
वामदेव्य गीत तेरा शरीर है,
यज्ञायज्ञिय गीत तेरी पूंछ है,
ये अंगीठियां तेरे-क्षुर हैं,
—तू सुपर्ण है :
तू स्वर्ग की ओर उड़ जा ! (वाज० १२.४)

और फिर अग्नि-पात्र को हाथ में ले, तीन कदम उठाता हुआ, पुरोहित कहता है :

"तू विष्णु का शत्रुंजय पग है,
तू गायत्री पर सवार हो कर पृथ्वी की परिक्रमा शुरू कर दे;
विष्णु का तू शत्रुञ्जय पग है,
त्रिष्टुभ् पर सवार हो कर तू अन्तरिक्ष की यात्रा शुरू कर दे;
तू विष्णु का दुश्चरित्रनाशी पग है,
जगती पर सवार हो कर तू द्युलोक की यात्रा शुरू कर दे,
तू विष्णु का अरिन्दम पग है,
अनुष्टुभ् पर सवार हो कर तू लोक-लोकान्तर की यात्रा शुरू कर दे।
(वाज० १२.५)

इस प्रकार की प्रार्थनाओं के सम्बन्ध में कभी श्रेडर ने कहा था : "प्रायः हमें सन्देह भी हो उठता है कि क्या ऐसे वाक्य किसी बुद्धिमान् (व्यक्ति अथवा) जाति की रचना हो सकते हैं, क्योंकि—प्रायः एक ही विचार को लेकर (किसी हतबुद्धि मर्ख की तरह) प्रायः उन्हीं शब्दों में (या थोड़े से अदल-बदल के साथ) उसी की पुनः-पुनः आवृत्ति पुरोहित करता चलता है।" और यह लिख कर श्रेडर कुछ उदाहरण मनोवैज्ञानिक चिकित्सालयों के वातावरण से भी, यजुर्वेद की तुलना में, उद्धृत करता है। इस सम्बन्ध में हम यह भुला न बैठें कि अथर्ववेद तथा ऋग्वेद के प्राचीन जादू-टोनों की तरह यजुर्वेद में 'अन्धविश्वास के अवशेष' संगृहीत नहीं हैं, अपितु, —ब्राह्मणों ने जनता के ऊपर अपना हाथ बनाए रखने के लिए कितने ही असंख्य ऐन्द्रजालिक-से मन्त्रों की रचना की थी !

यजुर्वेद के इन मन्त्रों में कुछ तो स्पष्ट ही गद्यमय है—और जादू-टोने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। कहीं-कहीं तो इन यजुषों का रूप, इनका अर्थ, बिल्कुल

वैसे ही लगता है जैसे कि अथर्ववेद में हम ऊपर देख चुके हैं। जिस रथ पर यज्ञपात्र रखे जाते हैं, उसे लक्ष्य करके एक प्रार्थना में कहा गया है कि :—

"तू रथ का जुआ है,
तू हमारे शत्रुओं को हानि पहुंचा :
जो हमें हानि पहुंचाता है, उसे
हानि पहुंचा।" (वाज० १. ८).

इसी प्रकार के दो-एक उद्धरण और श्रेडर[१] ने **मैत्रायिणी** संहिता से इस प्रकार दिए हैं :

"जो हमारे प्रति शत्रुता से पेश आता है,
जो हमारे से घृणा करता है, विद्वेष करता है,
जो हमें नुक्सान पहुंचाना चाहता है,
उसे तू
चकनाकूर कर दे, मिट्टी में मिला दे।"
"हे अग्नि, तू अपनी आग से—
जो हमारे से द्वेष करता है, या जिससे हम द्वेष करते हैं—उसे
जला दे :
उसकी ओर अपनी लपटें फेंक,
उसको चकाचौंध कर दे—अपनी अदम्य शक्ति से भयभीत कर दे।"
"मृत्यु और तबाही
हमारे प्रतिस्पर्धियों को नष्ट कर दे।"

इसी प्रकार के अभिशापों एवं शाप-मन्त्रों की प्रागैतिहासिकता हम यजुर्वेद में संगृहीत कुछ पहेलियों में भी पाते हैं, यद्यपि—अधिकांश पहेलियों की भाषा यहां ब्रह्मविद्या[१०] के मूल सिद्धांतों से प्रसूत है। और इस अंश में ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में संकलित लोक-वाङ्मय का ही कुछ परतर अंश ये **पहेलियां** प्रतीत होती भी हैं। यजुर्वेद के कुछ विशिष्ट स्थलों पर तो ऐसी क्रीड़ाएं परम्परागत और, सो, अपरिहेय प्रतीत होती हैं; अध्याय २८ में वाजसनेयि संहिता में अश्वमेध के प्रसंग में ऐसा कुछ संग्रह उपलब्ध होता है—जिसमें कुछ पहेलियां छिछोरेपने की हैं, तो कुछ ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्मकाण्ड से सम्बद्ध रहस्यात्मकता की छाया लिए हुए, और कुछ और उपनिषदों की अन्तर्दृष्टि से स्पृष्ट भी। यजु० २८. ४५-४८, ५१ से निम्न उद्धरण अप्रासंगिक न होंगे :—

होता—यह कौन है जो पथ पर एकाकी ही चला जा रहा है ?
यह कौन है जो निरन्तर नए से नया जन्म लेता

रहता है ? क्या चीज है जो जुकाम का, और सर्दी
का, एक साथ इलाज बन सकती है ? और इस महान्
आवपन का नाम क्या है ?

अध्वर्यु—सूर्य ही वह एकाकी यात्री है,
चन्द्रमा है जो निरन्तर नया जन्म लेता है,
अग्नि सर्दी और जुकाम का एक-सा उपचार है,
और पृथ्वी ही वह महान् आवपन है।

अध्वर्यु—क्या सूर्य-सदृश कोई और ज्योति भी है ?
क्या समुद्र-सदृश कोई और प्रवाह भी है ?
कोई वस्तु ऐसी भी है जो पृथ्वी से ज्यादा बड़ी हो ?
कोई वस्तु है जिसकी कोई उपमा, कोई मिति, न हो ?

होता—हां, ब्रह्म है—जो सूर्य-सदृश है,

आकाश—समुद्र-सदृश है,
और इन्द्र पृथ्वी से बढ़-चढ़कर है;
किन्तु—काम धेनु की कोई उपमा नहीं।

उद्गाता—कहां-कहां तक पुरुष पहुंच चुका है ?
क्या-कुछ है जो पुरुष में समा चुका है ?
—क्या मेरी इस पहेली को ब्रह्मा भी बुझा सकता है ?

ब्रह्मा—पुरुष पंचजन में समा चुका है
और पंचजन पुरुष में समाए हुए हैं।
यही मेरा बोध है और यही—
इस विकट समस्या का सरल-सुबोध उत्तर भी है।

देवपूजा में, प्रार्थनाओं-विधिमंत्रों के अतिरिक्त, इन प्रहेलिका-वाक्यों का भी वही महत्त्व हुआ करता था, क्योंकि—पूजा की सर्वांगीणता में यह विधि-मन्त्र-मन्त्रांश एक छोटा-सा अंग ही तो हैं, और कर्मकाण्डों में याजुष मन्त्रों का उद्देश्य फकत देवताओं की स्तुति नहीं हुआ करता था, अपितु—एक अदम्य शक्ति द्वारा देवताओं को परवश करके पुरोहित की निजी स्वार्थपूर्ति अधिक होता था। भोग-विलास और आनन्द-बहार देवताओं को भी भाता है, और—बार-बार वैदिक सूक्तों में और ब्राह्मणों में हमें बतलाया गया है कि "देवता स्वभाव से ही परोक्ष-प्रिय होते हैं—प्रत्यक्ष-द्वेषी होते हैं"।

यजुर्वेद में देवताओं को प्रभावित करने की एक विशेष विधि-सी बन चुकी प्रतीत होती है : भिन्न-भिन्न नामों और विशेषणों द्वारा देवता का आह्वान किया जाता है कि कोई-न-कोई विशेषण तो उसका (पुरोहित के) लक्ष्य पर जा लगेगा ! और इसी प्रथा का पल्लवित रूप हम आगे चल कर **विष्णुसहस्रनाम** और **शिवसहस्रनाम** की महिमा में पाते भी हैं । इस अन्ध-विश्वास का सर्वप्रथम आभास हम वाजसनेयि संहिता के अध्याय १६ में, तथा तैत्तिरीय संहिता ४-५ में **शतरुद्रिय** के प्रकरण में, पाते हैं ।

इनके अतिरिक्त एक और प्रकार की प्रार्थनाएं भी यजुर्वेद के मन्त्रों में हमें मिलती हैं—जिनमें एक-दो निरर्थक अक्षरों के महत्त्व को बहुत ही बढ़ा-चढ़ाकर, यज्ञों में उनकी आवृत्ति को, अपरिहेय उद्घोषित किया गया है। "स्वाहा' कह कर यज्ञ-वह्नि में आहुति को देवार्पित करना, और उसी प्रकार 'स्वधा' कहकर पितरों को श्राद्ध भेंट करना : ये दोनों विधियां तो शायद कुछ सार्थक हों; किन्तु—**वषट्**, **वेट्**, **वाट्**, का अर्थ क्या था—अभी तक कुछ स्पष्ट नहीं हो पाया है। और सम्भवतः, सबसे अधिक रहस्यपूर्ण है—**ओंकार** की एकाक्षर ध्वनि (मूल में जिसका अर्थ केवल 'स्वीकृति' अथवा 'हां' हुआ करता था; किन्तु आज तक इसकी सारगर्भितता को कोई भी विद्वान् पूर्ण रूप से समझ चुका हो—कहा नहीं जा सकता। हजारों वर्षों से उपनिषदों के ऋषि वैदिक धर्मियों से यह कहते आए हैं कि "ओंकार ब्रह्मस्वरूप है, विश्व की आत्मा है,. . . ध्यानी का एक मात्र ध्येय है।" **कठोपनिषद्** २. १६ में तो यहां तक कह दिया गया है कि जो इस प्रकार परम-अक्षर को समझ लेता है वह स्वयं ब्रह्म के समान ही स्वतः-पूर्ण हो जाता है। इस एकाक्षर मन्त्र के साथ **भूः भुवः स्वः** को—कुछ के अनुसार जिसका अभिप्राय होता है 'पृथ्वी, अन्तरिक्ष और आकाश'—शाश्वतवत् जोड़ दिया गया है; यही नहीं, उसे मैत्रायणी १. ८. ५ ब्रह्म, सत्य, ऋत एवं यज्ञ का आधार तक उद्घोषित किया गया !

सदियों पश्चात्, भारतीय धर्म-विकास के अपेक्षया अर्वाचीन युग में, हम पृष्ठों पर पृष्ठ—**अं, आं, हूं, एं, क्रों, हृद्, अह** इत्यादि—अव्यक्त ध्वनियों से भरे पाते हैं जिनकी रहस्यात्मकता, बुद्धिगम्य न होकर, अन्धविश्वास की वस्तु अधिक है; सम्भवतः उन दिनों—मन्त्र का अर्थ, ऋक् और यजुष् न रह कर, तान्त्रिक जादू ही प्रचलित हो गया हो ! यह अर्थ-परिवर्तन बहुत मुमकिन है—यजुर्वेद में शुरू हो ही चुका था, और शायद—दोनों परिभाषाओं में कोई स्पष्ट अन्तर कभी रहा भी नहीं।

साहित्यिक दृष्टि से यजुर्वेद की संहिताओं का अध्ययन एक नीरस-विरस वस्तु है : यह सच ही है। किन्तु धार्मिक दृष्टि से, भारतीय धर्मों के लिए ही नहीं—तुलनात्मक धर्म-विज्ञान के लिए, उनकी स्रोतस्विता अप्रत्याख्येय है। धर्म के इतिहास

में जो भी कोई प्रार्थना की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन करना चाहे, यजुर्वेद की उपेक्षा नहीं कर सकता।

स्वयं भारत के परतर दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य को सही समझने के लिए संहिताओं का महत्त्व कभी भी कम नहीं हो सकता, तो उधर—विशेषतः, ब्राह्मणों और उपनिषदों की भावना को बिना यजुर्वेद -पारायण के अवगत कर सकना नितान्त असम्भव है।

१ **शतपथ** १४. ९. ४. ३३ तथा ४. ४. ५. १९ की एक उक्ति—शुक्लानि आदित्यानि यजूंषि—से यह स्पष्ट है कि **वाजसनेयि**-शाखा की तथाकथित शुक्लता 'आदित्य'—प्रसूत है, यजुर्वेद के शुद्धाशुद्ध अपिवा व्यक्ताव्यक्त दो संस्करणों के संशयित भेद पर आधारित नहीं। Cf. Keith: HOS 18, Lxxx ff.

२ प्राचीन भारतीय यज्ञों को अन्न-सत्र तथा सोम-सत्र दो प्रमुख श्रेणियों में बांटा जा सकता है। पशुमेध का तथा अग्नि-पूजा का सम्बन्ध दोनों प्रकार के ही यज्ञों से है।

३ पुरुषमेध-सम्बन्धी विवेचन के लिए Oldenberg(*Religion des Veda*, 2nd ed., 362 ff), Keith (HOS, 18, xxxcviii), Hillebrandt (*Retualliteratur*, Grundriss III 2, pp. 153) देखिये।

४ Hillebradnt (*ibid*, 97-166), Oldenberg (*ibid*, 537, 474), E. Hardy (*Die Vedische-brahmanische periode der Religion des alten Indiens*, Munster; W., 1893, 154 ff.), and Keith (HOS, 18, ciii ff.).

५ **वाज०** ४.१; ६.१२; २.१४; १.१; ३.९; १०.२३.

६ **वाज०** १.३०; ४.१०; ५.१; ६.३०.

७ **वाज०** ५.२; **शतपथ** ३.४.१.२. ff, ८.५.२.१.
Cf. Wever : *Ind. Stud.*, 8, 1863, 8 ff. 24 ff.

८ ILC, 133 f.

९ ILC, 122.

१० Cf. Ludwig: *Der Rigveda*; Rud Kaegel : *Geschichte der deutschen Literatur* I, 1, 1894, p. 5, 54 ff.

ब्राह्मण ग्रन्थ[1]

काल-क्रम की दृष्टि से और विषय-वस्तु महत्त्व की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों का स्थान वेदों के बाद आता है। मैक्समूलर ने कभी कहा था : "साहित्यिक दृष्टि से ब्राह्मणों का भले ही कुछ महत्त्व हो तो हो, सामान्य पाठक के लिए उनका महत्त्व कुछ बहुत नहीं। ब्राह्मणों का अधिकांश थोथी बकवास है; लेकिन इस बकवास को धर्म का नाम नहीं दिया जा सकता। जिस व्यक्ति को भारतीय मनोविकास के विकास में ब्राह्मणों का स्थान क्या है—इसका कुछ पूर्व ज्ञान न हो, वह इनके दस पृष्ठ पढ़ कर ही ऊब जाएगा।"[2]

यह बात शायद यजुर्वेद के सम्बन्ध में अधिक सचाई के साथ कही जा सकती है। यजुर्वेद के अध्ययन में अपना कोई आकर्षण नहीं है। किन्तु, साथ ही सचाई यह भी है कि भारतीय दर्शन-एवं-धर्म के 'एक सर्वांगीण परिचय' के लिए ही नहीं, तुलनात्मक धर्म-विज्ञान की संगति के लिए भी—यजुर्वेद की उपेक्षा नहीं की जा सकती, न ही ब्राह्मणों की। यदि यजुर्वेद की संहिताएं प्रार्थना-विधि के इतिहास पर प्रकाश डालती हैं तो, उसी प्रकार, ये ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञों और पुरोहित-प्रणाली के इतिहास को विस्पष्ट करने वाले प्रायः एकमात्र प्रमाण-स्रोत हैं।

'ब्राह्मण' शब्द का मूल अर्थ यज्ञ-विज्ञान के (किसी प्रामाणिक आचार्य द्वारा) सन्दिग्ध स्थलों की व्याख्या होता था। समय बीतने पर ऐसी व्याख्याओं को संगृहीत करके एक सम्पूर्ण-यज्ञ-परक ग्रन्थ को भी गौण रूप से ब्राह्मण नाम दे दिया जाने लगा। (यद्यपि यह सच है कि आज ब्राह्मणों का अधिकांश शायद सीधे रूप में यज्ञों की प्राचीन प्रणाली से सम्बद्ध न हो, क्योंकि—ब्राह्मणों में तरह-तरह के आख्यान और सृष्टि-उत्पत्ति के प्रसंग भी तो है; किन्तु इससे भी कोई इन्कार नहीं कर सकता कि इन कथानकों, अख्यानकों की उद्भव-भूमि ये यज्ञ ही थे)। ब्राह्मणों का मुख्य विषय **वाजसनेयि-संहिता** में आये महासत्र ही हैं और, इसी लिए, विविध यज्ञों-उत्सवों के प्रकरण में किन मन्त्रों, मन्त्रांशों, वैदिक प्रकरणों का प्रयोग होना चाहिए—इस सम्बन्ध में भी, कहीं संकेत रूप में तो कहीं पूर्ण रूप में, ब्राह्मणों में निदश मिलते हैं। और, प्रकरण से ही, कहीं-कहीं इन ब्राह्मण ग्रन्थों के रचयिता उत्सव की प्रक्रियाओं और मन्त्रांशों को युक्तियुक्त सिद्ध करने के लिए उनकी सांकेतिक व्याख्या भी कर देते हैं। जहां-कहीं मतभेद उठ खड़ा होता है सामान्य प्रवृत्ति वहां पक्षपातिनी हो जाया करती है, अर्थात्—एक मत का समर्थन करते हुए अन्य मतों का तिरस्कार (मात्र एक वैदिक पद्धति नहीं है)। कहीं-कहीं यह मतभेद

—देशभेद अपिवा अवस्थाभेद के अनुसार—अनुमत भी होता है। कुछ हो, और बातें छूट जाएं तो छूट जाएं, किन्तु—छोटे-से-छोटे याज्ञिक प्रसंगों में भी पुरोहित की दक्षिणा क्या हो ब्राह्मण लोग यह बताना कभी नहीं भूल सकते; और, साथ ही, इस बात पर भी प्रकाश डालना वे कभी नहीं भूलते कि यजमान की उदारता उसे, इह लोक में और परलोक में, क्या-क्या फल ला सकती है। इस प्रकार, यदि विज्ञान शब्द के प्रयोग पर धार्मिक-साहित्य के प्रकरण में कोई आपत्ति न हो, तो ये ब्राह्मण-ग्रन्थ यज्ञ-विज्ञान के प्राचीन पुस्तक हैं। पुराने समय में कितने ही ब्राह्मण (ग्रन्थ) उपलब्ध थे। भारतीयों में ऐसी परम्परा भी है और, स्वयं ब्राह्मणों में, एतद्विषयक उक्तियां भी हैं। खैर, जितने ब्राह्मण-ग्रन्थ अवशिष्ट रह गये हैं वे भी कुछ कम नहीं; किन्तु इनका सही अर्थ समझने के लिए भारतीय साहित्य में उनका स्थान पहले निश्चित करना होगा, क्योंकि—हर ब्राह्मण-ग्रन्थ चारों वेदों में से किसी एक वेद के साथ ही सम्बद्ध है (और वेदों की भी किसी एक ही शाखा के साथ)। ब्राह्मणों की व्याख्यानात्मक प्रवृत्ति का पूर्वाभास हम **कृष्ण यजुर्वेद** के प्रसंग में ऊपर देख आए हैं जहां मन्त्रों तथा मन्त्रांशों के साथ यज्ञ के उद्देश्य और अर्थ पर विचार-विनिमय भी साथ-ही-साथ उल्लिखित मिलता है। यजुर्वेद के ऐसे स्थलों को हम ब्राह्मण नाम दे भी सकते हैं, और सच तो यह है कि यज्ञ के सम्बन्ध में इन्हीं प्रथम संकेतों को लेकर ही, आगे चलकर, ब्राह्मण ग्रन्थों की स्वतन्त्र रचना हुई और कुछ समय बाद हर वैदिक सम्प्रदाय का अपना ब्राह्मण होना चाहिए—ऐसा भी आवश्यक समझा जाने लगा। यही कारण है कि ब्राह्मणों की संख्या इतनी विपुल है, और यही कारण है कि परतर वैदिक साहित्य का कितना ही अंश सही अर्थों में ब्राह्मणों न होते हुए भी ब्राह्मण कहलाता है। उदाहरणतया—सामवेद से सम्बद्ध ब्राह्मण ग्रन्थों की शृंखला, और अथर्ववेद से सम्बद्ध **गोपथ ब्राह्मण,** ब्राह्मण न हो कर **वेदांग** अधिक है। गोपथ सम्भवत: ब्राह्मण-ग्रन्थों में अर्वाचीनतम योग है, और स्वयं वेद-ज्ञानी ब्राह्मण हमें बताते हैं कि—शुरू-शुरू में अथर्ववेद का कोई ब्राह्मण ही नहीं था लेकिन पीछे चलकर यह खाना-पूरी आवश्यक समझी गई।

प्राचीन ब्राह्मणों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण ब्राह्मणों का विवरण इस प्रकार है:—

ऋग्वेद का अपना ब्राह्मण है—**ऐतरेय,** जो ४० अध्यायों में विभक्त है। पांच-पांच अध्यायों को मिलाकर सम्पूर्ण पुस्तक के आठ पंचक बनते हैं। ऐतरेय का परम्परागत 'लेखक' महीदास (ऐतरेय) सम्भवत: ग्रन्थ का सम्पादक था। ऐतरेय ब्राह्मण का मुख्य विषय सोम, याग, अग्निहोत्र तथा राजसूय सत्र हैं। अन्तिम १० अध्याय प्राचीन समय से प्रक्षिप्त माने जाते हैं।

ऐतरेय से बड़ा निकट सम्बन्ध ऋग्वेद के **कौशीतकी** (अथवा **शांखायन**) ब्राह्मण का है जिसके ३० अध्यायों में प्रथम छः अध्याय अग्निचयन, अग्न्याधान, दर्श, पूर्णमास आदि हव्य-यज्ञ परक हैं तो ७-३० प्रायः ऐतरेय के अनुकरण पर ही सोम-परक हैं। दोनों ब्राह्मणों में भेद इतना ही है कि—जहां ऐतरेय के सम्पादन में केवल महीदास का ही हाथ नहीं रहा—कौशीतकी के क्रम में, अलबत्ता, संगति एक-ही है।

सामवेद का अपना ब्राह्मण है—**ताण्ड्य महाब्राह्मण** (अथवा **पंचविंश**), जिसके २५ अध्याओं में ब्राह्मणों के सम्भवतः प्राचीनतम आख्यान संगृहीत हैं। इन आख्यानों में व्रात्यस्तोम यज्ञों का आकर्षण अपना ही है, क्योंकि—इनके द्वारा व्रात्यों को ब्राह्मण धर्म में पुनः-प्रविष्ट होने का अधिकार होता था।[३] एक और ब्राह्मण भी सामवेद का मिलता है जो पंचविंश का पूरक होने के नाते **षड्विंश** कहलाता है। षड्विंश के अन्तिम भाग में चमत्कारों पर और शकुनों पर एक 'वेदांग-सूत्र' ग्रथित है जिसे स्वतन्त्र रूप में **अद्भुत ब्राह्मण** संज्ञा दे-दी गई है। एक तीसरा ब्राह्मण जो शायद ताण्ड्य से भी अधिक प्राचीन है, धर्म और गाथाओं के इतिहास की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है; किन्तु, इसके अभी तक कुछ अंश ही उपलब्ध हो सके हैं।

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मण है—**तैत्तरीय**, जो वस्तुतः तैतरीय संहिता का ही उत्तर-विकास है। कृष्ण यजुर्वेद में जहां-तहां पड़ी व्याख्याओं को लेकर ही यह ब्राह्मण पल्लवित हुआ और—क्योंकि इसमें केवल **पुरुषमेध** का ही वर्णन मिलता है, इससे भी—हमारा अनुमान पुष्ट हो जाता है कि संहिता भाग में **पुरुष-मेध** को यज्ञ-विद्या के परतर विकास द्वारा ही वेद का अन्तरंग कभी किया गया था।

शुक्ल यजुर्वेद का ब्राह्मण सम्भवतः सम्पूर्ण ब्राह्मण वाङ्मय में सर्वाधिक महत्त्व-पूर्ण ब्राह्मण है। ब्राह्मण का नाम है—**शतपथ**[४] क्योंकि उसमें १०० अध्याय हैं। बड़ा-ही विपुल ग्रन्थ है और, वाजसनेयि संहिता के दो भेदों की तरह, इस के भी **काण्व** तथा **माध्यन्दिन** संस्करण मिलते हैं। माध्यन्दिन में इन सौ अध्यायों को पुनः १० कण्डिकाओं में विभक्त कर दिया गया है। प्रथम कण्डिकाओं में वाजसनेयि संहिता के प्रथम १८ अध्यायों की अविकल व्याख्या है, और यही भाग सम्भवतः शतपथ का प्राचीनतम (मूल) भाग है। प्रथम कण्डिकाओं की परस्पर-संगति विशेषतः और-भी सुश्लिष्ट है; इसीके सम्बन्ध में याज्ञवल्क्य की प्रामाणिकता सिद्ध हो सकी है, यद्यपि स्वयं शतपथ में १४वीं कण्डिका में जाकर ही, कहीं, उसे सम्पूर्ण ब्राह्मण का कर्त्ता उद्घोषित किया गया है। किन्तु प्रश्न उठता है ६-९ कण्डिकाओं में, अग्निचयन के प्रकरण में, याज्ञवल्क्य का स्मरण छूट कैसे गया। जहां,

प्रत्युत, शाण्डिल्य को प्रामाणिक आचार्य के रूप में स्वीकृत भी कर लिया गया है! यही नहीं, इसी शाण्डिल्य को पुनः कण्डिका १० में **अग्नि-रहस्य** का प्रवक्ता उद्घोषित किया गया है। साथ ही साथ यहां यह बताना भी अप्रासंगिक न होगा कि अध्याय ११-१४ में कितने ही ऐसे विषयों—यथा उपनयन, वेदारम्भ, स्वाध्याय, अन्त्येष्टि, वेदि-निर्माण आदि—की विस्तृत चर्चा मिलती है जिनका संकेत स्पष्ट है कि यह भाग 'मूल' शतपथ के परिशिष्ट हैं। १३ वीं कण्डिका का विषय है—**अश्वमेध, पुरुषमेध,** तथा **सर्वमेध।** और १४ वीं कण्डिका का विषय है—**प्रवर्ग्य**। और अन्त में इस महान् ग्रन्थ की मूर्धा पर सम्पूर्ण उपनिषद्—वाङ्मय की मूर्धन्य उपनिषद् **बृहदारण्यक** की मूर्ध्नि-स्थिति परिनिष्ठित की गई है।

विभिन्न वेदों से सम्बद्ध विभिन्न ब्राह्मणों में परस्पर अन्तर याज्ञिक प्रक्रिया के विधि-विधान का ही मौलिक अन्तर पाया जाता है: **ऋग्वेद** के ब्राह्मण में **होता** के लिए ऋचाओं का पाठ करने के सम्बद्ध में निर्देश हैं, तो **सामवेद** के ब्राह्मण **उद्गाता** के पथप्रदर्शक हैं, **यजुर्वेद** के—**अध्वर्यु**-सम्बन्धी क्रिया-कलापों पर प्रकाश डालते हैं। अन्यथा, सभी ब्राह्मणों में मौलिक विषय प्रायः एक ही हैं और उन विषयों का विवेचन भी प्रायः एक ही प्रकार से हुआ है। कुछ शतियों का एक विशेष युग ही था जिसमें ब्राह्मण-वाङ्मय की उत्पत्ति हुई, और विकास हुआ। और यदि स्वयं ब्राह्मणों में ही संकलित **वंश**[1] परम्पराओं पर हम अविश्वास न करें, तो—इन उपाध्यायों, आचार्यों की करीबन ६० पीढ़ियों के लिए एक हजार साल पर्याप्त प्रतीत नहीं होते। इन वंश-कथाओं का मुख्य उद्देश्य यज्ञ-विधान की प्राचीन परम्परा को ब्रह्मा, प्रजापति, सूर्य आदि देवताओं तक ले जाना प्रतीत होता है; फिर भी कुछ नाम इन सूचियों में स्पष्ट ही एतिहासिक (पुरखों के) हैं जिन्हें काल्पनिक कह कर जान नहीं छुड़ाई जा सकती; और ब्राह्मणों में स्वयं जिन आचार्यों को प्रमाण रूप में उद्धृत किया गया है वे इन वंशावलियों से 'पृथक्' जीते-जागते पुरुष ही थे—जिससे सिद्ध यह होता है कि इन ग्रन्थों का सम्पादन-संकलन प्रायः यज्ञ-विद्या के प्रारम्भिक दिनों से ही परम्परित-सुरक्षित चला आता है, और—स्वयं यज्ञ-विद्या के विकास के लिए भी तो शतियों की अवधि चाहिए।

किन्तु, यदि हमसे कोई पूछे कि ब्राह्मण वाङ्मय के विकास को निश्चित तिथि क्या दी जा सकती है तो हमें मानना ही पड़ेगा कि हमारा उत्तर ब्राह्मणों के सम्बन्ध में उतना ही अनिश्चयात्मक है जितना कि स्वयं संहिताओं के सम्बन्ध में। निश्चय रूप से तो बस हम इतना ही कह सकते हैं कि ऋग्वेद के सूक्तों का युग पर्याप्त प्राचीन हो चुका था जब यज्ञों, मन्त्र-तन्त्रों की नई विद्या का जन्म हुआ।

सम्भवतः यह भी निश्चित है कि **अथर्ववेद** और **यजुर्वेद** के मन्त्र तन्त्रात्मक वाङ्मय का अधिकांश, एवं सामवेद की गीतियों को अधिकांश, ब्राह्मण ग्रन्थों के ऊहापोह से एक पर्याप्त पूर्वतर वस्तु है। दूसरी ओर यह भी सम्भव प्रतीत होता है कि अथर्ववेद के जादू-टोनों तथा यज्ञ-परक संहिताओं को अन्तिम रूप में सम्पादित प्रायः ब्राह्मण-युग के प्रारम्भ में ही किया गया और, इस दृष्टि से, इन वैदिक अंशों तथा ब्राह्मण वाङ्मय के पूर्वांश परस्पर समकालीन भी हो सकते हैं। कम-से-कम भौगोलिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों का संकेत स्पष्ट है कि अथर्ववेद और यजुर्वेद की, और साथ-ही ब्राह्मण ग्रन्थों की, स्थिति ऋग्वेद के काल और युग से बहुत-दूर पड़ती है। **अथर्ववेद** के समय तक, जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं, ऋग्वेद की मूल-भूमि (**सिन्धु** देश) में विचरने वाले आर्य लोग **गंगा** और **यमुना** की अन्तर्भूमि तक ैल चुके थे। **यजुर्वेद** की संहिताओं में तथा ब्राह्मणों में जिस **आर्यावर्त्त** का उल्लेख हम पाते हैं वह महाभारतकालीन **कुरुओं** तथा **पांचालों** का देश है। उन दिनों भी कुरुक्षेत्र धर्मक्षेत्र बन चुका था और देवता यज्ञ की आहुतियां लेने स्वयं वहां अवतरित हुआ करते थे। **सरस्वती** तथा **दृषद्वती** के बीच में अवस्थित यह पवित्र भूमि गंगा तथा यमुना के पश्चिम में सदियों से चली आती है जबकि पांचाल लोग, कुरुओं के ही पड़ोस में, उसी गंगा-यमुना प्रदेश के उत्तर-पश्चिम तथा दक्षिण पूर्व में कुछ दूरी पर बसते थे। देहली से लेकर मथुरा तक फैले हुए गंगा-यमुना के इस दो-आब का ही पुराना नाम **ब्रह्मावर्त्त** था जो सम्पूर्ण भारतवर्ष के लिए स्मृतियों में आदर्शरूप में अभिपूजित है और भरत-भूमि का यही भाग मूलतः—यजुर्वेद की संहिताओं और ब्राह्मणों का ही नहीं, अपितु—सम्पूर्ण ब्राह्मण धर्म एवं संस्कृति का मूल-स्थान है—जहां से आर्य संस्कृति का उत्तरोत्तर विकास आगे चल कर भारत के उत्तर में, और नीचे दक्षिण की ओर, क्रमशः होता गया।

धार्मिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में भी **ऋग्वेद** के समय से पर्याप्त अन्तर आ चुका है। ऋग्वेद के देवताओं की स्तुति यद्यपि **यजुर्वेद** की संहिताओं—में, तथा ब्राह्मणों में, अब भी होती है—जिस प्रकार कि अथर्ववेद में होती ही आ रही थी, किन्तु उनकी मौलिक महिमा अब कुछ नहीं रह गई : उनमें जो कुछ प्रभावकता है, आज, वह सब यज्ञ-मूलक है। यही नहीं—विष्णु, रुद्र, शिव आदि जो देवता ऋग्वेद के दिनों में बहुत गौण थे, उनका महत्त्व इन यज्ञपरक संहिताओं में तथा **ब्राह्मण वाङ्मय** में बहुत बढ़ चुका है। यजुर्वेदीय दृष्टिकोण में **प्रजापति** ही देवाधिदेव भी है असुरों का अधिपति भी। ऋग्वेद में **असुर** कुछ सारगर्भित शब्द था और प्रायः उसकी अद्भुत शक्तियों का अधिष्ठान वरुण को ही समझा जाता था; किन्तु यहां —लौकिक संस्कृत की भांति—ब्राह्मणों में भी न केवल उसका शब्दार्थ 'दैत्य' हो गया है अपितु आये-रोज देवों और असुरों में संग्राम छिड़ जाते हैं। एक बात बड़े

आश्चर्य की यह है कि इन देवासुर-संग्रामों में वह पुरानी भयावहता नहीं जो ऋग्वेद के इन्द्र और वृत्र के बीच में हुए युद्धों में हुआ करती थी; यहां तो यज्ञ की शक्ति द्वारा सम्पन्न हो कर देव और असुर परस्पर स्पर्धा में रत हैं; और कुछ नहीं। देवताओं को भी यदि कुछ सिद्धि प्राप्त करनी इष्ट होती है तो उन्हें भी 'तदर्थ' यज्ञ में निपुणता प्राप्त करनी होती है। यज्ञ-प्रक्रिया का महत्त्व, फल-प्रदता में, सभी सांसारिक साधनों से बढ़-चढ़ कर है। ये यज्ञ, साधन ही नहीं, परम सिद्धि हैं। यज्ञ के द्वारा प्रकृति की अन्तःशक्तियों पर प्रभुता प्राप्त की जा सकती है और ब्राह्मणों में स्थान-स्थान पर 'यज्ञ ही प्रजापति है।' इस प्रकार की घोषणा की भी गई है, जब कि अन्यत्र कहा है कि—यज्ञ प्राणिमात्र की, देवाधिदेवों की, आत्मा है; जो यज्ञ का पुजारी हो जाता है वह स्वयं यज्ञमय हो जाता है, सर्वात्म हो जाता है और, इस प्रकार, यज्ञ-प्रक्रिया को सम्पन्न करते हुए वह सम्पूर्ण सृष्टि का स्रष्टा बन जाता है (शतपथ ३. २. १, ३. ६. ३. १)! यज्ञ ही नहीं, यज्ञ से सम्बद्ध सभी वस्तुओं में—यज्ञ-पात्र, मन्त्र-मन्त्रांश, छन्द, गीत, लय, सभी में—कुछ अद्भुत शक्ति विद्यमान मानी गई है। यज्ञ की छोटी-से-छोटी क्रिया को बड़ी सूक्ष्मता के साथ निभाना होता है, एक बाल भी इधर-उधर हो गया तो आशंका बनी रहती है। कौन-सी प्रक्रिया दाएं हाथ से कीजिए, कौन-सी बाएं हाथ से, यज्ञ-पात्र को वेदि के किस किनारे रखा जाए, कुशाओं को उत्तराभिमुख स्थापित किया जाए या उत्तरपूर्व की ओर, पुरोहित अग्नि के सम्मुख हो कर यज्ञशाला में होकर आता है या पीठ-पीछे से, उसका मुख किस ओर है, पुरोडाश को कितने भागों में विभक्त किया गया है, घी की आहुति अग्निकुण्ड के मध्य में पड़ती है या उत्तर या दक्षिण की ओर, किसी मन्त्र अथवा गान-पंक्ति की आवृत्ति किस स्थल पर की जानी चाहिए—इन सब यज्ञांगों पर प्राचीन मनीषियों ने वर्षों चिन्तन किया था जिसका वैज्ञानिक रूप निहायत सूक्ष्मता के साथ इन ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रस्तुत है। इन्हीं के अन्तर्बोध पर यजमान तथा ब्रह्मा का पार्थिव सुख निर्भर करता है। "सचमुच, यज्ञ के अंग-अंग कितने दुरूह एवं दुर्गम हैं कि शीघ्र-से-शीघ्र रथ पर सवार हो कर भी उसके शिखर तक पहुंच सकना मुश्किल नजर आता है; और यदि यज्ञ-विद्या को जाने बिना कोई व्यक्ति यज्ञ करने बैठ जाता है, तो—भूख, प्यास, दुष्ट और चुड़ैलें उस पर उसी प्रकार टूट पड़ती हैं जैसे जंगल में भटकते मुसाफिरों पर भूत-प्रेत। किन्तु यज्ञ-विद्या को प्रथम अधिगत कर के यज्ञ-प्रणाली में कूदा जाए तो देवता स्वयं, आप से आप, ऐसे यज्ञ-कर्त्ता के सहायक बन आते हैं, उसे एक के बाद दूसरे सुखतर लोक की ओर—स्वर्ग की ओर—ले जाते हैं!" (शतपथ १२. २. ३. १२)

'जो भी जानता है कि यह वर्णन यज्ञ तथा यज्ञकर्त्ता के प्रसंग में शायद

ही कभी ब्राह्मण-ग्रन्थों में भुलाया जा सका हो—वर्ण-व्यवस्था तब तक अपने सूक्ष्म-तम भेदों में छिन्न-भिन्न हो चुकी थी और यहां ब्राह्मणों में, जैसे कि कुछ हद तक पहले अथर्ववेद में—वह यह भी जानता है कि ब्राह्मण-जाति के दावे अब बहुत बढ़ चुके हैं, वे भू-देव (तैत्तिरीय संहिता १.७.३.१) ही नहीं एक-मात्र देव हैं :—

> **"देवता दो प्रकार के होते हैं, एक तो आसमानों के देवता, दूसरे पृथ्वी के देवता। ये पृथ्वी के देवता हमारे ब्राह्मण ही हैं जो स्वाध्याय द्वारा देवपद पर जा-पहुंचे हैं। और इसी लिए यज्ञ के 'उपाहरण' को भी दो भागों में विभक्त किया जाता है : आहुतियां आसमान के देवताओं के लिए और दक्षिणा धरती के देवताओं के लिए। इस प्रकार दोनों देवताओं को सन्तुष्ट कर के ही मनुष्य स्वर्ग के सुखों का अधिकारी बन सकता है।" (शतपथ २. २. २. ६, ४. ३. ४. ४)**

ब्राह्मण के ये चार कर्तव्य बताए गए हैं : ब्राह्मण कुल में जन्म, तदनुसार कुलीन आचरण, यशस्विता, तथा यज्ञादि विनियोग द्वारा साधारण जनों में परमतत्त्व का कुछ दैवी अंश आहित करने में रति। दिव्यांश से युक्त ये **साधारण जन** कुछ अंशों में स्वयं ब्राह्मण बन जाते हैं और उनके **कर्त्तव्य** भी (ये) चार ही होते हैं : ब्राह्मणों का सत्कार करना, योग्य पात्रों को दान देना, किसी का दमन न करना, किसी भी प्राणी की हिंसा न करना। राजा को भी यह **अधिकार** नहीं कि वह ब्राह्मण की सम्पत्ति को छू सके और यदि किन्हीं परिस्थितियों में सम्पूर्ण विभूति-सम्भूति से भरी यह पृथ्वी ही उठाकर कोई राजा किसी भिखारी को दान देने पर उतर आए, उस अवस्था में भी, वह **ब्राह्मण धन** को नहीं छू सकता। ब्राह्मण को कष्ट देना राजा की शक्ति में तो है, किन्तु—ऐसा करने से उसे फल बुरा मिलता है। राज्याभिषेक के समय पुरोहित प्रजा के सम्मुख आकर दिखलाता है कि "हे मनुष्यो!—यह व्यक्ति आज से तुम्हारा राजा है, किन्तु—हम ब्राह्मणों का राजा सोम है।" इसी स्थल के सम्बन्ध में **शतपथ** ब्राह्मण (९. ५. ७. १; १३. ५. ४. ३४; १३. १५. ४; ५. ४. २. ३) में उद्धृत है कि इस मन्त्र द्वारा वह सम्पूर्ण राष्ट्र को (करादि के नियम से) राजा के लिए उपभोज्य बना देता है, किन्तु—ब्राह्मण स्वयं इस उपभोग-सम्पदा के सदा बाहर ही रहता है, क्योंकि—ब्राह्मणों का राजा भू-पति नहीं, दिवस्-पति सोम है।" ब्रह्महत्या को ही एकमात्र हत्या, अथवा परमहत्या, भारत में माना जाता है। यदि एक ब्राह्मण में और किसी अन्य वर्ण के व्यक्ति में लड़ाई छिड़ जाए तो न्याय को भी ब्राह्मण की ही तरफदारी करनी चाहिए—ऐसा वेदों का आदेश है (शतपथ १३. ३. ५. ३. तैत्तिरीय-संहिता २. ५. ११. ७)। ब्राह्मणों से लड़ाई मोल लेना खालाजी का घर नहीं। कोई भी वस्तु अभोज्य क्यों न हो, अस्पृश्य क्यों न हो, किसी भी कारण

से हेय क्यों न हो—जैसे पत्थर या किसी मरे आदमी के बर्तन या अग्निहोत्र के लिए सुरक्षित गाय (जो बीमार पड़ चुकी हो या, स्वभाव से, जिद्दी हो)—ब्राह्मण **को दान** करने से उसका कोई बुरा असर नही पड़ता—ब्राह्मण की पाचन शक्ति उससे बिगड़ नहीं जाती (तै० सं० २. ६. ८. ७) ![७]

ऐसे उद्धरणों में, आखिर में, एक निष्कर्ष भी निकाला गया है कि एक पार्थिव देवता स्वर्गीय देवताओं की तुलना में उनका निकटवर्ती ही नहीं बन जाता, अपितु —देवताओं से कुछ ऊपर ही अपना स्थान बना लेता है ! **शतपथ** में एक स्थान (१२. ४. ४. ६; मनु० ११. ३१७, ३१९) पर कहा है कि **ब्राह्मण देवता,' ऋषियों का अवतार है, वह देवता स्वरूप है, सभी देवता उसमें समा चुके हैं।** ब्राह्मण का अपने ही विषय में इतने बढ़े-चढ़े दावे पेश करना (जिसका पूर्वाभास हम ब्राह्मण ग्रन्थों में पाते हैं) सांस्कृतिक इतिहास में पुरोहित के अहंकार का जीता-जागता प्रतीक तो है ही, साथ ही प्राचीन-भारत की पतितात्मा का वह घृणित पूर्व रूप भी है जिसे हम इन्डो-यूरोपियन चेतना में निविष्ट पाते हैं। उदाहरणार्थ—हिब्रू कवि जब कहता है: 'इन्सान में आखिर वह क्या चीज है जिससे आकृष्ट हो कर तू उसे, समय समय पर, दर्शन देता रहता है—इन्सान तो एक नाचीज है'; और जब ग्रीक कवि के इसके विपरीत उद्गार हैं कि 'दुनिया शक्ति का भण्डार है और—सांसारिक शक्तियों में सबसे अधिक महस्विनी शक्ति मनुष्य है', या फिर जब जर्मन कवि, 'अति-मानव' की कल्पना करता हुआ, अध्यात्म-लोक के दरवाजे खटखटाता है और प्रणव का गीत गाते हुए अभिमान पूर्वक कहता है :

'तुम से भी कम्बख्त,
ऐ देवताओ,
इस दुनिया में कोई चीज़ है ?'

यह—वही प्राचीन भावना ही तो दूसरे शब्दों में अर्पित है जो ब्राह्मण-ग्रन्थों में यज्ञ-शक्ति द्वारा सम्पन्न हो कर भू-देवों ने पार्थिव जीवन का अंग बना ली है—वही शक्ति जिसे (**महाभारत** तथा **रामायण** में) तपोधनों ने अधिगत करके देवताओं के सिंहासनों को डांवां-डोल कर दिया था ! बौद्ध धर्म में तो ये देवता बड़ी-ही उपहासास्पद स्थिति में जा गिरे हैं : इन्द्र आदि की अपनी कुछ शक्ति नहीं, और साधारण मनुष्यों और देवताओं में यदि कुछ अन्तर है भी तो बस यही कि—देवताओं के पास सुविधाएं कुछ अधिक हैं, किन्तु ये सुविधाएं भी उनकी तभी तक ही बनी रहती हैं कि जब तक उनकी बुद्ध-पूजा में कोई कसर नहीं आ जाती। स्वयं बुद्ध का आसन देवताओं के सातवें आसमान से कहीं बहुत दूर है—किन्तु उसे भी (कोई-भी) साधारण जन प्राणिमात्र के प्रति प्रेम के द्वारा, त्याग की उत्कट भावना द्वारा—अर्हत होकर—पा सकता है ![८]

ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार **'बौद्ध' क्रान्ति के बीज** निहित हैं, क्योंकि—मूल ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय में यह सन्देह कभी हुआ ही नहीं कि उनका रचना-काल बुद्ध से पूर्व है— ब्राह्मण ग्रन्थों में बौद्ध-धर्म से तनिक भी परिचय का उल्लेख नहीं मिलता जब कि बौद्ध-धर्म के विवेचन में, पगपग पर, सम्पूर्ण ब्राह्मण वाङ्मय का होना स्वत:सिद्ध-सा प्रतीत होता है। सो, यज्ञपरक संहिताओं तथा सम्पूर्ण ब्राह्मण वाङ्मय के उत्पत्ति काल को हम—ऋग्वेद की सूक्तियों के अनन्तर तथा बौद्ध धर्म के पूर्व—बिना किसी हिचक के स्थापित कर सकते हैं।

अब जरा ब्राह्मण ग्रन्थों के विषय एवं अन्तरंग से भी कुछ परिचय प्राप्त कर लिया जाए। भारतीय परम्परा स्वयं ब्राह्मणों को **विधि तथा अर्थवाद** दो अंशों में विभक्त करती है। विधि का अर्थ है—'नियम' और, उसी प्रकार, अर्थवाद का अभिप्राय होता है—'नियम की व्याख्या'। और यही क्रम हम ब्राह्मणों में पाते भी हैं—पहले यज्ञ के विविध अंगों के सम्बन्ध में कुछ नियम दे दिये जाते हैं और, उसके अनन्तर, इन याज्ञिक प्रक्रियाओं एवं निवेदनों का अभिप्राय क्या था यह समझाने का प्रयत्न किया जाता है। उदाहरणतया—**शतपथ** ब्राह्मण का आरम्भ दर्श तथा पूर्णमास से पूर्व उपवास की विधि से आरम्भ होता है (जिसके सम्बन्ध में नियम इस प्रकार है):—

> **"उपवास का इच्छुक व्यक्ति आहवनीय तथा गार्हपत्य अग्नियों के बीच में खड़ा हो कर, पूर्वाभिमुख हो कर, जल का स्पर्श करे। यह आचमन इसलिए आवश्यक है कि मनुष्य—असत्यवादिता से अर्जित पाप को पहले धो ले, तभी—यज्ञ के योग्य बनता है। पवित्रता लाने की यह शक्ति जल में स्वत:सिद्ध है। इसीलिए उपवास शुरू करने से पूर्व मुंह-हाथ धोकर भक्त यह जप भी करता चलता है कि 'जल की पावन धाराओं द्वारा पूत हो कर ही मैं अब यज्ञ-विधान का अधिकारी बन रहा हूं'।" (शतपथ १. १. १. १)**

कभी-कभी तो कर्मकाण्ड के सम्बन्ध में किसी प्रश्न पर आचार्यों के विभिन्न मत भी उद्धृत कर दिये जाते हैं। यज्ञ में दीक्षित होने से पूर्व, अथवा किसी भी तप में आहुत होने से पूर्व, उपवास आवश्यक है या नहीं—इस सम्बन्ध में **शतपथ** १. १. १. १. ७-१० में यह उद्धृत है:

> **"अब जरा उपवास के सम्बन्ध में भी कुछ चर्चा कर लें। आषाढ सावयस का इस सम्बन्ध में कहना है कि उपवास स्वयं ही तप है, तप का अंग नहीं: क्योंकि—उनकी युक्ति थी कि—देवता तो पहले से ही मनुष्य के हृदय को जान चुके होते हैं सो उन्हें पहले से ही पता होता है कि कल यह तपोधन हमें प्रातःकाल में ही आहुति देने वाला है; सो, देवता-जन (आषाढ़-सावयस का कहना है) उस गृहस्थ के घर स्वयं आ जाते हैं और उसके निकट**

(या उसकी यज्ञशाला के निकट) रहने लग जाते हैं, (मक्खियों की तरह) मंडराने लग जाते हैं और—इसीलिए—इसका एक नाम उप-वसथ भी है !

फिर प्रश्न उठाया गया है कि "अतिथियों को खिलाने से पूर्व क्या गृहस्थ स्वयं मुंह मीठा कर सकता है ? और इसी युक्ति से —वह देवताओं को आहुति देने से पूर्व कुछ-भी कैसे खा सकता है ? सो उपवास, इस द्वितीय सम्प्रदाय के अनुसार, अनिवार्य है; जब कि—

"याज्ञवल्क्य का मत इन दोनों के विपरीत कुछ और था : 'सच बात तो यह है कि उपवास करके मनुष्य पितरों का श्राद्ध ही कर रहा होता है; और यदि वह उपवास न करे तो उस पर आक्षेप आ जाता है कि देवताओं को भोग चढ़ाने से पूर्व उसने स्वयं प्रसाद को उच्छिष्ट कर दिया ! इस लिए यजमान को चाहिए—वह जो कुछ खाए ऐसे समय पर खाए कि लोग उसे खाया-हुआ ही न समझें।' क्योंकि दुनिया में ऐसी चीजें भी तो हैं जो आहुति नहीं डाली जा सकतीं (ऐसी चीजों को खा लेने से कोई पाप नहीं आता), और जब ऐसी चीजें खाई जाती हैं तो मनुष्य पर यह लाञ्छन स्वभावतः नहीं आ सकता कि यह देवताओं का पुजारी न हो कर निरा पितृ-पूजक है ! इस प्रकार यज्ञ-विधि में दोष नहीं आता; सो, आरण्य ओषधियों और फलों को खाने की, अनुमति, यजमान तथा पुरोहित को 'शास्त्रों द्वारा' मिल चुकी है—ऐसा ही समझना चाहिए।" (शतपथ ६. १. १. २)

जिस प्रकार ऊपर 'उपवसथ' की व्युत्पत्ति का निदर्शन आया है ब्राह्मण ग्रन्थों में **व्युत्पत्ति-परता** जैसे एक प्रवृत्ति ही बन चुकी है। व्युत्पत्ति यदि कुछ अस्पष्ट हो तो और भी अच्छा, क्योंकि—'देवताओं को परोक्ष वस्तु से ही ज्यादह प्यार होता है'। इस प्रवृत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण **इन्द्र** शब्द है: इन्द्र का मूल है √इन्ध् (प्रज्ज्वलित करना): अर्थात्—'तेजोमय पुरुष'। किन्तु इन्द्र कह कर उसकी तेजोमयता पर जैसे एक झीना आवरण-सा डाल दिया जाता है ! इसी प्रकार उलूखल (ऊखल) का अर्थ समझाते हुए कहा गया है कि इसमें चीज का परिमाण बढ़ाने की (**उरू-करत्** : शतपथ ६. १. १. २, ७. ५. १. २२) शक्ति विद्यमान है। व्युत्पत्ति में कहीं-कहीं तो तादात्म्य-बुद्धि तथा संकेत-बल ब्राह्मणों में इतना आगे बढ़ गया है कि यजुर्वेद के (वे पुराने) उदाहरण बहुत-ही फीके जंचने लगते हैं : और मजा यह है कि इन तुलनाओं में निपट विषम वस्तुओं को सम, संगत, एकीभूत-तद्रूप तक प्रदर्शित कर दिया जाता है ! इस प्रकार की व्याख्याएं ब्राह्मण-ग्रन्थों में, पृष्ठ-पृष्ठ पर, मिलेंगी :—

"और अब वह कुशा को यज्ञाग्नियों के चारों ओर छिड़कता है और, दो-दो करके, यज्ञ-पात्रों को वहां ले जाता है—आवपनी तथा चमस्, काष्ठ

असि तथा घट-कर्पर, शमी तथा कृष्ण मृगचर्म, उलूखल तथा उलूखलदण्ड, चक्की के अधर तथा उत्तर पाषाण—ये सब मिलाकर १० होते हैं : क्योंकि—विराज् छन्द में १० अक्षर होते हैं, और विराज् स्वयं—और कुछ-नहीं—यज्ञ की चकाचौंध ही तो है ! इस प्रकार विराज् तथा यज्ञ एकरूप हो जाते हैं। कोई पूछ सकता है कि यज्ञ की वस्तुओं को वह दो-दो करके क्यों लाता है ? इसके दो कारण हैं : एक तो यह कि दो जनों में शक्ति आप-से-आप द्विगुणित हो जाती है और, दूसरा यह कि 'दो' जनों में, प्रजा उत्पन्न करने के लिए, मैथुन की प्रतीकता भी विद्यमान होती है—इसलिए (शतपथ १. १. १. २२)!

"पुरुष ही यज्ञ है। क्योंकि—पुरुष ही यज्ञ का वितान करता है और पुरुष यज्ञ का उतना ही वितान कर सकता है जितना लम्बा-चौड़ा कि वह स्वयं है। इसी लिए पुरुष को यज्ञ कहते हैं।

"पुरुष-स्वरूप यज्ञ के ही अंग-प्रत्यंग हैं यज्ञ के ये विभिन्न अंगादिक—जूहू, उपभृत् तथा ध्रुवा (आदि चमस्)। चमस् पुरुष-स्वरूप यज्ञ का मेरुदण्ड है और, क्योंकि मेरुदण्ड से ही सम्पूर्ण शरीर प्रसृत हुआ करता है, ध्रुवा से ही उसी प्रकार सम्पूर्ण यज्ञ प्रसृत हुआ करता है। यज्ञ का स्रुव (चमस्) पुरुष का प्राण है जो—अन्दर पहुंच कर—अंग-अंग को, यज्ञ की स्रुचा आदि (चमसियों) को स्पन्दित करता है।

"जुहू पुरुष के फैलाने के लिए—प्रकाश है, उपभृत् अन्तरिक्ष है, ध्रुवा पृथ्वी है। जिस प्रकार पृथ्वी से ही लोक-लोकान्तरों की उत्पत्ति होती है, उसी प्रकार ध्रुवा से ही सब यज्ञ-याग उदित होते हैं।

'स्रुव प्राण है। स्रुव ही लोक-लोकान्तर में बहने वाला पवन है और यज्ञ में स्रुचा आदि अन्यान्य चमसियों तक उसकी पहुंच होती है।" (शतपथ १. ३. २. १–५)

कितने ही स्थलों पर ब्राह्मणों में **यज्ञ को विष्णु अथवा प्रजापति के रूप में** वर्णित किया गया है, और कितने ही अन्य स्थलों पर **संवत्सर** को प्रजापति से एकरूप कर दिया गया है, जबकि कहीं और **अग्नि** को (क्योंकि यज्ञवेदि के निर्माण में प्रायः एक वर्ष निकल जाता है) संवत्सर नाम दे दिया गया है। एक स्थान पर यदि कह दिया अग्नि ही संवत्सर है, और संवत्सर ये लोक-लोकान्तर हैं—तो, उसकी अगली पंक्ति में ही, अग्नि को प्रजापति और प्रजापति को संवत्सर कहने से न चूके। इसी प्रकार एक और जगह प्रजापति को, एक ही साथ, यज्ञ भी कहा गया है संवत्सर भी जब कि—प्रतिपदा की रात्रि को उसके द्वार, तया **चन्द्रमा** को उस द्वार की चिटखनी, के रूप में वर्णित किया गया है (शतपथ ८. २. १. १७-१८; ११. १. १. १) ! ब्राह्मण युग में ऐसे संकेतात्मक वर्णनों का अपना ही महत्त्व

होता होगा, किन्तु शायद आज हम समझ नहीं सकते। एक उदाहरण है:

"चार (पदों) के साथ वह (कुछ भस्म) उठाता है; और इस प्रकार वह उसे (अर्थात् अग्नि को) चतुष्पाद् पशुओं से युक्त कर देता है,--ये पशु ही तो उसका भोजन होते हैं। तीन (पदों) द्वारा वह भस्म को (पानी की ओर) नीचे ले आता है। चार और तीन मिल कर इस प्रकार सात बन जाते हैं और--यज्ञवेदि की सात ही तो परिधियां होती हैं!.... और वर्ष में भी तो सात ही ऋतुएं होती हैं! इस प्रकार--अग्नि ही संवत्सर है जितना व्यापक अग्नि है, उतना व्यापक ही--यज्ञ-याग का सब-कुछ है!" (शतपथ ६. ८. २. ७)

कहीं-कहीं इन शुष्क व्याख्याओं में भी कुछ रस आ जाता है जब ब्राह्मण-वाङ्मय के उस प्राचीन युग की सामाजिक एवं नैतिक परिस्थितियों पर, शायद अनजाने में, उनसे कुछ प्रकाश पड़ जाता है। **सोम-सवन** के प्रकरण में लिखा है कि सोम की ये आहुतियां अग्नि के मुख में पड़ती हैं, अग्नि की पत्नियों के मुख में पड़ती हैं। सोम का यह आहुति-दान, इस प्रकरण में, सोम की अन्यत्र-विहित आहुतियों से कुछ भिन्न होता है, और इस विधि-भेद की व्याख्या करते हुए शतपथ ४. ४. २. १३ में आचार्य का कथन है कि :--

"इसके अनन्तर घृत-शेष को यज्ञ-चमस में डाल कर उसे पुनः सोम में सम्पृक्त कर दिया जाता है। सोम के मिश्रण को इस प्रकरण में कुछ क्षीण बना दिया जाता है, क्योंकि--बात दर-असल यह है कि घृत वज्र-स्वरूप है और, कहते हैं कि, इस घी का वज्र बना कर ही देवता लोग कभी अपनी पत्नियों की पिटाई किया करते थे और इस प्रकार दुर्बल हो कर पत्नियों को परिणामतः न अपनी देह का कुछ परिज्ञान रह जाता न दाय-सम्पद् का। स्त्री पर वही अधिकार प्राप्त करने के लिए यजमान उसी पुरानी विधि का प्रयोग, सोम को क्षीण करने की विधि में, आज भी करता है!"

कर्मकाण्ड में **स्त्री की दुर्बलता एवं दासता** का कारण यह प्रसंग उपस्थित किया गया है, यद्यपि एक और स्थल पर पति-पत्नी के सम्बन्ध का एक रोचक रूप भी प्रस्तुत है[१] : **वाजपेय** यज्ञ के प्रकरण में यजमान एक सीढ़ी ला कर उसे यज्ञ-यूप के साथ खड़ा कर देता है और अपनी पत्नी के साथ तब उस सीढ़ी पर चढ़ना शुरू करता है :

"चलो, हम स्वर्ग की ओर चढ़ चलें। और पत्नी भी कहती है हां, चलो। बात यह है कि पत्नी के बिना पुरुष अधूरा ही होता है और, सन्तान उत्पन्न किए बिना, उसमें पूर्णता आती नहीं--सो अपूर्ण रूप में स्वर्ग पहुंच कर वह करेगा भी क्या?" (५. २. १. १०)

स्वयं **यज्ञवेदि** को ब्राह्मणों में **स्त्री का रूपक** दिया गया है। वेदि-निर्माण के प्रकरण में स्त्री-सौन्दर्य का यह आदर्श, उपमा के व्यपदेश से, उपलक्षित होता है :

> **"वेदि का पश्चिम भाग चौड़ा होना चाहिए; मध्य सूक्ष्म, और पूर्व-भाग फिर चौड़ा : क्योंकि—वेदि को देखते ही देवता वैसे ही सन्तुष्ट हो जाते हैं जैसे मनुष्यों का किसी सुन्दर स्त्री को देख कर 'नाच उठा मन मोर !'।"** (१. २. ५. १६)

स्त्री-पुरुष के परस्पर सम्बन्धों के विषय पर भी यज्ञ-प्रणाली के एक अ-मानुष अंग द्वारा पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। एक आर्तव यज्ञ के अन्त में यह उल्लेख मिलता है :—

> **"और फिर प्रतिप्रस्थाता वहीं लौट आता है जहां कि यजमान की पत्नी बैठी हुई थी। उसे, हाथ से पकड़ एक ओर ले जाते हुए, वह पूछता है 'सच-सच बताना किस-किसके साथ तू यह अनुचित सम्बन्ध कर चुकी है ?' (क्योंकि—एक की पत्नी होकर यदि कोई स्त्री पर पुरुष से सम्बन्ध स्थापित कर लेती है, तो वह पापिनी हो जाती है; और पाप को यदि एक बार स्वीकार कर लिया जाय, तो वह पाप नहीं रह जाता—पापिनी वरुण के प्रति भी अपाप हो जाती है; अन्यथा—उसका पाप उस पर और उसके सभी सम्बन्धियों पर, बढ़-चढ़ कर, लौट आएगा, उन्हें आमूल तहस-नहस कर देगा।"** (२. ५. २. २०)

किन्तु, प्रसंगात्, **पाप-अपाप**[१०] **की भावना पर विवेचन** करने वाले ऐसे स्थल ब्राह्मणों में बहुत कम मिलते हैं। कई बार तो जबरन दांतों तले उंगली दबानी पड़ती है कि उस जमाने में भी चीज को इतनी सरलता के साथ पेश करने की कला थी ! एक कथानक देकर समझाने का प्रयत्न किया गया है कि असुर हारे और देवता जीते : इसलिए नहीं कि असुर दुर्बल थे, अपितु इसलिए कि असुरों का अपना **झूठ** ही उन्हें मार गया ! और, यद्यपि देवताओं को पहले-पहल बड़ी मुसीबतें उठानी पड़ीं, किन्तु अन्त में सत्य ही विजयी होकर रहा (९. ५. १. १६–) ! सामान्यतः धर्म, कर्म, नीति, सच बोलना वगैरह—इन ग्रन्थों का विषय ही नहीं (बन पाता)। सच तो यह है कि ब्राह्मण ग्रन्थ इस बात का सजीव प्रमाण है कि धर्म का आडम्बर सचाई से दूर रह कर भी, दूर रह कर ही, कितनी आसानी के साथ खड़ा किया जा सकता है ! **ब्राह्मण धर्म के मुख्य अंग है—यज्ञ-भाग, उत्सव, दीक्षा, दक्षिणा—किन्तु जीवन की पवित्रता का उनके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं !** इसे भी क्या हम धर्म कहेंगे कि यज्ञ—मनुष्य अपनी पार्थिव इच्छाओं की पूर्त्ति के लिए तो करता ही है, साथ ही—अप शत्रुओं को नष्ट करने के लिए भी ? ब्राह्मणों में तो यहां तक निर्देश मिलते हैं कि पुरोहित यजमान तक को, यज्ञ की अद्भुत शक्ति के द्वारा, विनष्ट कर सकता है—यदि यजमान दक्षिणा देते समय कंजूसी दिखाने ल ।

बड़ा आसान ढंग है : यज्ञ की प्रक्रिया को पलट दो, मन्त्रों और मन्त्रांशों को गलत स्थान पर प्रयुक्त कर दो, और—यजमान का सौभाग्य आप-से-आप दुर्भाग्य में परिणत हो जाएगा !

अब जरा कुछ देर के लिए ब्राह्मण ग्रन्थों के इस मुख्य अंग अर्थात् यज्ञयाग को एक ओर रख दें। सौभाग्य से अर्थवाद का एक अंग इतिहास-आख्यान-पुराण आदि द्वारा यह समझाना होता है कि अमुक **यज्ञ क्यों किया जाए** ? यज्ञ-सम्बन्धी इन कथानकों द्वारा—यज्ञ के निर्जीव जीवन में भी, पुरोहित की थोथी कल्पनाओं में भी—कुछ रस, कुछ सरसता आ जाती है, एक सुन्दर काव्य-पुष्प खिल उठता है। सृष्टिपरक कथानक स्वयं एक उद्यान की भांति इन पुष्पों से भर उठता है, महक आता है। उधर—**ताल-मूद** के बृहद्-ग्रन्थ में हगदा के सुन्दर बगीचे में हलचा की जादूगरी से मुक्त हो कर जिस प्रकार मधुरिमा क्षण भर के लिए पाठक के मनोनभ पर छा जाती है।

पुरूरवस् और उर्वशी की प्राचीन ऋग्वेदीय कथा (शतपथ ब्राह्मण ११. ५. १) के रेगिस्तान में उसी प्रकार का एक शाद्वल है। कथानक इस प्रकार है : उर्वशी नाम की एक अप्सरा एक पार्थिव राजकुमार पुरूरवस् के यौवन पर मुग्ध हो गई ! किन्तु, गान्धर्व लीला छोड़, पुरूरवस् की गृहिणी बनने के लिए उसने कुछ शर्तें पेश कीं। गन्धर्वों ने एड़ी-चोटी एक कर दी कि इन शर्तों में एक तो किसी प्रकार टूटे। उर्वशी पुरूरवस् से छूटती-फिरती है, और पुरुरवस् विरह की आकुलता में बेघर रोता है, पीटता है ; प्रलाप करता फिरता है। कुरुक्षेत्र की खाक छानता हुआ, एक पागल-सा, वह एक सरोवर पर आ पहुंचता है जहां अप्सराएं हंसिनियों के रूप में स्वच्छन्द तैर रही हैं। इन्हीं हंसिनियों में ही कहीं, एक, उसकी उर्वशी है। यहीं पर पुरूरवस् और उर्वशी का वह प्रसिद्ध संवाद होता है जो ऋग्वेद के मन्त्रों में एक बार पहले भी अंकित हो चुका है :—

> **"उर्वशी को, आखिर, बेचारे पर दया आ गई, और उसने कहा कि आज से तुम हर वर्ष एक बार, वर्ष की अन्तिम रात, मेरे साथ सोने के लिए आ सकते हो, कि तुम्हें मेरी कोख से एक पुत्र—कुछ मानसिक शान्ति—मिल जाय।...और जब वह उस वर्ष की अन्तिम रात वहां पहुंचा, तो चकित रह गया कि यह स्वर्ण प्रासाद तो यहां था नहीं ! पहरेदारों ने सिर्फ एक ही शब्द कहा : 'आइये, और—उर्वशी को उन्होंने उसके पास जाने की अनुमति दे दी। ....**
>
> **"अन्त में उर्वशी ने कहा—देखो, कल ये गन्धर्व तुम्हें एक वर मांगने को कहेंगे। कुछ समझ-बूझ कर ही उनसे कुछ मांगना। वह बोला—तुम्हीं क्यों नहीं मुझे बता देती कि मैं क्या मांगूं ? उर्वशी ने कहा कि कहना—**

बस—मैं भी (तुम्हारी ही तरह) तुममें आकर रहने लगूं। और यही हुआ। जब सुबह गन्धर्वों ने उससे वर मांगने को कहा तो वह बोला 'मैं भी तुम्हारी ही तरह तुम्हारे में आ कर रहने लगूं'।"

तब गन्धर्वों ने उसे एक प्रकार की अग्नि-पूजा सिखाई जिसके द्वारा कोई भी मनुष्य अपनी इच्छा के अनुसार गन्धर्व बन सकता है। सच तो यह है इस यज्ञ की विधि की बदौलत ही यह प्राचीन लोक-गाथा यहां सावसर हो सकी। किन्तु यज्ञ के पाण्डे-तक कथा की कवित्वमयता को सर्वथा उच्छिन्न नहीं कर सके थे!

शतपथ ब्राह्मण (१. ८. १) में भी एक जल-प्रलय की कथा मिलती है जो असम्भव नहीं—मूलतः, सेमेटिक प्राचीन गाथाओं से पल्लवित हुई हो :

"प्रातः सन्ध्यावन्दन के समय वे मनु के लिए आचमन-जल लाए। आचमन करते समय एक छोटी-सी मछली मनु के हाथों में आ गई।

"मछली कहने लगी—मेरी देखभाल करो, मुझपर दया करो—बाबा; समय आने पर मैं भी तुम्हारी रक्षा करूंगी। 'किस मुसीबत से मुझे बचाएगी तू?' एक जल-प्रलय आने वाली है जिसमें सब प्राणी नष्ट हो जाएंगे, पर तुझे मैं बचा लूंगी। 'ठीक है, लेकिन मैं तेरी देखभाल कैसे करूं?'

"मछली ने कहा—बात यह है कि, जब हम छोटी-छोटी होती हैं, हम मछलियां ही एक दूसरे को खाना शुरू कर देती हैं। तुम मेरे लिए एक घड़ा बना लो; जब घड़े से मैं बड़ी होने लगूं तो मुझे किसी जोहड़ में डाल देना, और जब जोहड़ भी सिकुड़ने लगे तो मुझे समुद्र में डाल देना : फिर मुझे कोई नहीं मार सकेगा।

"और इस प्रकार करते-करते वह छोटी-सी मछली एक खासा मच्छ बन गई, झष बन गई, और—मनु से बोली : 'सुनो! अमुक वर्ष—एक जल-सम्प्लव आ कर ही रहेगा; अब, जैसे मैं कहती हूं, तुम तैयारी शुरू कर दो। एक जहाज बना लो और जब पानी बढ़ने लगे तो उसमें घुस जाना; मैं तुम्हें संकट से दूर किसी शिखर पर ले जाऊंगी।

"होते-होते आखिर वह दिन भी आया जब मनु मछली को समुद्र में छोड़ने के लिए ले आया। और, जैसी कि भविष्यवाणी उसने पहले कर दी थी, उसी साल जल-प्रलय आयी और मनु—अपने जहाज पर, वायदे के मुताबिक, चढ़ गया। मछली को कुछ भूला नहीं था वह—वह उधर से बढ़ती आई और, अपने शृंग पर जहाज को रस्सी से बांध कर, उसे उत्तराचल की ओर ले गई!

"मैंने अपना वचन पूरा कर दिया। अब तुम ऐसे करो कि जहाज को किसी दरख्त के साथ बांध दो। लेकिन ख्याल रखना कि—पानी उतरते-उतरते किश्ती को सूखे में ही न छोड़ जाए! मनु ने वैसा ही किया। वह,

पानी के साथ-साथ जहाज को लाकर, धीमे-धीमे नीचे की ओर उतरता आया। आज भी उस स्थान को लोक-वाङमय में मनु-का-अवरोह कहते हैं।

"**यह प्रलय सचमुच आई थी और—सारी दुनिया उसमें बह गई थी ! एक मनु ही सम्पूर्ण सृष्टि में जीवित तब बच रहा था—एकाकी !**

कथा का यह अन्त है; किन्तु, इसके अनन्तर मनु ने मानव जाति को किस प्रकार पुनर्जीवित किया, वह 'उत्तरचरित' इसमें नहीं है—शायद है भी, क्योंकि—आगे चलकर लिखा है कि मनु ने वंश-विस्तार की इच्छा से एक यज्ञ किया जिससे—एक स्त्री उदभूत हुई और, दोनों के मैथुन से, यह सृष्टि चक्र फिर से चलने लगा ! मनु की इस मनस्पुत्री का नाम है—**इड़ा**; और, शायद, इड़ा नाम की आहुति की महत्ता स्थापित करने के लिए ही मनु का यह आख्यान यहां पर सक्त था।

इन उपाख्यानों का महत्त्व भारतीय **गद्य-साहित्य के विकास की दृष्टि से भी** कुछ कम नहीं है। ब्राह्मणों का यह गद्य-भाग प्रायः पद्य-मिश्रित हो कर ही प्राचीन महाकाव्यों की गद्य-शैली में पल्लवित हुआ है; किन्तु—जहां **पुरूरवस्-उर्वशी** (आख्यान) में आए पद्य केवल ऋग्वेद की संहिता में ही सुरक्षित हैं, इधर वही बात नहीं : क्योंकि—भाषा और छन्द की दृष्टि से इस गद्य-पद्य की गणना प्राचीन 'वैदिक वाङमय' में ही की जाती है। **ऐतरेय** ब्राह्मण (७.१३.१८) के प्रस्तुत आख्यान में भाषा तथा छन्द की दृष्टि से जिस गद्य के साथ वैदिक गाथा-भाग मिश्रित है वह आपूर्ण **रामायण-महाभारत** की शैली का पूर्वाभास ही है। हमारा संकेत **शुनः शेप** के निम्न आख्यान की ओर है :—

"**वेधाः का पुत्र हरिश्चन्द्र इक्ष्वाकुओं का एक राजा हुआ है। उसके घर कोई पुत्र न होता था : उसकी सौ पत्नियां थीं; वह इसी सन्ताप में दिन प्रतिदिन क्षीण होता जा रहा था कि पर्वत और नारद, दो ऋषि, उसके यहां पधारे। हरिश्चन्द्र ने नारद से पूछा :—**

'**भगवन् ! क्या आप मुझे बता सकते हैं कि मनुष्य—चाहे बेवकूफ हो चाहे समझदार—पुत्र क्यों चाहता है ?'**

हरिश्चन्द्र ने तो एक श्लोक में पूछा था, नारद ने उसे दस में उत्तर दिया :—

'**पिता जब नवजात को देखकर प्रसन्न होता है, पुत्र पिता के प्रति—उसी क्षण से—ऋणी हो जाता है और यह ऋण उतारने के लिए ही सन्तान की एक अविच्छिन्न परम्परा उसे चलानी पड़ती है।'**[११]

"**पार्थिव सुखों में, अग्नि लोक में, जल-थल में, इससे बढ़ कर परम सुख और कोई नहीं जो एक पिता—पुत्र को देख कर—पा लेता है ! पुत्र न हो तो जीवन अन्धकारमय हो जाता है। पुत्र ही इस भवसागर में डूबते की किश्ती है।"**

"क्यों व्यर्थ ही यह भस्म, मृगचर्म, और जटा का ढोंग बना कर तपस्वी बने फिरते हो; ऐ ब्राह्मणो, मेरी सुनो—यदि कहीं कोई अ-पाप स्वर्ग है तो उसे तुम यहीं, एक पुत्र के द्वारा ही, अपने लिए प्राप्त कर सकते हो।...

"अन्न पर जीवन आश्रित है। वस्त्र आवरण का काम देते हैं। हिरण्य से सौन्दर्य चमक उठता है, आभूषित हो उठता है। विवाह, एक प्रकार से, पशुधन ही है।[१२] पत्नी ही एकमात्र सुहृत् है, मित्र है।[१३] और जो कीमत पुत्री-जन्म पर पिता को चुकानी पड़ती है उससे यह जीवन दूभर ही हो जाए, यदि—पुत्र-जन्म माता-पिता के अन्धकारमय जीवन में कुछ दैवी ज्योति न ला दे।"

"पति ही पत्नी के अन्तःकरण में समाकर उसीकी कोख से पुनः, दसवें महीने, नया जन्म पाता है, लोग भले ही—उसे उसका पुत्र क्यों न कहें!"

"यह उपदेश देकर, नारद उसे समझाने लगे 'जाओ, वरुण राजा के पास जाओ और उसके सम्मुख प्रतिज्ञा करो कि—मुझे आप एक पुत्र का वरदान दें तो मैं उसे आपकी भेंट चढ़ाने की कसम खाता हूं।' नारद के उपदेशानुसार, हरिश्चन्द्र ने वही—कुछ किया : वरुण के सामने जा कर प्रतिज्ञा ली। और वरुण ने कहा—तथास्तु। पुत्र का नाम रखा गया—रोहित। और लो—उसी समय—कहीं से वरुण देवता आ टपके! उन्होंने हरिश्चन्द्र को उसकी प्रतिज्ञा याद दिलाई। किन्तु हरिश्चन्द्र ने विनती की कि पशु-तक भी दस दिन के होकर ही मेध्य बना करते हैं; अभी यह दस दिन का कहां हुआ है? दस दिन के बाद फिर वरुण हाजिर हुए। हरिश्चन्द्र ने कहा—अभी तो, पशुओं की भांति, दांत भी नहीं निकले इसके!....

और इसी प्रकार कोई न कोई बहाना बन खड़ा होता है और—हरिश्चन्द्र टालमटोल करता ही चलता है। किन्तु आखिर—वह कल का बच्चा एक अच्छा हट्टा-कट्टा आदमी बन जाता है। हरिश्चन्द्र के पास अब कोई बहाना नहीं कि उसकी भेंट वरुण को न चढ़ा सके। उधर रोहित जवान हो चुका है और... समझदारी में...घर से भाग खड़ा होता है! साल भर वह जंगलों की खाक छानता है।(घर में पिता जलोदर से पीड़ित है—आखिर वरुण ने भी तो किसी तरह बदला लेना ही था, ना?) रोहित, यह सुन कर, लौट पड़ता है। रास्ते में उसे एक ब्राह्मण मिलता है जो उसे उपदेश देता है : 'बेटा! जीवन तो रमते राम रहने ही का नाम है।' इसी प्रकार दो, तीन, चार, पांच साल बीत जाते हैं; जब-जब उसे घर लौटने की ख्वाहिश होती है, इन्द्र हर बार उसे—रूप बदल-बदल कर—मिलता है और उसे गृहस्थ जीवन से विमुख कर देता है। छठा साल था,

और रोहित उसी तरह से-मतलब इधर से उधर, उधर से इधर घूमता फिरता है कि उसे ऋषि अजीगर्त के दर्शन होते हैं। यह अजीगर्त भूख से व्याकुल है, खाने की फिक्र में घर से निकला हुआ है। इसके तीन पुत्र हैं। रोहित को एक युक्ति सूझती है कि—क्यों न इसे सौ गौएं देकर इसके एक पुत्र को खरीद लिया जाए और वरुण का वह पुराना कर्जा इस तरह चुका दिया जाए! बड़े पुत्र से पिता का मोह है, तो छोटे से मां का; सौदा मझले पुत्र शुनःशेप पर पटता है। शुनः शेप को साथ ले कर रोहित अपने पिता के पास पहुंचता है। वरुण भी इस विनिमय को स्वीकार कर लेता है, क्योंकि—राजसूय के प्रसंग में यज्ञिय पशु के स्थान पर—एक क्षत्रिय नौ-जवान की अपेक्षा—एक ब्राह्मण की बलि का मूल्य कहीं अधिक होता है! राजसूय की सारी तैयारियां हो चुकी हैं; किन्तु यज्ञिय पुरुष को यूप से बांधने को कोई तैयार नहीं होता। अचानक अजीगर्त यज्ञस्थली पर पहुंच जाता है और वह सौ गौएं और लेकर—शुनःशेप को यज्ञयूप से बांध ही देता है। सौ गौएं और दो, तो वह उसे कत्ल करने को भी तैयार है! ज्यों ही पिता एक तेज छुरी लेकर उसकी ओर बढ़ता है, पुत्र के मन में विचार उठते हैं—'लो, ये तो मुझे मारने के लिए भी तैयार हो गये जैसे मैं इन्सान ही न होऊं! खैर, इस मुसीबत में देवता ही मेरी पनाह बन सकते हैं', और वह ऋग्वेद के शब्दों में हर (वैदिक) देवता की स्तुति गाता है। अन्त में ज्यों-ही **उषा-सूक्त** के प्रथम तीन मन्त्र उसके मुह से निकलते हैं, एक-एक करके उसकी शृंखलाएं टूट जाती हैं और—धीरे-धीरे, हरिश्चन्द्र का पेट छोटा होता जाता है। अन्तिम पद के साथ दोनों की पीड़ा और व्याधि का, एक साथ, अन्त हो जाता है। तब यज्ञ-स्थली में आया पुरोहित-वर्ग उसे आदर-पूर्वक मनुष्यों में वापिस ले आता है कि 'हमें तो मालूम नहीं था कि शुनः शेप हमारे इन सोम-सवनों में एक का द्रष्टा (ऋषि) है!' विश्वामित्र, आख्यानों का प्रसिद्ध ऋषि विश्वामित्र—जो हरिश्चन्द्र के राजसूय में इस समय होता बन कर आया हुआ था, शुनःशेप को अपना पुत्र बना लेता है और, अपने सौ पुत्रों को उपेक्षित करके, उसी को अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति का उत्तराधिकारी घोषित कर देता है। आख्यान के अन्त में लिखा है:—

"यह था शुनःशेप का आख्यान जिस पर एक ऋग्वेद में ही सौ ऋचाएं मिलती हैं। राजसूय के समय राजा का अभिषेक करते हुए होता इसी कहानी को सुनाया करता है और यह कहानी—वह एक स्वर्ण-पीठ पर बैठ कर सुनाया करता है। एक और स्वर्ण-पीठ पर बैठा अध्वर्यु उसके (वाचक के) प्रत्युच्छ्वास में सिर हिलाता रहता है। स्वर्ण, सचमुच, हमारी लौकिक सम्पत्ति का प्रतीक है। स्वर्ण हमारे यश को बढ़ाता है। (जिसे ऋचाओं की दैवी भाषा में 'ॐ' कहते हैं, उसे ही मनुष्यों की गाथाओं में 'हां' कहते

है।) यही कुछ प्रक्रिया है जिसके द्वारा होता और अध्वर्यु मनुष्य को एक ही शब्द द्वारा कष्टमुक्त कर सकता है। यदि कोई राजा विजयी होना चाहे तो वह, यजमान बने बिना भी, शुनःशेप की कथा को सुन कर ही अपनी इच्छा पूर्ण कर सकता है। यही नहीं, यह कथा उसे सभी प्रकार के पापों से मुक्त कर सकती है; किन्तु––इसके लिए उसे कथा-वाचक को एक हजार गौएं देनी होंगी, अध्वर्यु को सौ (और साथ ही एक-एक स्वर्ण-पीठ भी); होता की दक्षिणा में एक रजत-रथ भी विहित है जिसे, घोड़े नहीं, खच्चर खींचते हैं। (इस उपाख्यान का विधान पुत्रोत्पत्ति के प्रकरण में भी किया गया है।)"

यदि शुनःशेप का यह उपाख्यान सचमुच इतना प्राचीन है (**ऐतरेय** ब्राह्मण के सम्पादकों एवं संकलयिताओं की दृष्टि में भी इतना प्राचीन है) और **राजसूय** का एक अविभाज्य अंग है[१४] (लोक-कथा तो उसकी फिर कितनी पुरानी होगी)। सचमुच––यह कहानी बहुत ही पुरानी होनी चाहिए, क्योंकि––प्रागैतिहासिक युग में हुए 'आद्य' **पुरुषमेध** की वह स्मृति इसमें अब तक यथावत् अवशिष्ट चली आती है, यद्यपि––न कहीं अन्य ब्राह्मणों में और न कहीं श्रौत सूत्रों में ही राजसूय के प्रसंग में पुरुषमेध का जिक्र फिर कभी आता है। फिर भी, शुनःशेप की कथा ऋग्वैदिक युग के बाद की कथा है: उपाख्यान में शुनःशेप द्वारा दृष्ट ऋचाएं, अलबत्ता, किसी पूर्वतर ऋषि की भी हो सकती हैं, क्योंकि––उन ऋचाओं का प्रस्तुत कथा के किसी भी अंश में कोई सम्बन्ध जंचता नहीं; ऋग्वेद के प्रथम मण्डल में जो सूक्त (२४-३०) शुनःशेप की रचना कहे गए हैं, उनकी टेक कथानक के शुनःशेप के मुख से कुछ फबती नहीं : "हे इन्द्र, हे मघवन्––हमें हजार बैलों का, हजार घोड़ों का, स्वामी बना दो!" जैसे २९वें सूक्त में, वैसे ही २४वें सूक्त में भी, मन्त्रों का द्रष्टा स्पष्ट ही (ऐतरेय ब्राह्मण का) शुनःशेप नहीं है : "शुनःशेप को मुक्ति दिलाने वाला वरुण आकर हमारे बन्धन भी खोल दे!" और इसी प्रकार "तीन यूपों के साथ बंधे शुनःशेप ने आदित्य की स्तुति की ––जिसका इंगित स्पष्ट ही है कि ऋचाओं में भी शुनःशेप के आख्यान को कुछ पर्याप्त-प्रागैतिहासिक सा-ही स्वीकार कर लिया गया है।[१५] यदि ऐतरेय ब्राह्मण का कर्ता इन मन्त्रों को शुनःशेप से कहलवाता है, तो––इसमें दोष उन्हीं **अनुक्रमणियों** की अविश्वसनीयता का है जिन्होंने ब्राह्मण-वाङमय के उस युग में इन ऋचाओं का ऋषि एक ही शुनःशेप को उद्घोषित कर दिया! ऋग्वेद की ऋचाओं में और परतर वैदिक वाङमय में, समय की दृष्टि से, कितना अन्तर है उसका 'एक और प्रमाण' शुनःशेप का यह आख्यान है।

बदकिस्मती से ब्राह्मणों में संगृहीत उपाख्यान सब इतने पूर्ण नहीं जितना पूर्ण कि शुनःशेप की यह कथानक है। कथाओं के संग्रह का मुख्याभिप्राय यज्ञ की

किसी प्रक्रिया को युक्तियुक्त सिद्ध करना अथवा स्पष्ट करना ही था; कई बार तो मूल कथा के सार को यज्ञ-प्रक्रिया के जगड्वाल से पृथक् करना असम्भव ही हो जाता है। यह भी आवश्यक नहीं कि ये कथाएं प्राचीन लोकवाङ्मय से ही ली गई हों; यज्ञ-भूमिका के स्पष्टीकरण के लिए नई-से-नई कथाएं भी खड़ी की जा सकती थीं। ऐसी एक कथा प्रजापति की भेंट धरे गए यज्ञिय उपहारों के सबन्ध में भी कथावाचक की प्रत्युत्पन्न मति ने (शतपथ १. ४. ५ ८-१२) घड़ दी थी (जो कुछ कम दिलचस्प नहीं):—

एक बार मन और वाणी में कुछ झगड़ा-सा हो गया। दोनों का दावा था कि 'मैं श्रेष्ठ हूं'।

मन ने कहा कि—देखो, तुम कोई ऐसी चीज नहीं बोल सकती जो मेरी समझ से बाहर हो। बहुत करके तुम—मेरा अनुकरण ही कर सकती हो। मैं तुमसे श्रेष्ठ हूं।

वाणी बोली, तुम्हारा ज्ञान किस काम का—यदि मैं उसे रूप न दे सकूं, दूसरों तक पहुंचा न सकूं? तुम्हारा दावा व्यर्थ है। श्रेष्ठ मैं हूं।

दोनों प्रजापति के पास पहुंचे और प्रजापति ने मन के हक में फैसला कर दिया: निश्चय से मन ही तुम दोनों में श्रेष्ठ है। क्योंकि—एक अनुकरणकर्त्ता का स्थान कभी-भी ऊंचा नहीं हो सकता।

वाणी को इससे निराशा होने लगी। वह प्रजापति के खिलाफ ही बोलने लगी कि—यह लो, तुमने मेरे विरुद्ध निर्णय दे दिया है! आज से म तुम्हारी आहुतियों को तुम्हारे पास नहीं लाया करूंगी। और तब से, कहते हैं, प्रजापति को दी गई आहुतियां बड़े मद्धिम शब्दों में दी जाती हैं, क्योंकि—वाणी प्रजापति से रूठ जो गई थी!"

इसी प्रकार के कितने ही अन्य कथानक ब्राह्मणों में **वाणी** के सम्बन्ध में मिलते हैं। **सोम की चोरी** की कहानी प्रसिद्ध है। यह कहानी बार-बार ब्राह्मण ग्रन्थों में दोहराई गई है कि किस प्रकार गायत्री, पक्षी का रूप धारण करके, स्वर्ग से सोम को पृथ्वी पर लाई, किस प्रकार रास्ते में एक गन्धर्व उससे सोम छीन कर भाग खड़ा हुआ; .. परिणामतः देवताओं के लिए एक समस्या ही खड़ी हो गई कि 'सोम की वापसी किस तरह सम्भव की जा सकती है?'

"देवताओं ने सोचा—गन्धर्वों में एक कमजोरी है: वे औरतों पर मरते हैं। सो, उन्होंने वाणी को गन्धर्वों के पास भेज दिया और (वह) देव-दूती फुसला कर गन्धर्वों से वह खोया अमृत—ले आई!

"गन्धर्वों ने उसका पीछा किया। और वह देवताओं से आ कर चिपट गई। तो 'अच्छी बात है, सोम को तुम ले लो; किन्तु—इस वाणी को हमारी

ही रहने दो !' देवताओं ने कहा अच्छी बात है, 'किन्तु इसके साथ कोई जोर-जबरदस्ती न करना ।— जब उसकी तबीयत करे उसे हमारे पास आने दिया करना । —हमारा इससे पुराना प्रेम है ।'

. . . .गन्धर्वों ने वेद-मन्त्रों से उसकी स्तुति करनी शुरु कर दी : 'हमें भेद मालूम हो गया, हमें भेद मालूम हो गया' ।

इतने में देवताओं ने एक वीणा बना कर नाचना-गाना शुरू कर दिया जिससे आकृष्ट हो कर वाणी दौड़ती हुई—उनके पास आ गई ! किन्तु वेद-मन्त्रों के गान को छोड़ कर वाद्य, गीत और नृत्य के पीछे उसका इतना पागल हो उठना सब व्यर्थ था—

"औरतों की फितरत में ही कुछ व्यर्थ की चीजों के पीछे भागना समाया होता है जो उन्हें प्रायः उसी प्रकार अस्थित कर देता है जैसे देवों के वाद्य-गीत ने, और नृत्य-लीला ने, वाणी को कभी किया था ।"

(३.२.४.२–६; ३.२.१.१९–)

जिस प्रकार यहां **स्त्रियों की एक प्रवृत्ति** को समझाने के लिए कथा घढ़ी गई है, स्थान-स्थान पर किसी-न-किसी समस्या अथवा संस्था का रहस्य समझाने के के लिए ब्राह्मण ऐसे उपाख्यानों का सहारा लेते हैं । किसी वस्तु अथवा प्रथा के मूल उद्भव को जानने के लिए जो सर्गात्मक कथाएं भारतीय लोक-वाङमय में घढ़ी गई, उन्हें देव-परक इतिहासों अपिवा आख्यानों से विशिष्ट दिखाने के लिए **'पुराण'** की संज्ञा दी जाती है । इन्हीं कथाओं में ब्राह्मण-पुरोहितों द्वारा घड़ी कुछ कहानियां भी हैं (यद्यपि ब्राह्मणों में आई अधिकांश कहानियों का मूल कर्मकाण्ड से सर्वथा असम्बद्ध 'प्राचीन लोक-गाथाएं' थीं) । (ऋग्वेद के) **पुरुषसूक्त**[१६] में पुरुष से चारों वर्णों की उत्पत्ति की कल्पना की गई है कि किस प्रकार ब्राह्मण उस 'आदि पुरुष' के मुख से, क्षत्रिय उसकी भुजाओं से, वैश्य जंघाओं से, और शूद्र (यज्ञ में आहुत उसी पुरुष के) चरणों से उत्पन्न हुआ : जिसका रूपान्तर ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार मिलता है कि वे सब प्रजापति के अं :-प्रत्यंग से ही सम्भव हो सकता था : प्रजापति के मुख से ब्रह्मा और अग्नि, छाती और भुजाओं से क्षत्रिय तथा इन्द्र, मध्य भाग से वैश्य तथा विश्वेदेवा:, किन्तु पैरों से उसके केवल शूद्र ही उद्भूत हुआ। **शूद्र के साथ किसी देवता की उत्पत्ति नहीं हुई थी, इसीलिए उसे यज्ञ का अधिकार नहीं ।** और इस उत्पत्ति का परिणाम यह है कि ब्राह्मग अपने ब्रह्मकर्त्तव्य को मुख के द्वारा करता है, तो क्षत्रिय भुजाओं के द्वारा (उमी प्रकार) क्षात्र धर्म को निभाता है, और—क्योंकि वैश्य की उत्पत्ति ही प्रजापति के मध्य भाग से हुई थी—उसे ब्राह्मण और क्षत्रिय कितना-भी खा-जाएं-वह नष्ट नहीं हो सकता ! (क्योंकि—मध्यभाग में ही प्रजनन-शक्ति का मूल सुरक्षित है !) शूद्र का कर्त्तव्य

एक ही रह जाता है कि —वह धर्म-कृत्यों में इन तीनों श्रेष्ठ-वर्णों के चरण पखारा करे।

मैत्रायिणी संहिता में **रात्रि की** और **पर्वतों के पंखों की उत्पत्ति की** दो कल्पनाएं इस प्रकार की गई हैं।

"यम की मृत्यु हो गई, देवताओं ने कोशिश की कि यमी यम को भूल जाए। जब भी वे उसे सान्त्वना देने की (कोशिश) करते, वह कहती एक ही दिन के लिए तो उसकी मृत्यु हुई है। देवता मुश्किल में पड़ गए और सोचने लगे कि यही हाल अगर इसका रहा तो फिर तो यह उसे कभी भी न भुला सकेगी। सो, उन्होंने रात बना दी। उससे पहले दिन लम्बे हुआ करते थे, रात तब होती ही न थी। रात आने से यह हुआ कि आज के बाद कल, और कल के बाद परसों, का सिलसिला शुरू हो गया और लोग करते-करते अपने दुखों को भूलने लग गए!" (१. ५. १२)

"प्रजापति की सबसे पुरानी सन्तान हैं——ये पर्वत। तब इनके पंख हुआ करते थे, और जहां-जी-में-आए उड़ते फिरते थे। उन दिनों पृथ्वी अभी अस्थिर थी, डांवा-डोल थी। इन्द्र ने पर्वतों के पंख काट दिए कि पृथ्वी को कुछ और ठिकाना मिल सके: दोनों एक दृढ़-बन्धन में बंध जाएं! किन्तु—— वही कटे हुए पंख तूफानी बादल बन गए, इसीलिए——हम देखते हैं कि तूफानों का दौर प्रायः पर्वतों की दिशा में ही हुआ करता है।" (१. १०. १३)

सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तो ब्राह्मणों में कथानकों की भरमार है। यज्ञ में—दिशाओं का अध्यात्म के साथ क्या सम्बन्ध होता है, इस सम्बन्ध में भी एक कल्पना की गई है। कथानक के आरम्भ में स्थापना यह प्रस्तुत की गई है कि दैनिक अग्निहोत्र, जिसे हम सांझ-सवेरे करते हैं, सब यज्ञों में श्रेष्ठ है; इसमें दूध की आहुति डाली जाती है और उसके सम्बन्ध में पुरानी परम्परा (शतपथ २. २. ५) इस प्रकार जोड़ी गई है:—

"आरम्भ में प्रजापति ही था, और वह अकेला था। उसे चिन्ता हुई कि किस प्रकार मैं अपने वंश को अविच्छिन्न कर सकता हूं। यह 'जानने के लिए' उसने घोर तप किया। परिणामतः उसके मुख से अग्नि निकली, और मुख से उत्पन्न होने के कारण ही, अग्नि का स्वभाव है कि वह सब भोग्य वस्तुओं को खा जाती है! जो भी कोई अग्नि के इस रहस्य को समझता है, सम्पूर्ण अन्नों का वह एक-मात्र उपभोक्ता बन जाता है! अग्नि को अग्नि, शायद, कहते भी इसी लिए हैं कि—सृष्टि की प्रक्रिया में सबसे पहले आई—वह अग्रतम है।

"अब प्रजापति को चिन्ता हुई कि अन्न खाने वाले को तो मैंने पैदा कर

दिया किन्तु अन्न तो मैंने पैदा किया ही नहीं; और —अगर भूख में यह मुझे ही खा जाए, तो ?"

...तब पृथ्वी पर न अभी वृक्ष उगे थे, न कोई फूल-पौधे कहीं तब थे। प्रजापति को यही चिन्ता अन्दर से खाये जाती थी। इसी क्षण अग्नि अपना मुंह फैला कर प्रजापति की ओर बढ़ी! प्रजापति के होशहवास उड़ गए।...

"यह होश-हवास, और कुछ नहीं, प्रजापति की ही, डर के मारे अन्दर से निकली एक चीख थी!

"—वाणी ही है जो कि प्रजापति की सच्ची महिमा है।"

(इसके अनन्तर कथानक में बताया गया है कि प्रजापति अपने ही लिए एक आहुति चाहता है। वह अपने हाथ रगड़ता है; उस रगड़ से कुछ दूध, कुछ मक्खन, सामने आता है—जिस में से सृष्टि के पहले—पौधे फूट पड़ते हैं; किन्तु—जब उस मक्खन और दूध को आहुति बना कर आग में डाला जाता है—तत्क्षण, सूर्य और वायु प्रकट हो आते हैं और सृष्टि की प्रक्रिया चल पड़ती है।)

"—इस प्रकार प्रजापति ने पहली आहुति देकर अपनी सन्तान को भी अविच्छिन्न कर लिया और साथ ही मौत (अर्थात् अग्नि) के मुंह में पड़ने से अपने को बचा भी लिया!"

हम मनुष्यों में भी अग्निहोत्र के रहस्य को जो समझ लेता है, प्रजापति की भांति, वह भी मृत्यु से मुक्त हो कर अपने वंशजों में अमर हो जाता है। मौत आती है, पर मरने पर जब उसे अग्नि-चिता में डाला जाता है—उसका शरीर भी ज्वालाओं में (प्राकृतिक नियमानुसार) अदृष्ट हो जाता है! किन्तु, वास्तव में, वह और भी जाज्वल हो कर पुनर्जन्म ले रहा होता है। यह जन्म भी उसका शारीरिक माता-पिता के घर लिए उसके पुराने जन्म से किसी अंश में कम नहीं होता।

"इसके विपरीत, जो मनुष्य अग्निमेध नहीं करता, उसका दूसरा जन्म असम्भव है।

"यही अग्निहोत्र की हम पार्थिव जनों के लिए युक्ति एवं आवश्यकता है।"

(इसके अनन्तर बड़ी सूक्ष्मता के साथ अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवताओं की प्रजापति के द्वारा उत्पत्ति का उल्लेख है जिसमें स्वयं देवता भी यज्ञाहुतियों में व्यापृत दिखाए गए हैं और अन्त में गौ की उत्पत्ति का उल्लेख होता है)। किन्तु अग्नि के मन में विचार आया, कामना जागी, कि क्यों न मैं गौ को अपनी सह-धर्मिणी बना लूं। अग्नि के वीर्यदान से उस गौ में क्षीर की उत्पत्ति

सम्भव हुई। इसीलिए कहते हैं कि --यद्यपि गौ स्वयं परिपक्व नहीं होती, दूध को उसके, अलबत्ता, पकाया जा सकता है। गाय काली हो, लाल हो-- दूध उसका सदा, अग्नि की तरह, चमचमाता हुआ और सफेद ही होता है ! दुहने के समय भी दूध इसी कारण कुछ गर्म होता है, उष्ण होता है, क्योंकि-- उसमें अग्नि का वीर्य जो अन्तर्निहित होता है।"

सृष्टि की उत्पत्ति जहां प्रजापति के घोर **तप** के साथ आरम्भ होती है, वहां ज्यों-ही सृष्टि-चक्र पूर्ण होने लगता है—प्रजापति थक जाता है, कमजोर पड़ जाता है और, सो : उस खोई शक्ति को पुनः प्राप्त करने के लिए एक और यज्ञ का प्रकरण उठ खड़ा होता है। एक स्थल पर यह यज्ञ प्रजापति के लिए देवता लोग करते हैं तो एक-और स्थल पर यह कृपा उस पर अग्नि स्वयं करता है और अन्यत्र हम पढ़ते हैं कि प्रजापति यह खोई शक्ति सूक्तों को गा-गा कर, अपने को और-ज्यादह थका कर—यज्ञ-पशुओं की रचना करके और उन्हें अग्नि के अर्पित करके, पुनः-अधिगत करता है।[१७] यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि स्वयं सृष्टि का स्वामी और जनक हो कर भी प्रजापति—यद्यपि ब्राह्मण ग्रन्थों में वह देवाधिदेव है, उसमें कुछ महामहिमता नहीं : प्रायः उसकी शोचनीय दीन-सी अवस्था ही हमारे सामने आती है। एक बार तो (शतपथ १०. २. २.) देवता सचमुच उसे उठा कर आग में झोंक भी देते हैं ! एक आख्यान में, जिसको कितनी ही बार दोहराया भी गया है, प्रजापति पर अपनी ही पुत्री द्यौः अथवा उषाः के साथ व्यभिचार करने का दोष भी लगाया गया है; और उसे उचित दण्ड देने के लिए ही तब, कहते हैं, देवताओं ने अपने घोरतम अंशों को संचित करके **रुद्र** की रचना की थी : रुद्र ने प्रजापति को एक तीर से बींध दिया जिसके परिणाम स्वरूप आकाश में चमकने वाले ये ग्रह-नक्षत्र निकल आए ![१८] और वह बात भी कुछ कम महत्त्व की नहीं कि वेदों और ब्राह्मणों में सृष्टि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में यूरोपीय गाथाओं की तरह कोई एक ही गाथा प्रचलित हो, ऐसी बात नहीं है; उल्टे, गाथाओं के इस वैदग्ध्य में कुछ संगति दिखा सकना सर्वथा असम्भव-सा प्रतीत होता है। उक्त कथानक के अनन्तर ही शतपथ ब्राह्मण (२. ५. १. १-३) में एक सृष्टि की कथा और आती है जिसमें प्रजापति तप तो जरूर उसी तरह से करता है, किन्तु—प्राणियों का विकास, उस कथानक में, सर्वथा भिन्न है पहले पक्षी आते हैं, फिर जमीन पर रींगने वाले सांप वगैरह; लेकिन पैदा होते ही दोनों—निःशेष हो जाते हैं !, और प्रजापति, फिर, वैसे ही—अकेले-का-अकेला—रह जाता है। वह सोचने लगा—आखिर बात क्या है ? गम्भीर चिन्तन के अनन्तर निष्कर्ष यह निकला कि—**भोजन के बिना ये मरें नहीं, तो और करें क्या** ! सो, उस ने एक नए प्रकार के प्राणियों की रचना की जिनकी छाती से दूध निकलता था : अब वे पहले प्राणी बे-मौका मौत से

बच सकते थे। **शतपथ** में ही एक और स्थान (७, ५.२.६) पर प्राणियों की उत्पत्ति प्रजापति के इन्द्रियों से कल्पित की गई है, तो—मनुष्य की उत्पत्ति उसके मनोमय से; और फिर कहा गया है कि घोड़े उसकी आंखों से, गौएं उसके श्वासों से, भेड़ें उसके कानों से, और बकरियां उसकी आवाज से—प्रकट हुईं और तब-कहीं, इस रहस्य को समझाते हुए लिखा है कि, मन 'इन्द्रियों का राजा है' ! सो, इस युक्ति से , **मनुष्य सम्पूर्ण सृष्टि का अधिपति है।**

अधिकांश उपाख्यानों में तो प्रजापति को ही सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति का एकमात्र कारण मान लिया गया है, किन्तु—स्वयं ब्राह्मणों में ही, उस प्राचीन युग में, स्वयं प्रजापति को भी सृष्टि का ही एक अंग मानने की प्रथा भी थी जिसे सम्भव करने के लिए सृष्टि का पूर्व रूप अव्यक्त **आपः** को अपिवा **असत्** को अपिवा **ब्रह्म** को उद्घोषित किया गया है। शतपथ में ही एक कथा इस प्रकार आती है :

> **"शुरू में सब पानी ही पानी था—जिसकी कोई थाह नहीं थी, जिसका कोई आर-पार नहीं था : इन आपः में इच्छा जागी कि हम बढ़ें, हमारे वंशज हों। घोर तप किया गया और तप की ज्वालाओं में से एक स्वर्णिम अण्ड की उत्पत्ति हुई, तब—अभी 'वर्ष' की उत्पत्ति नहीं हुई थी; किन्तु वर्ष की जो-भी अवधि हुआ करती है—यह अण्डा जल की उन धाराओं पर इधर-उधर बहता रहा। वर्ष के अन्त में उस अण्डे में से एक पुरुष प्रकट हुआ: यह वह आदि-पुरुष ही था जिसे गाथाओं में प्रजापति कहते हैं, क्योंकि प्रजापति की उत्पत्ति एक वर्ष के अन्त में हुई थी, सृष्टि में स्त्री—मनुष्य की हो अथवा किसी अन्य पशुजाति की—प्रायः वर्ष भर गर्भिणी रहती है। प्रजापति ने उस सुनहरी अंडे को फोड़ दिया। किन्तु अभी तक कहीं उसके लिए (स्थिर) टिक सकने का कोई ठिकाना ही नहीं था, इसलिए—यह अंडा फूट कर भी एक वर्ष भर बहाव में इधर-उधर थपेड़े खाता रहा। वर्ष के पश्चात् उसने कुछ बोलना चाहा, उसके मुंह से निकला "भूः" और वह पृथ्वी बन गई; "भुवः","स्वः" और लो—अन्तरिक्ष और आकाश भी प्रकट हो गए !** आज भी हालत कुछ बहुत भिन्न नहीं होती। **बच्चा साल के बाद ही बोलना शुरू करता है, और, प्रजापति की ही भांति, वे पुराने एकाक्षर, द्व्यक्षर ही उसके भी 'प्रथम शब्द' होते हैं। ये तीन लोक कुल मिलाकर पांच अक्षर बनते हैं। इन्हीं पांच अक्षरों से प्रजापति ने साल की पांच ऋतुओं की रचना की थी, और सृष्टि की प्रक्रिया समाप्त करके (वर्ष के अन्त में)** वह लोक-लोकान्तरों **की इस लीला से विरत-ऊपर उठ खड़ा हुआ, और—आज भी बच्चे प्रायः साल के बाद ही अपने पैरों पर खड़ा होना शुरू करते हैं ! किन्तु उत्पत्ति के प्रायः उस क्षण में भी एक सहस्राब्द जीवन उसमें अन्तर्गभित था; और जैसे नदी के एक किनारे खड़े होकर हम**

दूर-दृष्टि द्वारा नदी का वह पहला किनारा भी देख सकते हैं, सृष्टि के उस प्रथम पुरुष में जीवन-सरिता के 'उस पार' को देख सकने का सामर्थ्य था! कुछ हो ऋचाएं गाते हुए, तपस्याओं में अपने को खपाते हुए, पुरुष ने अविच्छिन्न होने की, सं-तत होने की, कामना की। पुनर्जन्म की अन्तः-शक्ति को अपने में संभाले, वह बढ़ता-ही गया; उसने मुंह खोला, तो—देवताओं की सृष्टि सम्पन्न हो गई! सब-कहीं प्रकाश हो गया, दिन हो गया। यही-कुछ देवताओं के देवत्व का रहस्य है: अर्थात्—पुरुष के अन्धकारमय जीवन में ज्योति का उदय हो आना, रात का दिन में परिणित हो जाना। तब उसने 'अपान' शक्ति द्वारा असुरों की रचना भी की! किन्तु—असुर अन्धकार के प्रतीक थे; वह भी समझ गया—यह मुसीबत मैंने खुद ही अपने लिए सहेड़ ली है। यह अन्धकार भी तो मेरी अपनी ही करतूत है। सो, सृष्टि के उस प्रथम प्रभात में उसने असुरों को पाप से डस दिया, और लो—असुरों के दिन का अन्त आ गया ! और इसीलिए—कहना भी पड़ता है कि—जो कुछ अन्वाख्यानों और इतिहासों में देवासुर संग्रामों के बारे में लिखा है वह सच नहीं है क्योंकि—असुरों का दिन तो प्रजापति द्वारा उनके पाप-स्पृष्ट होते ही समाप्ति पर आ चुका था... ...और देवताओं की सृष्टि करके जो कुछ सृष्टि में अब प्रकाशमय रह गया था उससे पुनः हमारे लिए दिन की उसने रचना की थी और जो कुछ आसुर-अंश रह गया था उससे उसने अन्धकार की अर्थात् रात्रि की रचना की थी। इस प्रकार—दिन और रात का सिलसिला कभी चला था।..." (११. १. ६. १-११)

शतपथ १. ६. १. १ में सृष्टि-उत्पत्ति की एक और कथा आती है जो कुछ कम स्पष्ट होती हुई भी उक्त कथानक से कहीं अधिक मनोरंजक है: "**आरम्भ में, बस, असत् ही असत् था।**" कहानी तत्क्षण पलटा खा जाती है कि यह असत् वास्तव में ऋषियों का ही एक रूप था; क्योंकि—बात यह है कि ऋषियों ने ही घोर तप करके इस सृष्टि को सम्भव किया था: यह अक्सर हम भूल जाते हैं। **ऋषि** कौन थे?—उत्तर मिलता है: **प्राणाः** (जीवन के अन्तस्तत्व)। किन्तु, किस प्रकार इन प्राणों द्वारा (या ऋषियों द्वारा) सृष्टि-चक्र चल पड़ा—यह समझ सकना हमारी बुद्धि के बाहर है: क्योंकि, लिखा है—ऋषियों ने (अपिवा प्राणों ने) सात पुरुषों की रचना की और फिर सातों को मिलाकर एक महापुरुष अर्थात् **प्रजापति** खड़ा कर लिया:—

"पुरुष-रूप प्रजापति के मन में इच्छा हुई कि मेरा विकास हो, मेरा वंश बढ़े। उसने तप किया और तप का परिणाम यह हुआ कि ब्रह्म अर्थात् त्रयी विद्या प्रकट हो गई! त्रयी पुरुष के सम्पूर्ण-कलाप का आधार बनी,

क्योंकि–शास्त्रों में लिखा है कि ब्रह्म ही इस सब का आधार है और, इसीलिए, एक वेद-ज्ञ का आधार सदा स्थिर होता है (क्योंकि ऐसे पुरुष का परम आधार भी तो ब्रह्म-वेद ही होते हैं)।"

इस प्रकार किस्सा चल पड़ता है। ब्रह्म के इस मूलाधार पर स्थिर रहते हुए प्रजापति ने फिर तप करना शुरू किया : और आपः की रचना की। वेद की सहायता से उसने एक अंडे को जन्म दिया। अंडे से एक हिरण्मयी ज्वाला फूट निकली, जब—(उस फूटे) अंडे का बाहरी खोल पृथ्वी बन गया, इत्यादि-इत्यादि। कहानी बहुत लम्बी है और उसके सूत्र प्रायः अब परस्पर उलझते प्रतीत होते हैं; फिर भी–ध्यान देने योग्य बात यह है कि ब्रह्म, जो कि मूलतः मन्त्र या जादू था, क्रमशः, 'वेद' की भावना में रूढ़ होता गया! उन शुरू के दिनों में भी वह अग-जग की स्थिति का एक-एव आधार बन चुका था। सृष्टि के सिद्धान्त का मूलाधार ब्रह्म ही है :—इस दृष्टि में अब कसर कितनी रह गई थी! **शतपथ** ११. २. ३. १ में यह एक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत भी हैं :—

"शुरू-शुरू में, बस, ब्रह्म ही था। ब्रह्म ने देवताओं को रचा और देवताओं की रचना समाप्त करके ये तीनों लोक उस ने उन्हीं के हवाले कर दिये—पृथ्वी अग्नि को, अन्तरिक्ष वायु को, और द्यु-लोक सूर्य को।"

ब्राह्मण-ग्रन्थों में भारतीय दर्शनशास्त्र (में प्रसिद्ध विचारों) का बीज जो मिलता है, उसी का स्वाभाविक प्रस्फुटन-विघटन आगे चलकर आरण्यकों तथा उपनिषदों में हुआ। शाण्डिल्य की स्थापना यदि सच है (१०. ६. ३.), तो उपनिषदों के आधारभूत सिद्धान्त हमें, सब, शतपथ ब्राह्मण में ही मिल सकते हैं।

१ L. von. Schroeder : I. L. C., 127-167, 179-190; S. Levi : *La droctrine du sacrifice dans les Brāhmanas* (*Bibliotheque de l'ècole des hautes ètudes*), Paris, 1898; H. Oldenberg : *Vorwissenschaftliche Wissenschaft, die Weltanschaung der Brāhmana-Texte*, Gӧttingen, 1919, *Zur Geschichte der altindischen Prosa*, 13ff, 20ff.

२ Max Müller : *Chips* (from a German workshop), I.

३ Weber : HIL, 62f.

४ Eng. tr. by J. Eggling : SBE vols 12, 26, 41, 43, 44. And—Wackernagel (*Altind. Grammatik*, I,xxx); Keith (HOS, vol 25, 46f.); Oldenberg (*Zur Geschichte*, 20ff)—for 'comparative chronology of the Brāhmanas'.

५ **सामवेद** के इस तथाकथित **वंशब्राह्मण** में : गुरुपरम्परा में याज्ञवल्क्य ४५वां है तो स्वयं वाक्-आम्भृणी के प्रसाद से ब्राह्मण का द्रष्टा नैध्रुवि ५५वां है।

६ यही अन्धविश्वास प्राचीन रोम में भी प्रायः इसी रूप में प्रचलित थे ;

Cf. Eggling (SBE, 12, x) und Marquardt and Mommsen (Handbuch der romischen Altertümer, VI, 172, 174, 213).

७ Cf. *Faust* :

The Church has a good digestion,
Has eaten up whole lands
And yet never over-eaten herself.

८ Weber : SBA, I, 594ff.

९ मैत्रायणी-संहिता १. १०. ११, १. १०. १६, शतपथ १४. १. १. ३१; Levi (*La doctrine du sacrifice*, 156ff), Oldenberg) *Vorwischenschaftlichte*, 41ff), and Winternitz (*Die Frau im den indischen Religionen*, I, 10ff, 43)

१० Oldenberg : *Voreoissenchaftlichte*, 19ff; Levi : *La doctrine du sacrifice*, 9, 164ff.

११ जीवन (अपिवा 'अमृत') के तीन ऋणों के प्रतिपादन का पूर्वाभास **तैत्तिरीयसंहिता** ६. ३. १०. ५, **तैत्तिरीय-ब्राह्मण** १. ५. ५. ६ में हुआ है, यद्यपि ऋग्वेद ५. ४. १० में मिलता है ।

१२ Cf. the 'oxen-bringing maidens' in Honer.

१३ Cf. पाणिनि (५.२.२२): साप्तदीनं सख्यम् ।

१४ Keith sums up the whole ancient Indian tradition at HOS, 25, pp. 29f, 40f, 61f. 67.

१५ Cf. Keith : HOS, 25 p. 50.

१६ Rv, 10. 90; AGPh, I, 1, 150ff.

१७ शतपथ ४.६.४.१; ७.४.१.१६; ६.१.२.१२; ३.९.१.

१८ एतरेय ३.३३ ; शतपथ १.७.४.१, २.१.२.८; ६.१.३.८.

आरण्यक और उपनिषद्

गार्बे[1] का यह कहना कि यज्ञ-याग प्रणाली ही ब्राह्मण-युग की मरुभूमि से फूटा एक फूल है जिसे, दार्शनिक चिन्तन की प्रथम उषा से पूर्व, हम कुछ साहित्यिक मान सकते हैं : हमारी समझ में एक अतिशयोक्ति ही है। यह मानने को तबीयत नहीं करती कि ऋग्वेदीय प्रवक्ताओं के प्रतिभाशाली वंशज समय बीतने पर यज्ञयाग की प्रक्रियाओं में, छोटी-छोटी चीजों की बाल की खाल उधेड़ने में, अपने जीवन को खपा देंगे। और यदि यह सच भी हो तो क्षत्रियों के पास, और वैश्यों और शूद्रों के पास तो, पर्याप्त फालतू समय था। सचाई यह है कि—जैसे सायण ने बलपूर्वक कहा भी है कि—कल्पशास्त्र तथा कल्पशास्त्र-विषयक चिन्तन-विवेचन के अतिरिक्त, ब्राह्मणों में—इतिहास के आख्यान, पुराणों की सृष्टिसम्बन्धी कल्पनाएं, लोक-काव्य तथा वीरगाथाएं भी—पग-पग पर बिखरी नजर आती हैं। अर्थात्—महाकाव्य का युग भी ब्राह्मणों के साथ ही शुरू हो चुका था; और ये व्यय-साध्य और विशाल यज्ञ आदि हो ही न सकते यदि युग-जीवन में कला-कौशल, श्रम आदि के द्वारा सुख-वैभव पहले से जुटाए न जा चुके हों। हम तो इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकते कि उस समृद्धिशाली ब्राह्मण-युग में भारत के क्षत्रिय और व्यापारी, किसान, और गडरिये, शिल्पी और मजदूर—गीत न गाते हों, आपस में कोई किस्से-कहानी न सुनाते हों ! वैदिक वाङ्मय में ऐसे गीतों और ऐसी कहानियों का बहुत कम संगृहीत हो सका है, क्योंकि शुनःशेप सरीखे उपाख्यानों का असल माध्यम रामायण-महाभारत और पुराण थे। ब्राह्मणों में यह ऊहापोह, यह गम्भीर चिन्तन—व्याकरण, शिक्षा, ज्योतिष आदि वेदांग-विज्ञानों का कुछ-न-कुछ पूर्वरूप समर्थित करता है। दार्शनिक चिन्तन (अथवा जागरण) ब्राह्मण-युग के, पश्चात् नहीं, पूर्व शुरू हो चुका था। स्वयं ऋग्वेद में ही कुछ ऐसे सूक्त हैं जिनमें देवताओं में और पुरोहितों की अद्भुत शक्ति में जनता के अन्धविश्वास के प्रति कुछ सन्देह स्पष्ट प्रकट हो चुके हैं। प्राचीन भारत के ये प्रथम विचारक (अथवा नास्तिक) कोई इक्के-दुक्के हों, ऐसी बात भी नहीं है; वेद स्वयं अपने विचारों का प्रचार कर रहे थे, प्रत्येक वेद के अपने-अपने सम्प्रदाय थे जिनका संकेत अथर्ववेद और यजुर्वेद के बिखरे दार्शनिक सूक्तों में मिलता है (यद्यपि यह सच है कि संहिताओं की प्रवृत्ति इन दार्शनिकों का उपहास करने की अधिक है)। किन्तु इन उपहासों से भी तो यही सिद्ध होता है कि यह दार्शनिक चिन्तन भी अगली सदियों में, जब कि कर्मकाण्ड एक वैज्ञानिक रूप अख्तियार कर रहा था, साथ-साथ ही, निरन्तर, पल्लवित हो रहा था।

भारत के इन प्रथम दार्शनिकों को उस युग के पुरोहितों में खोजना उचित न होगा, क्योंकि—पुरोहित तो यज्ञ को एक शास्त्रीय ढांचा देने में दिलो-जान से लगे हुए थे जबकि इन दार्शनिकों का ध्येय वेद के अनेकेश्वरवाद को उन्मूलित करना ही था। जो ब्राह्मणयज्ञों के आडम्बर द्वारा ही अपनी रोटी कमाते हैं, उन्हीं के घर में ही कोई ऐसा व्यक्ति जन्म ले-ले जो इन्द्र तक की सत्ता में विश्वास न करे, देवताओं के नाम से आहुतियां देना जिसे व्यर्थ नजर आए : बुद्धि नहीं मानती। सो, अधिक सम्भव नहीं प्रतीत होता है कि यह दार्शनिक चिन्तन उन्हीं लोगों का क्षेत्र था जिन्हें वेदों में पुरोहितों का शत्रु—अर्थात् **अ-रि**, कंजूस, 'ब्राह्मणों को दक्षिणा देने से जी चुराने वाला'—कहा गया है।

उपनिषदों में तो, और कभी-कभी ब्राह्मणों में भी, ऐसे कितने-ही स्थल आते हैं जहां दर्शन-अनुचिन्तन के उस युग-प्रवाह में **क्षत्रियों की भारतीय संस्कृति को देन** स्वतः सिद्ध हो जाती है। **कौशितकी** ब्राह्मण (२६. ५) में प्राचीन भारत की साहित्यिक गतिविधि की निदर्शक एक कथा, राजा प्रतर्दन के सम्बन्ध में, आती है कि किस प्रकार वह मानी ब्राह्मणों से यज्ञ-विद्या के विषय में जूझता है। **शतपथ** की ११वीं कण्डिका में राजा **जनक** सभी पुरोहितों का मुंह बन्द कर देते हैं; और तो और, ब्राह्मणों को जनक के प्रश्न ही समझ में नहीं आते ! एक और प्रसंग में श्वेतकेतु—सोमशुष्म और याज्ञवल्क्य सरीखे माने हुए—ब्राह्मणों से प्रश्न करते हैं कि अग्निहोत्र करने का सच्चा तरीका क्या है; और किसी से इसका सन्तोषजनक उत्तर नहीं बन पाता। यज्ञ की दक्षिणा, अर्थात् सौ गौएं, याज्ञवल्क्य के हाथ लगती है; किन्तु—जनक साफ़-साफ़ कहे जाता है कि अग्निहोत्र की भावना अभी स्वयं याज्ञवल्क्य को भी स्पष्ट नहीं हुई। और सत्र के अनन्तर जब महाराज अन्दर चले जाते हैं, तो ब्राह्मणों में कानाफूसी चल पड़ती है 'यह क्षत्रिय होकर हमारी ऐसी-की-तैसी कर गया': ख़ैर, हम भी तो इसे सबक दे सकते हैं—ब्रह्मोद्य (के विवाद) में इसे नीचा दिखा सकते हैं ?' तब याज्ञवल्क्य उन्हें मना करता है—'देखो, हम ब्राह्मण हैं और वह सिर्फ एक क्षत्रिय है : हम उसे जीत भी लें तो हमारा उससे कुछ बढ़ नहीं जाता, और अगर उसने हमें हरा दिया तो लोग हमारी मखौल उड़ाएंगे—'देखा ?, एक छोटे-से क्षत्रिय ने ही इनका अभिमान चूर्ण कर डाला !' और उनसे (अपने साथियों से) छुट्टी पाकर याज्ञवल्क्य स्वयं जनक के चरणों में हाजिर होता है : 'भगवन् ! मुझे भी ब्रह्मविद्या सम्बन्धी अपने स्वानुभव का कुछ प्रसाद दीजिए !' (१०. ६. २; ११. ३. १. २-४; ९. ६. ३)

एक और कथा (११. ४. २. १७-२०) **अयस्थूण** की आती है जिसमें वह अपने ही पुरोहित शौल्कायन को ब्रह्मविद्या का रहस्य समझाता है। अयस्थूण स्वभावतः यजमान था; वह ब्राह्मण कभी नहीं हो सकता (यद्यपि सायण उसे

ऋषि कहता है; किन्तु ऋषि प्राचीन परम्परा के अनुसार वैदिक युग में ब्राह्मणेतर भी हो सकते थे)। ऐसा ही एक ऋषि था **कवश** जो किसी गृहदासी का पुत्र था। वह एक बार किसी महासत्र में सम्मिलित होने आया तो पुरोहितों ने गुस्से में आकर उसे खदेड़ दिया कि भूख और प्यास से आकुल होकर वह, वीरान में जाकर, मर जाए! किन्तु सरस्वती स्वयं अपने दिव्य जलों के साथ उसके निकट प्रवाहित हो आती है, उसे एक सूक्त का दर्शन होता है: और—वही ब्राह्मण तब उसे ऋषि मान कर सिर चढ़ा लेते हैं (ऐतरेय ब्रा० २. १९)!

उपनिषदों में, राजा लोग ही नहीं, साधारण स्त्रियां, अज्ञात-कुलशील, शूद्र आदि भी दार्शनिक चिन्तनों में अक्सर हिस्सा लेते हैं और स्वतन्त्र विवेचना द्वारा ब्रह्मविद्या के परमतत्व को प्राप्त कर लेते हैं। बृहदारण्यक में **वचक्नु की पुत्री** याज्ञवल्क्य को, सृष्टि उत्पत्ति के सम्बन्ध में, प्रश्नों की एक बौछाड़ में इस प्रकार उलझा देती है कि वह खौल पड़ता है: "**गार्गी**, कहीं तेरा सिर तो नहीं फटने लग गया?—'परब्रह्म' के सम्बन्ध में इस प्रकार सीमोल्लंघन नहीं करना चाहिए। कुछ हद में रहना ही अच्छा होता है।" और एक और स्थल में उसी उपनिषद् में भरी सभा के सम्मुख गार्गी याज्ञवल्क्य का एकबार फिर सामना करती है और कहती है: "मैं आज तेरे सामने उसी तरह खड़ी हूं जैसे वाराणसी या विदेह से कोई सूरमा अपने धनुष और डोरी को ढीला करके आ जाए—किन्तु दूसरे हाथ में उसके दो तेज़-तीर हों! क्या तुम मेरे दो तेज़ सवालों का जवाब दे सकोगे?" एक और मौके (बृहदार० ३. ६; ३. ८; २. ४; ४. ५) पर याज्ञवल्क्य से उसकी अपनी पत्नी **मैत्रेयी** ही जूझ पड़ती है।

इस ब्रह्मविद्या का कितना कम ज्ञान इन पुरोहितों को था—'रैक्व की कहानी' से यह बिलकुल स्पष्ट होजाता है: **रैक्व** अपने बैलों के साथ चुपचाप बैलगाड़ी की छाया में बैठा हुआ है; वैसे तो उसके जिस्म पर गरमी के मारे कुछ खाज-सी हो रही है, परन्तु मन में उसके ब्रह्मविद्या की उपलब्धि पर वही सन्तोष है जो राजाओं के मुख पर भी कम ही झलका करता है। उसी वक्त परम दानी जनश्रुति कहीं से उसके चरणों में आ टपकता है। जनश्रुति ब्रह्मविद्या का कुछ प्रसाद चाहता है। रैक्व उसकी भेंट को ठुकरा कर बेतहाशा हंस पड़ता है: 'शूद्र कहीं का!' वह मानता ही नहीं; और अन्त में जब अपनी सर्वगुणोपेत कन्या को (जनश्रुति) उसे विवाह में देने के लिए तैयार हो जाता है, तब कहीं—रैक्व उसे कुछ सिखाने को तैयार होता है, उससे पहले नहीं![२] निम्नकथा भी कितनी रोचक है और, साथ ही, कितनी शिक्षा-प्रद भी!—

> **"जबाला के पुत्र सत्यकाम ने मां के पास आकर कहा: 'मां! मैं ब्रह्मचारी होना चाहता हूं, किन्तु सभी जगह मेरे से लोग एक ही सवाल करते हैं: "तेरा वंश क्या है?"—"तेरा खानदान कौन-सा है?"**

और मां जवाब देती है : 'मेरे बच्चे, यह तो मुझे भी नहीं मालूम। जब मैं जवान थी, घर पर महमानों का तांता लगा रहता था; मैं नौकरानी थी, मुझे नहीं मालूम—मैं कैसे गर्भिणी हुई और तेरी मां बन गई! **तेरा पिता कौन है ? मैं तो बस इतना ही जानती हूं कि मेरा नाम जबाला है, तेरा नाम सत्यकाम है—तू सत्यकाम जाबाल है।'**

"वह गौतम हारिद्रुमत के आश्रम में हाजिर हुआ। हारिद्रुमत ने पूछा—'भाई! तुम किस पिता के पुत्र हो?–मुझे पहले यह तो बताओ।' और उसने उत्तर दिया—'मुझे कुछ नहीं मालूम, महाराज! मैंने अपनी मां से भी पूछा था,' और उसने सचमुच—मां का वही उत्तर शब्दशः ब्राह्मण-शिरोमणि को कह सुनाया!—जिसे सुन कर आचार्य के मुख से आप से आप निकला : 'तुम सचमुच ब्राह्मण हो : सच कहने में तुम्हें जरा भी भय नहीं हुआ!—सच्चे अर्थों में ब्राह्मण हो, एक तुम्हीं हो जो ब्रह्मविद्या के सच्चे अधिकारी हो!"

मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों में जहां शूद्र को वेद के अध्ययन का अधिकार है ही नहीं और केवल ब्राह्मण को ही वेद-विद्या के अध्यापन का अधिकार है, उपनिषदों के उस प्राचीन युग में—प्रत्युत—ब्राह्मण के घर जन्म ले-लेना कुछ श्रद्धेय (वस्तु) नहीं समझा जाता था। तब तो, हम स्थान-स्थानपर उल्लेख पाते हैं कि किस प्रकार ब्राह्मण ही क्षत्रियों से और राजाओं से ब्रह्मविद्या सीखने जाया करते थे! श्वेतकेतु का पिता इसी ब्रह्मविद्या को अधिगत करने के लिए **प्रवाहण** राजा के पास पहुंचा था। राजा ने कहा—यह तो कुछ जंचता नहीं—उल्टे बांस बरेली को! किन्तु यह कह कर विनम्रता के साथ उसने कहना शुरू किया कि 'जो विद्या आज मैं तुम्हें देने चला हूं वह आज तक किसी ब्राह्मण के पल्ले नहीं पड़ी। क्षत्रिय जाति ने ही उस पर अब तक एकाधिकार किया हुआ था। और फिर **पुनर्जन्म**[3] (अपिवा आवागमन) के सिद्धान्त का निरूपण आरम्भ होता है : **क्षत्रिय मर कर ही अमर हुआ करता है—आत्मा कभी मरता नहीं!** यही-कुछ तो ब्रह्मविद्या का, दो शब्दों में, सार है; ना? एक और प्रसंग में स्पष्ट अंकित है कि उपनिषदों की सार विद्या—आत्मज्ञान—का अभ्युदय और विकास ब्राह्मणों में नहीं हुआ था। पांच परम ज्ञानी ब्राह्मण **उद्दालक आरुणि** के शिष्य बन कर आते हैं। आरुणि घबरा जाता है कि इतने प्रसिद्ध विद्वान् आज मेरे पास आए हैं : कोई ऐसा प्रश्न न पूछ बैठें कि मुझसे उसका उत्तर न बन पाए! क्यों न मैं इन्हें किसी और का दरवाज़ा दिखा दूं?' और उसने यही किया—उन ब्राह्मणों को केकय के राजा **अश्वपति** के यहां भेज दिया![4]

इस प्रकार जहां ब्राह्मण यज्ञयाग आदि की नीरस प्रक्रिया से लिपटे हुए थे, **अध्यात्म-विद्या** के चरम प्रश्नों पर और-लोग स्वतन्त्र-चिन्तन कर रहे थे। इन्हीं ब्राह्मणेतर मण्डलों से ऐसे वानप्रस्थों तथा रमते परिव्राजकों का सम्प्रदाय उठा—जिन्होंने न केवल संसार और सांसारिक सुख वैभव से अपितु यज्ञादि की नीरसता से भी अपना सब नाता तोड़ लिया था! आगे चलकर बौद्ध, जैन आदि विभिन्न ब्राह्मण-विरोधी मत-मतान्तरों का जन्म इन्हीं स्वतन्त्र चिन्तकों—तथा-कथित नास्तिकों—की बदौलत ही सम्भव हो सका : यह भी एक ऐतिहासिक तथ्य है; प्राचीन यज्ञादि सिद्धान्तों के भस्मशेष से इन स्वतन्त्र विचारों की परम्परा बही—यह भी एक (और) ऐतिहासिक तथ्य है। न याज्ञिकों में 'ज़िद' कुछ घर कर आती, और न यह नयी दृष्टि कुछ संभव हो सकती।

इस सब का यह मतलब न समझा जाए कि ब्राह्मणों का उपनिषदों के दार्शनिक चिन्तन में कोई भाग था ही नहीं, क्योंकि प्राचीन गुरुकुलों में एक ही आचार्य की छत्रछाया में ब्राह्मण-पुत्रों, क्षत्रिय-पुत्रों की शिक्षा-दीक्षा का तब प्रबन्ध था; और यह स्वाभाविक ही प्रतीत होता है कि विभिन्न समस्याओं पर समय-समय पर उन दिनों विचार-विनिमय भी बिना किसी भेद-भाव के हुआ करते हों।[५] इसके अतिरिक्त, हर-एक ब्राह्मण पौरोहित्य की कला में दीक्षित हो—यह जरूरी नहीं था। ब्राह्मण लोग भी, गरीब और अमीर दोनों, भिन्न-भिन्न धन्धों में जुटे होते :[६] रोटी के लिए क्या कुछ नहीं करना पड़ता ? और इन (अपने हाथ से अपनी रोटी कमाने वाले) ब्राह्मणों में भी आत्मा और पुनर्जन्म आदि सरीखे नवीन सिद्धान्तों के प्रति सहानुभूति भी रहती ही होगी। और, अन्त में, हम यह भी न भूल जाएं कि (भारत के इतिहास में) ब्राह्मणों में ही यह प्रतिभा पाई जाती है कि वे अपनी घिसी-पिटी उपेक्षित विद्या में भी नए—विरोधी भी क्यों न हों—विचारों की संगति बिठा सकते हैं : आश्रम-व्यवस्था को, इसी विशिष्टता के साथ, चुपचाप उन्होंने अपने (ब्राह्मण) धर्म का अंग बना लिया—वानप्रस्थ और संन्यासी लोग भी उन्हीं की प्राचीन व्यवस्था में समा गए ! आश्रम-व्यवस्था के अनुसार—शूद्र के अतिरिक्त तीनों वर्णोंके लिए चारों आश्रमों में से गुजरना आवश्यक होता है। जीवन के प्रथम सोपान में हर व्यक्ति को ब्रह्मचारी रह कर वेदाध्ययन करना होता है, और तब कहीं—वह गृहस्थ में प्रविष्ट होने का अधिकारी बनता है। अन्य आश्रम निरग्नि हैं; यज्ञवह्नि का अधिकार केवल गृहस्थ को ही दिया गया है : सो, ब्रह्मचारी या वानप्रस्थ या संन्यासी—न देव-पूजा कर सकता है, और न उसके मरने पर उसे कोई मुखाग्नि ही अर्पित कर सकता है। गृहस्थ-नियम पालन करके जीवन के तृतीय सोपान में प्रविष्ट होना हर-एक के लिए अनिवार्य है—कि एकान्त में आकर

जीवन पर, यज्ञ-आदि की उदात्तता पर, सृष्टि के रहस्यों पर, कुछ आत्मचिन्तन करे; और एक अवस्था, अन्त में, वह भी आ सकती है जब यह यज्ञ-भावना, यह यज्ञ-चिन्तन, यह लोक-कल्याण का मार्ग भी छोड़ देना होता है!—सच्चे अर्थों में संसार और सांसारिकता का त्याग करके सर्वात्म में, सृष्टि के अन्तर्यामी सूत्र में, ब्रह्म में, अपने बचे-खुचे आपे को,स्वार्थ को, विलीन कर दो : यही कुछ तो ब्रह्मविद्या का उत्कर्ष है!

ब्राह्मण-ग्रन्थों के अन्तिम भाग में, प्रायः परिशिष्ट रूप में, आरण्यकों का संकलन हुआ है जिनमें प्रायः जो-कुछ-भी लौकिक जीवन में रहस्यात्मक होता है, प्रच्छन्न होता है—जो लोग विधिवत् दीक्षित नहीं हैं उनसे दूर रखना ही जिसे श्रेयस्कर है—गंवई-गवारों के सम्मुख जिस पर भूल कर भी समझदार जबान न खोले : ऐसा ही ज्ञान-विज्ञान (आरण्यकों में) सुरक्षित समझा जाता है। इसमें असल बात फकत इतनी ही है कि आरण्यकों में, यज्ञ-कर्मकाण्ड आदि के व्यर्थ के ऊहापोह में न पड़ कर, मनुष्य यदि दो-क्षण भी यज्ञिय जीवन की अन्तर्भावना को, अन्तर्दृष्टि को, स्वगत कर लेता है, तो—एक ऐसा जीवन ही (एक सफल) जीवन कहा जा सकता है। जब आश्रम-धर्म को स्वयं ब्राह्मणों ने 'आदर्श जीवन' का एक अपरिहेय साधन मान लिया, तब वानप्रस्थों एवं परिव्राजकों का स्वभावतः यह कर्त्तव्य ही बन गया कि वे इस आदर्श-जीवन के सम्बन्ध में कुछ वैदिक विधि-विधान प्रस्तुत कर दें। बात यह है कि प्राचीन उपनिषदें, पूरी नहीं तो अंशतः, वस्तुतः इन आरण्यकों का अंग बन कर ही आई हैं—दोनों में एक विभाजक रेखा खींच सकना कि कहां एक आरण्यक समाप्त होता है और कहां (उससे संलग्न) उपनिषद् का आरम्भ होता है—असम्भव है। आरण्यक और उपनिषद्, मिला कर, इस प्रकार शब्द के प्रायः सभी अर्थों में सचमुच-वेदा-न्त हैं। किन्तु इतना स्मरण रहे कि ये ग्रंथ वैदिकयुग के अन्त में आए और हम यह भी न भूल जाएं कि तब गुरु-शिष्य परम्परा लिखित पुस्तकों पर आश्रित नहीं हुआ करती थी। एक 'ब्राह्मण' को हम पुस्तक या ग्रन्थ इसी दृष्टि से समझ सकते हैं कि उन दिनों ब्राह्मणों के विभिन्न सम्प्रदायों में, कहीं, उसके अन्तर्गत विषयों के शिक्षण-अध्यापन का प्रबन्ध था। यह प्रशिक्षण-अध्यापन बिना किसी आचार्य की छत्रछाया में कुछ वर्ष शुश्रूषा में गुजारे सम्भव नहीं हो सकता था, और इस शिक्षा-प्रणाली का सबसे दुरूह भाग—दर्शन, रहस्य, नूतन परीक्षण आदि जो कुछ भी आरण्यकों तथा उपनिषदों में संगृहीत है—विद्यार्थि-काल के प्रायः अन्तिम दिनों में ही तब अध्ययन का विषय बना करता था। सो, ये 'ग्रन्थान्त'—वेदारम्भ का एक प्रकार से परला सिरा (ग्रन्थि-अन्त?) समझे जाते थे, और आज भी समझे जाते हैं। दार्शनिकों की सूक्ष्मबुद्धि जब आगे चल कर जवाब देने लगी, तो उन्होंने उपनिषदों

में प्रतिपादित इन सिद्धान्तों को वैदिक अनुचिन्तन की परिसमाप्ति के रूप में नहीं पाया था (कि एक युग का अन्त हो चुका है), अपितु--इन्हें वेद का और भारतीय दर्शनशास्त्र का परम ध्येय समझते हुए--उन्होंने स्व-तन्त्र (किसी भी प्रकार के नूतन) चिन्तन को ही उन्होंने तिलांजलि दे दी !

वेदान्त-रूप में उपनिषदों का सम्बन्ध विभिन्न वैदिक सम्प्रदायों से किया जाता है। और, उसी रूप में, वस्तुस्थिति यह है कि उन्हें वेदों का अन्तिम भाग न समझ कर ब्राह्मणों के परिशिष्ट रूप में ही माना जाना उचित है। इस प्रकार : **ऐतरेय** उपनिषद् जहां ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मग के अन्त में जुड़े ऐतरेय आरण्यक का परिशिष्ट है, तो **कौशीतकी** उपनिषद् उसी प्रकार कौशीतकि-ब्राह्मण से संलग्न कौशीतकि-आरण्यक का। कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय आरण्यक वास्तव में तैत्तिरीय ब्राह्मण का ही विस्तार है जिसकी परिसमाप्ति दो उपनिषदों--**तैत्तिरीय** तथा **महानारायण**—में होती है। शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण की १४ वीं कांडिका का प्रथम-तिहाई यदि एक आरण्यक है तो शेष दो-तिहाई स्वयं ब्रह्मोद्य-शिरोमणि **बृहदारण्यक** उपनिषद् है। **छान्दोग्य** उपनिषद्--जिसका प्रथम भाग वस्तुतः एक आरण्यक है—शायद सामवेद के ताण्ड्य महाब्राह्मण का ही एक अंश है। तथा-कथित **जैमिनीय** उपनिषद्—ब्राह्मण (!)—सामवेद के जैमिनीय अथवा तलवकार सम्प्रदाय का एक आरण्यक है, जिसकी पूर्णाहुति **केन** (अर्थात् तलवकार) उपनिषद् में हुई है।

महानारायण उपनिषद् के अतिरिक्त, उक्त सभी उपनिषदें उपनिषद्-युग की प्राचीनतम रचनाएं हैं। **भाषा और शैली** में वे ब्राह्मण-ग्रन्थों का ही अनुकरण करती हैं। छोटे-छोटे वाक्य, जो बहुत कम स्थलों पर अस्पष्ट हैं, कवित्वमयता के साथ प्रस्फुटित होते हैं। **केनोपनिषद् का आधा हिस्सा ही पद्यमय है और, सम्भवतः, मुख्य उपनिषद्-युग की यह अन्तिम कृति है।** यद्यपि, जैसा कि दाऊसन ने कहा है, 'उपनिषदों में प्राचीन तथा अर्वाचीन भाग साथ-साथ ही संकलित होने से प्रत्येक उपनिषद् का एक अपना युग ही निर्धारित होना चाहिए, भाषा की दृष्टि से (यदि और समर्थन हमें न भी मिल सके) उपनिषदों के ये अन्तिम भाग भी पर्याप्त-प्राचीन ही ठहरेंगे, और बृहदारण्यक तथा **छान्दोग्य** जैसी महोपनिषदों के सम्बन्ध में सम्भवतः हमारा निश्चय यही सिद्ध हो कि अनेक छोटी-छोटी उपनिषदों को मिलाकर इनका कलेवर समय-समय पर बढ़ता रहा'; इस स्थापना से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि समय-समय पर कुछ अंश एक से अधिक उपनिषदों में, प्रायः एक ही रूप में, संकलित हो गए ! कुछ हो, इन बड़ी उपनिषदों का मूल स्वरूप प्रायः उनसे सम्बद्ध ब्राह्मणों और आरण्यकों के युग में निश्चित हो चुका था; और वह युग बुद्ध

तथा पाणिनि के पश्चात्—भारत के इतिहास में—असम्भव है। **ऐतरेय, बृहदारण्यक, छान्दोग्य, तैत्तिरीय, कौशीतकी और केन**—इन छः उपनिषदों को हमने इसी युक्ति के आधार पर उपनिषद्-वाङ्मय के विकास में प्रथम सोपान माना है कि इन्हीं में **वेदान्त का विशुद्ध मौलिक** रूप संगृहीत है।

कुछ उपनिषदें पूर्ण रूप में, अथवा आंशिक रूप में, पद्यबद्ध मिलती हैं। इस दृष्टि से इनका काल, यद्यपि अपेक्षया कुछ पीछे आना चाहिए, फिर भी बुद्ध से पूर्व ही स्थिर होगा। इनका सम्बन्ध भी विभिन्न वैदिक शाखाओं के साथ किया जाता है, यद्यपि इनके तत्सम्बन्धी आरण्यक हमें आज नहीं मिलते। इस श्रेणी में हम कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध **कठोपनिषद्** को ले सकते हैं। तैत्तिरीय आरण्यक के अन्तिम भाग में संगृहीत **श्वेताश्वतर** तथा **महानारायण** कृष्ण यजुर्वेद के 'विकाश' में ही गिनाई जाती है; और, उपनिषदों में सम्भवतः सबसे छोटी उपनिषद्, **ईश** स्वयं वाजसनेयिसंहिता का अन्तिम अध्याय है। गद्य-पद्य मिश्रित मुण्डक तथा **प्रश्नोपनिषद्** अथर्ववेद की उपनिषदें हैं। उपनिषदों का मूल विषय यद्यपि वेदान्त ही होना चाहिए, वेदान्त सिद्धान्तों के प्रतिपादन के साथ-साथ, **एकेश्वरवाद तथा सांख्य-योग का समन्वय** भी इनके अनुसन्धान में हमें प्रायः समाविष्ट मिलता है। मूल उपनिषदों में ये दार्शनिक विचार समय-समय पर कैसे, क्यों, और किस रूप में, समन्वित होते गए—इसकी खोज हमारे प्रस्तुत इतिहास का विषय नहीं है, हम तो बस इतना ही कह सकते हैं कि आनेवाली पीढ़ियों ने इनके साथ छेड़खानी की : इसमें कोई सन्देह नहीं। एक महानारायण उपनिषद् के ही कम-से-कम तीन पाठ-भेद मिलते हैं जिससे उपनिषदों की प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ सन्देह अब रह ही नहीं जाता। कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध **मैत्रायणी** उपनिषद् को हम एक अर्वाचीन उपनिषद् ही मान सकते हैं जो कभी **बुद्धोत्तर-युग** में ही लिखी गई : यद्यपि इसकी भाषा गद्यमय है, परन्तु इस गद्यमयता में वह प्राचीन वैदिक स्पर्श नहीं; भाषा, शैली तथा विषय की दृष्टि से भी यह संस्कृत के 'लौकिक युग' की एक कृति प्रतीत होती है। इसी युग में अथर्ववेदीय **माण्डूक्य** उपनिषद् भी लिखी गई। ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते हुए शंकर ने इन्हीं बारह उपनिषदों को प्रामाणिक एवं मौलिक घोषित किया है (जिनमें मैत्रायणी तथा माण्डूक्य का उल्लेख, अलबत्ता, नहीं मिलता)।

यद्यपि ये दोनों उपनिषदे किसी वेदोत्तर युग की (अर्वाचीन-तम) रचनाएं हैं, फिर भी उन्हें मूल बारह वैदिक उपनिषदों के प्रसंग में गिनाने की प्रथा है। और सो, 'प्राचीन भारतीय दर्शन' के इतिहास में इन चौदह उपनिषदों का स्थान एक आधार शिला वत् ही है। शेष उपनिषदें (जो परम्परा ने हमें दी हैं, पृथक्-पृथक्, अथवा संग्रहों के रूप में, दो सौ) उसी पुरानी प्रथा के अनुसार वेद-वाङ्मय की

किसी न किसी शाखा से ही प्रसूत समझी जाती हैं, यद्यपि वैदिक वाङ्मय से उनका कोई वास्तविक सम्बन्ध कई बार नहीं होता। ये परतर उपनिषदें प्रायः, दार्शनिक न होकर, धार्मिक अधिक है। किसी उत्तर-युग के धार्मिक एवं दार्शनिक मत-मतान्तरों के विचारों का संग्रह इनमें कर दिया गया है, जो काल तथा विषय की दृष्टि से निकट पौराणिक अथवा तान्त्रिक ही ठहरता है। इस उत्तरयुगीन उपनिषद्-वाङ्मय को लक्ष्य तथा विषय की दृष्टि से इन छः श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है :

"१. वे उपनिषदें जिनका प्रतिपाद्य **वेदान्त** ही है;
२. वे उपनिषदें जिनका प्रतिपाद्य **योग** है;
३. वे उपनिषदें जिनमें **संन्यास** की महिमा गाई गई है :
४. वे उपनिषदें जिनमें **विष्णु** का स्तवन हुआ है ;
५. वे उपनिषदें जिनमें **शिव**स्तोत्र संकलित हैं ; और—
६. शाक्तों तथा अन्य छोटे-मोटे **सम्प्रदायों की** अपनी-अपनी उपनिषदें।"

इन उपनिषदों में गद्य के साथ-साथ महाभारत-रामायण की शैली में कुछ श्लोक भी मिलते हैं—जिन्हें विकास की दृष्टि से पुराणों और तन्त्रों के युग से पूर्व नहीं माना जा सकता। किन्तु साथ ही—इनका कुछ-न-कुछ अंश—वैदिक परम्परा में अनुस्यूत है, इसमें कोई सन्देह नहीं, और सो—'प्राचीन' भी है। अर्वाचीन उपनिषदों में ऐसी कुछ 'प्राचीन' उपनिषदों के नाम ये हैं :—**जाबाल उपनिषद्** जिसे स्वयं शंकर ने प्रामाणिक माना है और जिसमें एक 'परमहंस'-नाम के (अज्ञात संन्यासी) का (कवित्वमयी भाषा में) जीवन अर्पित है : **परमहंस उपनिषद्** जिसमें परमहंस पद के इच्छुक व्यक्तियों के लिए कल्याण का मार्ग सुझाया गया है; **सुबाल उपनिषद्**, जिसके विपुल कलेवर से रामानुज ने सृष्टि-विज्ञान, शरीर-विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अध्यात्म-विज्ञान परक कितने ही उदारण लिए हैं; गर्भोपनिषद्, जो गर्भशास्त्र-विषयक एक स्वतन्त्र कृति न हो कर वस्तुतः गर्भ में स्थित अजात-शिशु की एक स्तुति है 'किं उसका पुनर्जन्म न होवे'; **अथर्वशिरस् उपनिषद्**, जो शैव सम्प्रदाय में प्रसिद्ध है और धर्मसूत्रों में जिसका उल्लेख प्रायः पाप-विवेचन के प्रसंग में बड़ी श्रद्धा-भक्ति के साथ किया जाता है। **वज्रसूचिका उपनिषद्**—जिसका प्रतिपाद्य विषय एक 'स्वात्मनि अद्वैत-सिद्धि प्राप्त कर चुके सन्त' की प्रशस्ति है "कि वही सच्चा ब्राह्मण है न-कि किसी ब्राह्मणी के पेट से जन्मा एक मांस-पिण्ड"—न विषय की दृष्टि से, न भाषा की दृष्टि से, "आधुनिक" मानी जा सकती है। इन उपनिषदों का काल-निर्णय करना इसलिए भी मुश्किल हो जाता है कि इनके पाठ-भेद जो हमें मिलते हैं, उनके कलेवरों में परस्पर अन्तर—ो-चार पंक्तियों का न होकर—पृष्ठों तक पहुंच जाता है!

प्रायः ये अवदिक उपनिषदें संग्रह-रूप में ही हमें मिलती हैं; किन्तु ये संग्रह —कोई बहुत पुराने नहीं प्रतीत होते। यद्यपि शंकर ने नवीं सदी में भी इन्हें वैदिकवत् माना है, और—बारहवीं सदी में रामानुज, इनसे उद्धरण पेश करता हुआ, छन्दोगों, वाजसनेयियों, कौशीतकियों की चर्चा करता है, तथापि—एक सुबाल ही इन उपनिषदों में ऐसी है जिसका रामानुज ने नाम के साथ स्मरण किया है। **मुक्तिकोपनिषद्** में तो एक सौ आठ वैदिक उपनिपदों को नाम से सचमुच गिना भी दिया गया है कि 'इनके अध्ययन से मनुष्य मुक्ति पा सकता है'; और इन १०८ उपनिषदों का सम्बन्ध भी चारों वेदों से इस प्रकार है: १० ऋग्वेद की उपनिषदें, १९ शुक्ल यजुर्वेद की, ३२ कृष्ण की, १६ सामवेद की और ३१ अथर्ववेद की। किन्तु इस विभाजन का आधार कोई प्राचीन परम्परा थी—यह कह सकना मुश्किल है; सामान्यतः, सभी वैदिक उपनिषदों को अथर्ववेद से सम्बद्ध कर देने की प्रथा है, क्योंकि—स्वयं अथर्ववेद की महिमा वैदिक वाङ्मय में प्रायः सन्दिग्ध ही रही है; ऐसे सन्दिग्ध वाङ्मय को अथर्ववेद के साथ सम्पृक्त करने में कोई आपत्ति न उठ सकती थी। उपनिषद् का शाब्दिक अर्थ भी तो **आत्मा-सम्बंधी रहस्य का उद्घाटन** ही होता है; सो, जो-कुछ-भी दुनिया में **रहस्यमय** समझा जा सकता हो उसका निवेश **अथर्ववेद** (के रहस्यों से भरे थैले) में बड़ी आसानी के साथ किया ही जा सकता था!

उपनिषद् शब्द **उप-नि-षद्** इन तीन अंगों से मिलकर बनता है। सो, व्युत्पत्ति से इसका अर्थ होता है—किसी के चरणों में बैठना—और, शुरू-शुरू में, यह रहस्योद्घाटन आचार्य का अन्तेवासी बने बिना किसी के लिए भी सम्भव नहीं हो सकता था। **व्यक्तिगत सम्पर्क की अनिवार्यता ने उसी सर्वसाधारण अनुभव को भी रहस्यमय कर दिया**! स्वयं उपनिषदों में ही, उपनिषद् का—एक और पर्याय यह 'रहस्य' शब्द यत्र-तत्र आता है: **इति रहस्यम्, इति उपनिषद्**। यही नहीं, रहस्य को अनधिकारी के हाथ कभी न देना चाहिए—ऐसे संकेत भी उपनिषदों में कम नहीं हैं। छान्दोग्य ३. २ में तो यहां तक लिखा है कि ब्रह्मविद्या पिता अपने पुत्र को ही, और आचार्य अपने प्रिय शिष्य को ही, दे तो दे; अजनबी को भूल कर भी न दे, क्यों-न वह अजनबी पृथ्वी की सारी सम्पत्ति, भले ही, आचार्य के चरणों में लाकर धर दे। कितने ही और स्थलों पर हम पढ़ते हैं कि शिष्य बनने की इच्छा से लोग आते हैं और मिन्नतें करते हैं कि गुरुजी हम पर कृपा दृष्टि करें; लेकिन गुरु जी हैं कि बड़ी मुश्किल से ही टस-से-मस होते हैं—कुछ सिखाने को तैयार होते हैं! शब्द की इस मूल दृष्टि से परीक्षा करें, तो उपनिषदों में क्या-कुछ नहीं भर लिया गया?!—भानमती की इस पिटारी में रहस्य ही रहस्य भरे होते, जिन्हें यत्न-पूर्वक साधारण लोगों की आंख से दूर रखा जाता।

कुछ विश्वासपात्र जनों को ही इन रत्नों के दर्शन की अनुमति होती—क्यों-न वह 'रत्न' कोई दार्शनिक सिद्धान्त हो अथवा एक निरर्थक संकेत या उपमा-मात्र, अथवा जादू की छड़-सी कोई यज्ञगत प्रक्रिया ही हो (जिसे ब्राह्मण प्रायः और भी उलझा दिया करते थे)। प्राचीन उपनिषदों में भी ऐसी उल्टी-सीधी चीजें मिलती हैं, यद्यपि उनका मुख्य स्थान अथर्ववेदीय उपनिषदों में ही कुछ-उपयुक्त था।

इसका एक उदाहरण (कौशीतकी उपनिषद् से) ही पर्याप्त समझा जाना चाहिए—जहां मनोवैज्ञानिक, आध्यात्मिक तथा मृत्यु और परलोक विषयक स्पष्टीकरणों के अतिरिक्त यज्ञ-याग की विधि पर, पुण्यार्जन पर, गान्धर्व-तन्त्रों पर, मरे बच्चों को जिलाने के सम्बन्ध में, या फिर शत्रुओं को तहस-नहस कर देने का सामर्थ्य रखने वाले जादू-मन्त्रों से—पृष्ठों पर पृष्ठ भरे पड़े हैं। इसी प्रकार सृष्टि, ब्रह्माण्ड तथा आत्मा परक चिन्तनों के बीच में **प्रणव का अनुध्यान** तथा विविध रोगों की अचूक चिकित्सा आदि के सम्बन्ध में रहस्यमयी, तांत्रिक प्रक्रियाएं छान्दोग्य उपनिषद् में कैसे आ गई : यह भी एक समस्या है। अथर्ववेदीय उपनिषदों की स्थिति तो है ही सर्वथा पृथक् कि जहां एक सम्पूर्ण उपनिषद्—**गरुड़**—सांपों को वश में करने के लिए एक अचूक नुस्खा है जिसे केवल सपेरे लोग ही समझ सकते हैं।

औपनिषदिक दर्शन की चर्चा करते हुए इन सब बातों को हम भुला न दें; क्योंकि उपनिषदों में दार्शनिकों के गम्भीर अनुचिन्तन भी, 'ही' नहीं, यत्र-तत्र प्रकीर्ण हैं। इस दृष्टि से हम शायद ही किसी उपनिषद् को एक स्वतन्त्र दर्शन का नाम दे सकें, क्योंकि—किसी भी उपनिषद में न तो किसी प्रसिद्ध दार्शनिक के सिद्धान्तों का प्रतिपादन है, न किसी विशिष्ट दार्शनिक सम्प्रदाय का, किसी भी परम्परा का अविच्छिन्न रूप इनमें मिलता हो—यह भी नहीं कहा जा सकता, और न-ही इनमें कुछेक युगों को एकसूत्रित करने का प्रयत्न ही कहीं इनमें दृष्टि-गोचर होता है।

अस्तु; हमारा विषय, यहां, अब उपनिषदों के उन मूल विचारों का परिचय देना होगा जो कि मूल वेदान्त के आधारभूत सिद्धान्तों के रूप में प्रायः सर्वसम्मत हैं।

इन्हीं सिद्धान्तों को हम, एक प्रकार से, उपनिषदों का अपना दर्शन कह सकते हैं। ये पंक्तियां हम इसलिए लिख रहे हैं कि कहीं विद्यार्थी उपनिषदों के प्रत्येक शब्द की, प्रत्येक अध्याय की, तुलना प्लैटो-सरीखे मान्य दार्शनिकों के संवादों अथवा विवेचनों से न कर बैठें, यद्यपि—यह सच है कि ग्रीक संस्कृति के उस युग से सदियों पूर्व भारत में वही उड़ान, वही कवित्वमयता, और वही सूक्ष्म-गम्भीर अन्तर्दृष्टि हमें यहां मिलती है, और यह भी सच है कि जिस प्रकार प्लैटो के संवादों

में प्राचीन यूनान का जीता-जागता चित्र सामने आ जाता है, उसी प्रकार याज्ञवल्क्य के विवादों में भी प्राचीन भारत की वे राजसभाएं, जंगलों में रमते-राम वे अभय तपोधन, वे अन्तर्विध विदुषियां, फिर मे जाग उठती हैं—हमें अपने तीव्र प्रश्नों से एकबार फिर हतप्रभ कर देती हैं, उन उपनिषदों में सचमुच वह प्राचीन जीवन, वह उत्सुकता, वह अनासक्ति, वह नम्रता, वह अगेह वृत्ति—समुद्र में एकीभूत होती हुई वे दिग्दिगन्त से आती धाराएं, संवत्सर की महानता में अदृष्ट होती हुई वे ऋतुए और वे मास-परिक्रमाएं... आज भी अपनी मूल गतिविधि में, अपनी सजीवता में, प्रत्यक्ष हो आती हैं। किन्तु, इनके साथ ही—अर्थात् इस उदात्त और भव्य कल्पना-लोक में—बहुत कुछ ऐसा भी है जिसे दार्शनिकता अथवा साहित्य की दृष्टि से कुछ बहुत-ऊंचा नहीं कहा जा सकता।

१ Beiträge zur indischen Kulturgeschichte, 6.
२ छान्दोग्य ४.१.३.
३ छान्दोग्य ५.३; बृहदा ६.२; कौशीतकी I, 1.
४ छान्दोग्य ५.११—, शतपथ १.६.१.
५ S. Dasgupta : Hist. of Ind. Phil., I, 33ff.
६ Oldenberg : *Die Lehre der Upanisheden*, 5.

उपनिषदों का मूल प्रतिपाद्य

जिस सिद्धान्त को उपनिषदों का मूल प्रतिपाद्य—अर्थात् सभी उपनिषदों में प्रायः एक ही रूप में प्रस्तुत महान् आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में—स्वीकार किया गया है, उसे एक वाक्य में इस प्रकार संहृत किया जा सकता है :

"यह विश्व ही ब्रह्म है :

और ब्रह्म और कुछ नहीं—हमारा अपना ही अन्तर-तम है।"

इसी का यदि पाश्चात्य दर्शन की भाषा में उलथा करना हो तो हम कहेंगे कि 'कुछ-है-जो (परमेश्वर) विश्व में भी समाया हुआ है और अन्तरात्मा में भी।'

इस प्रकार उपनिषदों के मूलभूत सिद्धान्त तो हैं—**ब्रह्म** और **आत्मा** जिन पर कि उपनिषदों की फिलासफी का भव्य प्रासाद खड़ा है। पहला प्रश्न 'ब्रह्म' की व्युत्पत्ति का है जिसे 'सेंट पीटर्सबर्ग डिक्शनरी' में इस प्रकार समझाया गया है : 'ब्रह्म भक्ति का वह स्वरूप है जिसे हम आत्मा की स्पन्दना, प्रवृत्ति एवं परिपूर्णता कह सकते हैं, और इस प्रवृत्ति का अर्थ होता है—मनुष्य के अन्दर दैवी प्रवृत्ति का जागरण'; जबकि दाऊसन के शब्दों में वही ब्रह्म 'मनुष्य की देवाभिमुखी अदम्य-आकांक्षा' है। शब्द के ये अर्थ प्रायः यहूदी (और ईसाई) धर्म के परमेश्वर-सम्बन्धी विश्वासों से प्रसूत प्रतीत होते हैं, क्योंकि—संहिताओं और ब्राह्मणों में देवों और मनुष्यों के बीच जो सम्बन्ध चित्रित हुआ है वह पाश्चात्य दृष्टि से कतई मेल नही खाता; दोनों दृष्टियां परस्परविरोधी-सी जान पड़ती हैं। शब्द की व्युत्पत्ति यद्यपि सन्देहास्पद है, तथापि स्वयं वेद में कितनी बार **स्तुति, मन्त्र, उपासना** को ब्रह्म का पर्यायवाची-सा मान लिया गया है, भक्ति का तो—और खास कर 'भक्ति की मनुष्य को अपने-आपे में न रखे-रखने की प्रवृत्ति' का—इन मन्त्रों में, अपिवा मन्त्रांशों में, कहीं भी कोई संकेत उपलब्ध नहीं होता। वैदिक मन्त्रों और मन्त्रांशों में शुरू से ही कुछ अद्भुत शक्ति ('ब्रह्म' में) केन्द्रित है : ऐसा (वैदिक याज्ञिकों का) विश्वास चला आता है—यह शक्ति देवताओं तक को (पुजारी की स्वार्थ-पूर्ति के लिए) मजबूर कर सकती है। पीछे चल कर जब इन मन्त्रों और मन्त्रांशों को, एक 'तन्त्र' करके, संहिताओं में संकलित कर दिया गया, तब—इन्हें एक और नाम दे भी दिया गया—**त्रयी विद्या** (अथवा ब्रह्म)। किन्तु—क्योंकि वेद अथवा ब्रह्म को वही भारतीय परम्परा सृष्टि के आदि से अपौरुषेय (अर्थात् ईश्वर-कृत) मानती आई है, और क्योंकि वही वेद (अपिवा ब्रह्म) शब्द पुनः **यज्ञ** अथवा **यज्ञ** की **अतिमानव शक्ति** के लिए भी प्रयुक्त होता था—यह यज्ञ-

प्रक्रिया भी तो मूलतः वेद-प्रसूत (अपिवा ब्रह्म-प्रसूत) थी ही—ब्रह्म को ही **सृष्टि** के विकास में प्रथम-ज मानते हुए उसे स्वयं-भू—अर्थात् सृष्टि का कर्त्ता, धर्त्ता, संहर्त्ता—स्वभावतः माना जाने लगा। इसी दृष्टि से, ब्रह्म एक दैवी सिद्धान्त भी है, याज्ञिकों की तथाकथित दार्शनिकता का आश्रय भी है : क्योंकि—इसकी व्याख्या यज्ञ के पुराने रीतिरिवाजों के आधार पर एक तरह से की भी जा सकती है !

'आत्मा' शब्द का इतिहास, अलबत्ता, इतना जटिल नहीं है यद्यपि व्युत्पत्ति इसकी भी शायद उतनी ही सन्देहपूर्ण है। प्रायः इस शब्द का सम्बन्ध $\sqrt{}$अन् धातु से किया जाता है :—अर्थात् **प्राण, उच्छ्वास**। दाऊसन की प्रवृत्ति दो मूल शब्दों के मिश्रण से आ-त्मन् शब्द को सिद्ध करने की प्रतीत होती है—'अयं अहं'। कुछ हो, प्रयोग की दृष्टि से 'आत्मा' जहां एक दार्शनिक परिभाषा है, वहां लौकिक संस्कृत में भी उसका अर्थ कुछ-न-कुछ स्पष्ट है ही। 'आत्मा' का अर्थ होता है अन्तःकरण—जो मूल में सर्वनाम होता हुआ भी अन्तःकरण तथा बाह्य-करण, अंगी तथा अंगांग—के (परस्पर-विरोधी किन्तु व्यवच्छेदक)—अर्थों में (लौकिक संस्कृत में) सामान्यतः प्रयुक्त होता भी है।

उपनिषदों में **ब्रह्म और आत्मा(की इन दो कल्पनाओं)का समन्वय** कर दिया गया है। **शाण्डिल्य** के प्रसिद्ध दर्शन का प्रतिपादन इन शब्दों के साथ आरम्भ होता है : 'सचमुच यह सब ब्रह्म ही है', और, आत्मा का विवेचन करते हुए, उपसंहार इन शब्दों में होता है कि 'सच पूछो तो, ब्रह्म और आत्मा एक ही हैं' :

> **"यह आत्मा, जिसे मैं अपना आपा (स्व-रूप) मानता हूं, वास्तव में मेरा अन्तःकरण ही है जो चावल, जौ, सरसों, किसी भी चीज (के बीज) से छोटा है। किन्तु साथ ही मुझे अनुभव होता है कि यह मेरा अन्तर्बिन्दु इस पृथ्वी से भी बड़ा है आकाश से भी बड़ा है, लोकलोकान्तर से भी, नक्षत्रादि से भी—कहीं—बड़ा है। वह मेरे सब क्रिया-कलापों का, मेरी इच्छाओं का, रस, गन्ध, स्पर्श आदि (सब) ऐन्द्रिय प्रवृत्तियों का—स्रोत है, आधार है। सब-कुछ उसी में समाया हुआ है। वह न बोलता है और न कोई चेष्टा करता है। यह आत्मा, जो मेरा अन्तःकरण है, ब्रह्म भी (वही) है। मृत्यु की घड़ी में, अन्त में, मैं अपनी लघुता से मुक्त हो कर उसी (की महिमा) में विलीन हो जाऊंगा। यही एक परम ज्ञान है जो सब संशयों को विच्छिन्न कर देता है, मर्त्य को अमर कर देता है, कर सकता है।"**

दाऊसन पुनः उपनिषदों के मूल सिद्धान्त को अपने शब्दों में इस प्रकार और-भी संक्षिप्त कर देता है : "अमूर्त ब्रह्म का ही मूर्त स्वरूप यह चर-अचर विश्व है जो सम्पूर्ण सृष्टि में हो रही जन्म, मरण तथा मृत्यु आदि परिवर्तन-प्रक्रियाओं का आधार है, स्रोत है। बाह्य आवरणों एवं सीमाओं से मुक्त हो कर

हमारी लघु-आत्मा भी अपने सच्चे स्वरूप को पहचान सकती है, वह भी अनन्त बन सकती है, ब्रह्ममय हो सकती है। स्वयं उपनिषदों के शब्दों को ही उद्धृत करना हो तो **तत् त्वमसि** की अनुभूति विश्व में तथा अन्तरात्मा में एक निस्सीम एकात्मता की स्वानुभूति के अतिरिक्त और क्या है ? क्योंकि—उतने ही विश्व को हम 'अपना', अपने तईं, समझ सकते हैं जितने के साथ कि हमारा तादात्म्य सिद्ध हो चुका है। उपनिषदों की इसी कवित्व-संस्पृष्ट दार्शनिकता पर ही तो शोपनहा'र मुग्ध था।" **छान्दोग्य** ६. १ का उपाख्यान यहां अप्रासंगिक न होगा :

"उद्दालक आरुणि का एक पुत्र था—श्वेतकेतु। पिताने उससे कहा—'देखो, बेटा ! किसी आचार्य के पास जा कर वेदों का अध्ययन शुरू कर दो, क्योंकि—हमारे घर निरे (जन्म) से ब्राह्मण होने पर गर्व करने की प्रथा नहीं है।'

"श्वेतकेतु उस समय बारह वर्ष का था।

"बारह वर्ष विद्याध्ययन करके गर्व से फूला-न-समाता—वह घर आया ! उसकी यह अवस्था देख कर, पिता ने उससे पूछा—'चेहरे से तुम्हारे अभिमान टपक रहा है; पर, क्या तुम—अपने ब्रह्मज्ञान के बल पर—'अनाहत' की ध्वनि को सुन सकते हो ?' श्वेतकेतु चकित रह गया 'भला ऐसी भी कोई विद्या हो सकती है ?' पिता ने समझाना शुरू किया—'मिट्टी (के एक ढेले) से कोई भी मिट्टी की चीज बना लो; आखिर रहेगी तो वह मिट्टी ही। 'मूर्ति' या 'घड़ा' नाम दे कर उसकी मूल प्रकृति को बदला नहीं जा सकता। और जिस प्रकार—तांबे, सोने, लोहे वगैरह की भिन्न-भिन्न वस्तुएं बनाकर भी सोने, तांबे, लोहे की मूल प्रकृति को हम बदल नहीं सकते—नाम-भेद से वस्तु की प्रकृति में भेद नहीं आ जाता; यही अवस्था 'अश्रुत से श्रुत' ध्वनि सम्बन्धिनी इस विद्या की है।' लेकिन, पिता जी, श्वेतकेतु ने उत्तर में कहा : 'लगता ऐसा है जैसे मेरे गुरुजनों को इस विद्या का ज्ञान नहीं था, अन्यथा, वे मुझे यह विद्या सिखा न देते ?'

"सो, पिता ने पुत्र के कहने पर उसे उपदेश देना शुरू किया—

"आरम्भ में सब एक-रूप ही था और उस एक-रूप का नाम था—सत्। यद्यपि कुछ का कहना है कि आरम्भ में असत् ही असत् था, किन्तु हम पूछते हैं कि—उस अ-सत् से सत् की उत्पत्ति फिर किस प्रकार सम्भव थी ? अ-विद्यमान वस्तु से विद्यमान वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती।' इसके अनन्तर अरुणि ने समझाना शुरू किया कि किस प्रकार सत् से तपस्, तपस् से आपः, आपः से अन्न—की उत्पत्ति हुई। यह सत् ही था जो अपनी त्रिगुणात्मकता द्वारा पार्थिव विश्व में व्यापक होता गया। स्वप्न हो, भूख

हो, प्यास हो, कोई अवस्था हो—प्रत्येक वस्तु की सत्ता, तपस्, जल, अन्न--इन तीन मूल तत्वों पर ही आश्रित है, जबकि यह (अन्नादि की) त्रयी स्वयं सत् पर निर्भर करती है। इस सत् की आत्मा ही थी जो भूत-मात्र में समा गई—मनुष्यों में भी अन्तरात्मा बन कर समा गई,; मृत्यु के समय यही प्रक्रिया उलट जाती है—प्रत्येक वस्तु उसी मूल-तत्त्व सत् में पुनः-विलीन हो जाती है।' (इसके अनन्तर उद्दालक ने उपमाओं द्वारा यह प्रदर्शित किया कि किस प्रकार विश्व की विविधता में तथा मनुष्य की अन्तरात्मा में एक-रूपता है, एक-सूत्रता है।) ....

"जिस प्रकार तरह-तरह के फूलों से रस लेकर मधुमक्खियां शहद का निर्माण करती हैं, और सब रसों को एक-रस कर देती हैं—उसी प्रकार, देहान्त के समय, उस आदि सत् में विलय के अनन्तर प्राणि-प्राणि में वह दृष्ट पूर्व विविधता फिर दिखाई नहीं देती : उसी प्रकार--जैसे कि शहद में विभिन्न फूलों की खुशबू और मिठास को अलग कर सकना असम्भव होता है। यहां रूप कुछ हो--शेर, चीते, भेड़िये, पक्षी, कीड़े-मकौड़े—मूल में (और अन्त में)—सब एक ही थे, एक ही हो जाएंगे।'

"और इस एकता का ही नाम दर्शनों में आत्मा है।

"किन्तु श्वेतकेतु ने कहा--'अभी मुझे कुछ और अधिक स्पष्ट कीजिये। तब पिता ने उसे सामने खड़े अंजीर का फल तोड़ लाने को कहा। 'इसे तोड़ो'। तोड़ने पर उसके बीज बिखर गए। पिता ने कहा, 'इन बीजों को भी फोड़ दो;' और जब बीज भी फूट चुके, तब--उसने पूछा : 'अब बताओ—क्या बचा?' पुत्र ने कहा 'कुछ भी तो नहीं!'

आरुणि ने शान्तिपूर्वक कहा : 'पुत्र, ये बीज ही तो सब कुछ थे, जिनका 'पल्लवित' रूप--वह वृक्ष--अब भी हमारे सामने खड़ा है। यही अवस्था हमारी आत्मा की है। वह भी इसी प्रकार सूक्ष्म है। उसी (एक-आत्मा) का एक रूप तू है जो मेरे सम्मुख प्रत्यक्ष बैठा है!'

"किन्तु श्वेतकेतु को अभी तक बात पूरी तरह स्पष्ट न हो पाई थी। पिता ने कहा--'जाओ, नमक की एक डली ले आओ।' 'लो, इसे जरा पानी में डालो तो : और जब वह पानी में घुल गई, तो आरुणि ने पुत्र को उसे चखने को कहा। जिधर से भी उसने चखा, स्वाद उसका नमकीन ही था। जिस भी चीज को वह उसके साथ खाता, वह भी नमकीन हो जाती! तब पिता ने अन्त में कहा, 'पुत्र यही अवस्था हमारे जीवन की है। आत्मा के हम इन आंखों द्वारा दर्शन नहीं कर सकते, किन्तु (पानी में घुली नमक की डली की तरह) है

वह—सर्वान्तर्यामी : सभी कहीं, मुझ में और—तुम में भी, एक-रूप से अन्तर्व्याप्त है वह !"

इन संवादों में सबसे आकर्षक वस्तु जो हमें आकृष्ट करती है, वह है, इतने गम्भीर, दार्शनिक तथा आध्यात्मिक विषयों में उन प्राचीन भारतीयों की पर्युत्सुक **अन्वेषण-वृत्ति**, जो सदा (वस्तु के) बहिरंग तक सीमित न रह कर वस्तु के अन्तस्तत्व तक पहुंचने के लिए कुतूहलता से भरी होती थी। कौशीतकी[४] तथा बृहदारण्यक २.१में हम एक ही संवाद के दो रूप पाते हैं जहां एक अभिमानी ब्राह्मण गार्ग्यबालाकि वाराणसी के राजा अजातशत्रु के पास पहुंचता है और दावे के साथ कहता है कि 'मैं तुम्हें ब्रह्म का प्रत्यक्ष करा सकता हूं'। एक के बाद एक—(पुरुष के) शरीर में, सूर्य में,चन्द्रमा में, विद्युत् में, आकाश में, वायुमण्डल में, अग्नि में, जल में, और जल में पड़ते प्रतिबिम्ब में, धूप में और छांह में, ध्वनि में—प्रतिध्वनि में, स्वप्न में—जागरण में . . . और जागने वाले की आंख में—**अन्तर्व्याप्त पुरुष तत्व** को ही वह 'ब्रह्म' नाम देता है। किन्तु इस सबसे अजातशत्रु को सन्तोष नहीं होता। ब्राह्मण का अभिमान चूर हो जाता है और,अन्त में, राजा की शिष्यता स्वीकार करके ही वह जान पाता है, उसे सचमुच अनुभव होता है, कि —**"ब्रह्म सचमुच आत्मानुभव के निरन्तर विकास के अतिरिक्त, आत्मबोध के अतिरिक्त, और कुछ नहीं।"** यह सृष्टि की विविधता, यह अनेकता, तो सचमुच ऐसे ही हैं जैसे कहीं जलती-आग से फूटती चिंगारियां दिशा-दिशा में फैल जाएं, . . कोई मकड़ी अपने गिर्द अपनी-ही उगली-थूक से एक जाली-सी बुन दे। आत्म-बोध की परिसमाप्ति भी एक इसी अनुभव में जाकर हो जाती है कि—"यह सब चराचर जगत्, ये सारे लोक-लोकान्तर—मानव, दानव—किसी एक तत्व की ही बाह्य-लीला हैं—एक ही आत्मा के बोध-विस्तार हैं"।

छान्दोग्य ८-७-१२ में इसी विषय को लेकर **आत्मा के झूठे और सच्चे, दोनों, रूपों में मौलिक भेद** को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है :—

"जीवन में यदि सचमुच कुछ ज्ञातव्य है, कुछ अनुसन्धेय है, तो वह है—आत्मा : 'आत्मा—जो पाप से मुक्त हो चुकी है, जो बुढ़ापे से, मौत, फिक्र, भूख-प्यास से मुक्त हो कर अपनी इच्छा-शक्ति को शोधित कर चुकी है, जिसमें इच्छा करते ही इच्छापूर्ति तत्क्षण सम्भव हो जाती है . . .।'

"मूल समस्या के रूप का यह विवेचन प्रजापति के मुख से देवताओं ने भी सुना, असुरों ने भी, क्योंकि दोनों को ही इस (आत्मबोध) में लोकलोकान्तर पर विजयी होने का मूल-मन्त्र जो नजर आ गया था !

"वर्षो—देवताओं मे इन्द्र, और असुरों मे विरोचन—प्रजापति के चरणों में विधिवत् (समिधादान-विधि पूर्वक) शिष्यवत् बैठे। पूछे जाने पर

(प्रजापति से उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की) उन्होंने कहा कि 'हमारा ध्येय इन ३२ वर्षों यहां ब्रह्मचर्यपूर्वक रहने का यह था कि इस प्रकार शायद हम उस 'आत्मतत्व के सम्बन्ध में कुछ ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे जो स्वयं आपके कथनानुसार हमारे सभी मनोरथों की चरमपूर्ति 'होता' है।' प्रजापति ने दोनों की परीक्षा लेने के लिए कहा कि 'जब दो व्यक्ति परस्परापेक्षी होते हैं तो उनकी आंखों में पड़ रही प्रतिच्छाया ही क्या वह 'आत्मा' नहीं होती ?' विरोचन को जैसे आत्म-लाभ हो गया !—आत्म-विभोर वह हंसता-कूदता अपने भाइयों में आ मिला और उनको समझाने लगा कि 'इस शरीर की देख-भाल ही सब-कुछ है: यही-एक आत्मविद्या का अथ है और इति है।"

"किन्तु इन्द्र जानता था कि प्रजापति मजाक कर रहे हैं; उसने कुछ चिन्तन किया—३२ वर्ष और ध्यान में बिता दिए, और फिर आचार्य के सम्मुख आ कर अपने सन्देह प्रकट किये। प्रजापति ने इस बार कहा—'आत्मा—शरीर में नहीं, आंख में पड़ती छाया में नहीं—स्वप्न में प्रत्यक्षवत्-दृष्ट कोई अभय-अमर तत्त्व है जिसे कुछ लोग 'ब्रह्म' भी कह लेते हैं।' इससे कुछ सन्तोष हुआ किन्तु, अभी वह देवताओं के खेमे तक पहुंचा भी न था कि, उसे संशय ने रोक दिया: 'आत्मा स्वप्न की तरह कोई अनित्य वस्तु नहीं हो सकती।' वह लौट आया, और ३२ वर्ष और बिता कर प्रजापति के मुख से उसने इतना सुना कि 'आत्मा के दर्शन मनुष्य (गहरी) नींद में ही कर सकता है—उस नींद में जिस में कि स्वप्नों का कोई नामोनिशान न रह गया हो।'

"किन्तु—इस शून्यता से भी इन्द्र को सन्तोष न हुआ।

"पांच वर्ष और ब्रह्मचर्य में बीत गए।

"प्रजापति का इस बार 'दीक्षान्त' था: 'यह शरीर सचमुच मर्त्य है—मृत्यु का निधान है; किन्तु साथ—ही अ-मर, और अ-शरीर आत्मा का निवास स्थान भी है!' 'जब तक आत्मा इस शरीर में लिप्त रहती है वह आजीवन सुख और दुख का अनुभव करती-रहती है, सुख-दुख से उसे मुक्ति (कदापि) नहीं मिल सकती। किन्तु जब उसे परिज्ञान हो जाता है कि मेरा स्व-धर्म यह शरीर नहीं, तो—सुख और दुख से वह जैसे एक ही क्षण में ऊपर उठ जाती है!.... यह आंख उसी पुरुष तत्त्व के हाथ में (आत्मा के हाथ में) एक साधन है जिसके द्वारा सम्पूर्ण विश्व को वह स्व-गत कर सकता है। यही अवस्था सभी इन्द्रियों की है। इन्द्रियां साधन हैं किन्तु सच्चा श्रोता, सच्चा घ्राता, सच्चा द्रष्टा इन इन्द्रियों के झीने आवरण में चुपचाप नि-गूढ़ (आत्मा) है! चक्षु-आदि इन्द्रियों की बाह्य शक्ति का मूल-स्रोत सूक्ष्म शरीर में विद्यमान कुछ और दिव्य शक्ति होती है जिसके बिना ये इन्द्रियां

बिल्कुल निकम्मी होती है। यह अन्तःशक्ति—यही अन्तरात्मा है जिसकी कि देवता भी पूजा करते हैं; इसकी अदम्य इच्छा ही सभी मनोरथों की चरम पूर्ति है; आत्मा का अन्तर्बल (ही) लोक-लोकान्तर को वंशवद कर सकता है।"

आत्मबोध की इस इतिकर्त्तव्यता को, (अन्तःशक्ति को) ही उपनिषदों में **प्रजापति-विद्या** के नाम से अंकित किया गया है जिसका एक और रूपान्तर हम यज्ञ-**याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी** के सुन्दर **संवाद** में, बृहदारण्यक २.४ में, संग्रथित पाते हैं। याज्ञवल्क्य गृहस्थाश्रम समाप्त करके वानप्रस्थ के लिए उत्सुक है; और वह अपनी यह उत्सुकता अपनी दोनों पत्नियों के सम्मुख प्रकट कर देता है—

"किन्तु—मैत्रेयी चौंक उठती है : 'स्वामी, क्या सम्पत्ति के इस बटवारे में यदि आप धन-धान्य, रत्न-आदि से परिपूर्ण धरती ही मुझे दे दें, तो क्या—मैं उससे अ-मृत हो जाऊंगी?...उससे अ-जर, अ-मर हो जाऊंगी ?'

"नहीं तो : धनधान्य और सम्पत्ति से तो मनुष्य अमीर ही बन सकता है; अमृत का उससे क्या सम्बन्ध ?'

"तो—'मैं यह सब लेकर फिर क्या करूंगी ? इतने दिन अमृत की खोज करके यदि आपने कुछ पाया हो तो मुझे तो, बस, उसी की दो-बूंदे चाहिएं; मैं और कुछ नहीं मांगती।"

"याज्ञवल्क्य ने स्वीकार किया कि दुनिया में यह—'पति-पत्नी को एक कर देने वाला 'प्रेम, यह बाप-बेटे का प्रेम, भक्त-भगवान् का प्रेम, प्राणिमात्र में परस्पर प्रेम—सब झूठ है, ढकोसला है, स्वार्थ है; और मजा यह है—कि इस स्वार्थ को भी, इस छोटी-सी चीज को भी 'बिल-मुकाबिल' देखने का हममें साहस नहीं होता ! हम अपने ही घृणित स्वार्थ का यदि कुछ मनोयोग के साथ विश्लेषण कर सकें, खुद को अपनी नग्नता में एक बार देख लें : जीवन के लिए इतना ही पर्याप्त होता है, क्योंकि—यह अन्तर्दृष्टि स्वार्थ को स्वार्थ नहीं रहने देती—हमें अपनी सीमाओं में, हमारी पुरानी संकुचितता में, नहीं रहने देगी। स्वार्थ ही, 'निःस्वार्थ' होता-होता, हमारी कायाकल्प कर सकता है। स्वार्थ-विश्लेषण के रूप में यह आत्म-बोध ही है जो इन्सान के लिए सर्वथा सम्भव है: संभव और वांछनीय। आत्मबोध—अथवा ब्रह्म-ज्ञान—इसी स्वार्थ-विश्लेषण की परिसमाप्ति के अतिरिक्त, अन्तर्दृष्टि के अतिरिक्त, कुछ नहीं है।"

कहीं-कहीं उपनिषदों में इसी आत्मा को **प्राण** (अर्थात् **जीवन-तत्व**) नाम भी दिया गया है। किन्तु ऐसे स्थलों पर उस प्राण को **चैतन्य** के साथ एकात्म कर दिया गया है। प्राण शब्द—एक वचन भी है बहुवचन भी। एक वचन 'आत्मा'

के अर्थ में प्रयुक्त होता है, तो बहुवचन इन्द्रियों के (तथा शरीर के अंग-प्रत्यंग के) प्रसंग में। यही नहीं; वाणी, श्वास, दृष्टि, श्रुति और चिन्तन—का सम्बन्ध बाह्य प्रकृति में अग्नि,वायु, सूर्य, दिशाओं तथा चन्द्रमा में प्रतिमूर्त्त पांच महाशक्तियों के साथ भी स्थापित किया जाता है। व्यक्तिगत तथा लोकगत—ये पांच शक्तियां परस्पर प्रभाव डालती हैं: ऐसा भी 'अनुभव-सिद्ध' कहा गया है। इस दृष्टि में, विशुद्ध आध्यात्मिकता के अतिरिक्त, कुछ हद तक मनोवैज्ञानिक अनुभूति भी इष्ट प्रतीत होती है। एक स्थल पर तो सचमुच इन प्राण-शक्तियों में एक संग्राम ही उठ खड़ा हुआ है और वहां हर इन्द्रिय का दावा है कि 'मैं ही सबसे महान् हूं'—जिसके निर्णय के लिए प्रजापति को एक मति से मध्यस्थ नियुक्त किया जाता है। (छान्दोग्य ५. १, बृहदारण्यक ६. १. ७-१४) :—

"प्रजापति ने कहा—'मुझे क्यों व्यर्थ में ही बीच में लाते हो?—आपस में ही फैसला क्यों नहीं कर लेते?' 'महान् वह है जिसकी आवश्यकता, घर छोड़ बाहर निकल जाने पर, घर वालों के लिए और भी बढ़ जाती है।"

"सबसे पहले—वाणी विदा हुई। एक वर्ष तक रूठी रही। किन्तु शरीर का काम वैसे ही, यथापूर्व, चलता रहा! जैसे कि पहले चलता आया था, चलता रहा। आखिर, गूंगे भी तो जी ही लेते हैं!

"आंख गई; फिर कान चला गया, यहां तक कि—मनोमय भी विदा हो गया! किन्तु—जीवन में इससे बाधाएं आईं, मृत्यु नहीं। क्योंकि—अन्धे-बहरे भी तो जी ही लेते हैं। और तो और—विचार-शक्ति नष्ट हो जाने पर भी मनुष्य आत्म-हत्या नहीं कर लिया करते!

"सभी इन्द्रियां लौट आईं, और—जीवन में इस परीक्षण से कुछ नम्रता, परिणामतः, आ गई।

"अब प्राण की बारी थी। उसने भी जाने की तैयारी की, पर—जैसे कोई घोड़ा बलपूर्वक रस्सी को खींच कर भागने की करे और जमीन में गड़ा किल्ला उधर-से उखड़ने लगे: वही अवस्था उससे बाकी इन्द्रियों की हो गई।

"और यही बात है कि शेष इन्द्रियों को (बहुवचन में सामान्य) प्राण नाम तो दिया जाता है, लेकिन (इसके विपरीत)—'गिराएं, आंखें, श्रवांसि, मनांसि, उन्हें कोई नहीं कहता।"

इन्द्रियों की इस मनोवैज्ञानिक गाथा के अतिरिक्त, आत्मा की मूल अन्तर्दृष्टि को सर्व-सुलभ करने के लिए उपनिषदों के रचयिता अपनी दार्शनिकता में कवित्व का योग भी समय-समय पर कर देते हैं। ऐसे स्थलों में प्रायः **जागरित, स्वप्नमय, सुषुप्तिमय अवस्थाओं में से आत्मा की गति-अगति-प्रत्यावृत्ति के प्रत्यक्ष उदाहरणों द्वारा मृत्यु एवं परलोक मुक्ति और मुक्ति से पुनरावृत्ति—के स्वानुभव को**

उपनिषदों के कवि—उपदेशों-युक्तियों द्वारा सिद्ध नहीं करने लगते—उसे वैयक्तिक अनुभव-परीक्षण पर ही छोड़ देते हैं। बृहदारण्यक ४. ३-४ की इस परीक्षणात्मकता पर दाऊसन[१] कितना मुग्ध है : "यह परिच्छेद भारतीय साहित्य में तो अन्यत्र मिलता ही नहीं, स्वानुभव की वही भव्यता, वही सहृदयता, संवेदना की वही संक्रमणी-शक्ति क्या विश्व-साहित्य में भी कहीं और मिल सकती है?" इसी प्रसंग में पहली बार (बृहदारण्यक ३. २. १३–) **पुनर्जन्म तथा कर्म** की विवेचना हम पाते हैं कि किस प्रकार **मनुष्य भी सृष्टि के प्राकृत नियमों से स्वतन्त्र नहीं है।** इसी सिद्धान्त का बौद्धों ने गली-गली जा कर प्रचार किया, किन्तु उपनिषदों के युग में उसके रहस्य को सब के सम्मुख उद्घोषित करने की आवश्यकता अभी अनुभव हुई प्रतीत नही होती :—

> **"आर्तभाग ने याज्ञवल्क्य से पूछा मुझे यह बताओ कि जब मनुष्य की मृत्यु हो जाती है तो लोग उसे चिता पर रख कर मुखाग्नि दे देते हैं; उसकी वाणी ज्वालामय हो उठती है,—उसकी प्राण-शक्ति इस विस्तृत वायुमण्डल में विलीन हो जाती है, उसकी दृष्टि सूर्य में जाकर कहीं छुप जाती है; उसका मन (कहते हैं) चन्द्रमा में एकीभूत हो जाता है, श्रवण-शक्ति यहीं-कहीं दिशाओं में भटक जाती है, और यह मिट्टी का पुतला भस्म के एक ढेरी के सिवा कुछ नहीं रह जाता; सुनते हैं—इसके बाद—उसकी आत्मा तो आकाश में यहीं-कहीं मंडराती रहती है जबकि उसके केश-आदि वनस्पति के रूप में उसी राख से फिर फूट निकलते हैं; उसको जीवित रखने वाला उसका वह रक्त और वीर्य इन बहती धाराओं में अपना वह स्व-रूप खो देता है; तब—मैं पूछता हूं 'क्या यही मानव-जीवन का अन्त है ? या—इस विशरण के बाद भी, मनुष्य नष्ट नहीं होता ?'**
>
> **"याज्ञवल्क्य ने प्रेमपूर्वक आर्तभाग का हाथ अपने हाथ में दबा लिया, और कहा—'देखो, ऐसे प्रश्नों को भरी-सभा में पूछने से तुम्हारा समाधान नहीं हो जाएगा।' और, उसे एक ओर ले जाकर, याज्ञवल्क्य ने सारे प्रश्न को एक शब्द में पुनरुक्त कर ही एक-तरफ कर दिया : 'समस्या न मृत्यु पर आकर समाप्त हो जाती है न कोई नई समस्या मृत्यु से उठनी चाहिए। हमारे लिए यहां (इस-जीवन में) यदि कुछ महत्त्वपूर्ण है, तो वह—ऐसी समस्याओं का समाधान कदापि नहीं (हो सकता)। हम तो बस अच्छे और बुरे कर्मों में कुछ भेद-भर कर सकते हैं—कुछ अच्छे कर्म ही अपने पीछे छोड़ सकते हैं।"**

बृहदारण्यक ४. ४. २-५ में कर्म के इस सिद्धान्त की कुछ विस्तृत विवेचना, मृत्यु के चरम अनुभव को क्रमशः प्रस्तुत करते हुए, इस प्रकार की गई है :—

"और अन्त में सारी ज्योति जीवन की हृदय में आकर केन्द्रित हो जाती है—जिसकी सहायता से आत्मा आंखों के रास्ते, सिर फाड़ कर या किसी और मार्ग से, इस शरीर के बाहर निकल आती है। प्राण-शक्ति उसके पीछे-पीछे हो लेती है और, प्राणशक्ति के साथ ही, अन्य इन्द्रियां (और चेतना) भी शरीर को छोड़ देती हैं। किन्तु—आत्मा स्वयं चैतन्य है, चित्-स्वरुप है: जो-कुछ उसने इस जीवन में किया था वह सब एक अनश्वर अनुभूति बन कर सदा उसी का यात्रा-संगी रहेगा।

"घास पर चलने वाला जैसे कोई कीड़ा एक पत्ती से दूसरी पत्ती तक पहुंचता-पहुंचता आगे, और, और-आगे, निरन्तर बढ़ता चलता है, उसी प्रकार—आत्मा एक जड़ शरीर से मुक्त हो कर दूसरे जड़ शरीर को प्रत्युज्जीवित करता हुआ निरन्तर बढ़ता-ही चलता है। या फिर—कशीदाकारी में जिस तरह स्त्रियां कला के एक रूप पूर्ण करके दूसरा (और) सुन्दर-तर रूप बनाती चलती हैं, उसी प्रकार आत्मा (शरीर-गत) अज्ञान से विमुक्त हो कर नया शरीर, नए अनुभव, प्राप्त करता चलता है: पितृ-लोक, गन्धर्व-लोक, ब्रह्म-लोक, प्रजापति-लोक, या किसी अन्य लोक के —अनुभव को स्व-गत करता चलता है। . . . .

"किन्तु इस यात्रा में उसका पाथेय, उसका मूल-धन, पिछले जीवन म किए-गए उसके अच्छे-बुरे कर्म ही होते हैं : 'जैसी करनी, वैसी भरनी।' सब कर्मों के मूल में सदा मनुष्य की अपनी ही इच्छा सक्रिय हुआ करती है। इच्छा के अनुसार प्राणी कर्म करता है और, पूर्वकृत कर्मों के अनुसार ही, फल भी पाता है—'नवजीवन' पाता है।"

कर्म के इस सिद्धान्त पर ही ब्राह्मणों तथा उपनिषदों को पाप-पुण्य भावना आधारित है; किन्तु—इस मनोवैज्ञानिक दृष्टि को हमें वैदिक अध्यात्म दृष्टि की संगति में ही समझने का प्रयत्न करना चाहिए : क्योंकि सच यह है कि जीवन में हम प्राणियों में परस्पर-व्यवहार एक ही बात से प्रेरित हुआ करता है कि हममें सर्वात्मानुभूति कितनी है—प्रेम का वह हमारे अन्दर उमड़ता स्रोत हमें किस हद तक निः-सीम कर सका है। और सच तो यह है कि, इस **सर्वात्मभाव** के अतिरिक्त इन वानप्रस्थ जोगियों के पास—हमें क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इस प्रश्न पर विश्लेषण अथवा दिशा-निर्देश के लिए—प्रसाद-रूप में देने को और कुछ-भी-तो नहीं! **तैत्तिरीय** १.११ में **दीक्षान्त**-समारोह पर पढ़ा जाने वाला यह मूल प्रवचन शायद उपनिषद्-वाङमय में एक अपवाद ही है जो वस्तुतः गृहस्थाश्रम में प्रवेश हो रहे जीवन-यात्री के लिए एक आदर्श स्थापित कर सकता है :—

"अब तुम संसार में प्रविष्ट होने चले हो; किन्तु, खूब समझ लो—लोक-व्यवहार में भी सचाई से मुख मोड़ना आवश्यक नहीं, कर्त्तव्य-विमुख होना आवश्यक नहीं, स्वाध्याय-विमुख होना आवश्यक नहीं; और—ना-ही इतनी आसक्ति गुरुकुल से बनाए रखना कि जो धन कमाओ, घर वालों की परवा न करके, लाकर सारा आचार्य के चरणों में अर्पित कर दो ! पितृ-पूजा, देव-पूजा—तुम्हें सचमुच करनी ही चाहिए—यह तुम्हारा कर्त्तव्य है, परन्तु—देवता और पितर कहीं दूसरे लोकों में नहीं रहते ; तुम्हारी आंखें हैं तो माता-पिता में ही, गुरु-जनों में ही, अतिथि-जनों में ही—तुम देवताओं के दर्शन कर सकते हो !"

हमें क्या करना चाहिए क्या नहीं—कर्त्तव्याकर्त्तव्य के सम्बन्ध में एक और छोटा-सा कथानक बृहदारण्यक ५. २ में इन थोड़े-से शब्दों में इस प्रकार संकलित है :—

"प्रजापति के तीन सन्तान थीं—देव, मनुष्य और असुर। प्रजापति ही तीनों के जन्म और दीक्षा के गुरु थे। दीक्षान्त के समय तीनों ने आचार्य से 'अन्तिम उपदेश' सुनना चाहा; और तीनों को ही प्रजापति ने वही एकाक्षर उपदेश दिया—'द'। किन्तु प्रजापति ने जानना चाहा कि तीनों ने इस (मेरे एक-अक्षर) से क्या-कुछ समझा है। देवताओं ने उत्तर दिया, 'आपने हमें दमन की दीक्षा दी है' इसी प्रकार—मनुष्यों ने उसी एकाक्षर से दान की दीक्षा ली और असुरों ने दया की।

"—यह प्रजापति और कोई नहीं, बादलों में कड़कती बिजली है जिसकी चमक कभी-कभी हमारे पाप को इस तरह नंगा कर के रख देती है—हमें आत्म-बोध देती हुई-सी, हमारी कमजोरियों को दिखलाती हुई-सी हमारे लिए दमन, दान और दया का जैसे दिशा-संकेत-सा कर रही हो !"

उपनिषदों में, सचमुच, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के प्रश्न पर विवेचन बहुत कम हुआ है। इसका कारण स्पष्ट है : क्योंकि, उपनिषदों के अनुसार, जीवन का परम ध्येय ज्ञान द्वारा अज्ञान का नाश करके 'ब्रह्म-भूय' सिद्धि को प्राप्त करना है—बस। और मुक्ति भी सचमुच उसी को मिल सकती है जो यह एकात्मता प्राणिमात्र के साथ, इसी जीवन में, अपने-तई स्वगत कर चुका है। और इस एकात्मता में पूर्णता भी तो तभी आ सकती है जब हम, कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विकार को सर्वथा भुला कर, अपने हृदय को प्रेम से उद्गूर्ण कर लें। यज्ञकाण्ड अपिवा पुण्यार्जन का फल सीमित हुआ करता है और, कर्म-फल क्षीण होने पर, जन्म-जन्मान्तर का वही पुराना सिलसिला अवश्यम्भावी होता है, अपरिहेय होता है। ज्ञान द्वारा स्वानुभाव

ही एकमात्र ऐसा उपाय है जो हमें, इस अनित्यता से मुक्त करा कर, अनेकता से मुक्त करा कर, और असत्यता से मुक्त कराकर, विशुद्ध सत्, चित् और आनन्द प्रदान कर सकता है : "मुक्ति" का अर्थ यह कदापि नहीं होता कि दुनिया छोड़ दो। कमल के पत्र को जिस प्रकार जल या कीचड़ छू नहीं सकता, उसी प्रकार ज्ञानी यहां रहता हुआ भी जीवन्मुक्त ही होता है (छान्दोग्य ४. १४. ३, कौशीतकी ४. ३. ८) । ब्राह्मणों में तथा आरण्यकों में स्थान-स्थान पर **आत्मबोध** की इस महिमा को गाया गया है—**'य एवं वेद'** । उपनिषदों के अनुसार तो जीवन में ही निरन्त सुख, असीम आनन्द ऐसा 'य एवं वेद' पुरुष ही **स्व-तः** प्राप्त कर सकता है । इसीलिए—सभी उपनिषदों में आत्मज्ञान को ही जीवन का परम ध्येय कहा गया है । प्रजापति (आचार्य) के यहां, इन्द्र ही नहीं, हमारे जैसे साधारण पुरुष भी अपने जीवन में कुछ सार्थकता करने के लिए (इसी परम विद्या का कुछ अंश—ज्ञानाग्नि की एक चिनगारी—अधिगत करने के लिए) रहा करते थे । जीवन की सफलता वे इसी में ही मनाते थे कि इह-जीवन में ही मुक्ति प्राप्त की जा सकती है । यह आत्म-ज्ञान हजारों-सैकड़ों गौएं दे कर, हीरे जवाहरात के ढेर भेंट कर, प्राप्त नहीं किया जा सकता; इसके लिए ही तो स्वयं ब्राह्मण आत्मज्ञानी राजाओं की शिष्यता स्वीकार किया करते थे, अमीर लोग भिखारियों के आगे नतमस्तक देखे गए हैं । आत्मज्ञान के प्रति इस उत्सुकता का एक सुन्दर नमूना कठोपनिषद् में संकलित **नचिकेता** की यह सुन्दर **कहानी** है :—

"आखिर, नचिकेता को पाताल जाना पड़ा—वहां, जहां मृत्यु का साम्राज्य है । यम उस समय घर पर नहीं था, लौटने पर इस धृष्टता के लिए नचिकेता से उसने क्षमा मांगी और बदले में उसे तीन वर मांगने को भी कहा । नचिकेता को पहली (और सबसे बड़ी चिन्ता) तो यह थी कि पिता का क्रोध शान्त हो जाए और वह मुझे फिर से घर में वापिस स्वीकार कर ले । फिर उसने सोचा 'क्या जीवन में कुछ शान्ति, कुछ स्वर्गिक विभूति भी, आ सकती है ?' किन्तु ये दोनों वर यम की दृष्टि में मामूली-ही थे, इसलिए जब जीवन-मरण के मूल प्रश्न पर ही नचिकेता की उंगली आखिर टिक गई कि—

"पृथ्वी पर अभी यह सन्देह ही बना हुआ है कि मरने के बाद प्राणी की कुछ सत्ता रह भी जाती है या नहीं': —अभी तीसरा वर मैंने आपसे मांगना है, तो—क्यों "न उसकी पूर्ति में आप मुझे इसी एक प्रश्न का समाधान ही दे-दें ?——

यही एक प्रश्न था जिससे यम भी घबराता था । देवता भी मृत्यु के

प्रश्न से कतराते हैं, और यहां एक नन्हा-सा छोकरा है कि इसी एक सवाल (के जवाब) के लिए जिद्द पकड़े है !

"यम ने उसे तरह-तरह के झांसे दिए, प्रलोभन दिए, अद्भुत वैभव दिखलाए—वंश, सम्पत्ति, कीर्ति, जिस भी चीज पर दुनिया मरती है—उसका दस-गुना यम उसे देने को तैयार था। सचमुच यह मनोरथ-पूर्ति सांसारिक जनों के लिए कितनी दुर्लभ वस्तु होती है ! परियों के साथ रथों में यात्रा, उद्यान, वीणा-वन्दन, नृत्य—सदियों—नचिकेता, (चाहता तो) अनुभव कर सकता था।...

"लेकिन सब—ठुकरा दिया उसने ! जीवन बीस साल का हो, दो-सौ साल का हो, दो हजार साल का हो, क्षणिक ही होता है—एक-न-एक दिन, यह सब-कुछ अन्त ही हो रहेगा। उसने शान्तिपूर्वक कहा—

"यमराज,
ये सब क्षणिक वस्तुएं—
यह क्षणिक वैभव,
यह क्षणिक आनन्द और सुख
—किस को दिखा रहे हो ?
इस रथ, गीत, वाद्य, नृत्य को लेकर
आखिर मैं करूंगा क्या ?
इस सब का भी तो अन्त ही कर दोगे न तुम—?।
—तुम अन्त-क हो, ना ?
"मुझे यह कुछ-नहीं चाहिए।
इस छोटी उम्र में भी
संसार की निस्सारता
तुमने मेरे लिए खुद प्रत्यक्ष कर दी।
मेरे लिए तो एक ही समस्या (शेष) है—
(मौत से मैं नहीं डरता)
—मैं तो बस यही पूछना चाहता हूं
कि मनुष्य मर कर भी
मरता है या नहीं।
'क्या मर कर वह अमर नहीं हो जाता ?'

यम नचिकेता की बाल-बुद्धि पर और बाल आग्रह पर मुग्ध हो कर, अन्त में, उसे आत्म-ज्ञान का वह प्रसाद दे ही देता है। आत्म-ज्ञान अर्थात् 'अमृत'—कितनी सरल विद्या है !

किन्तु ब्रह्मविद्या के प्रति यह भक्ति-भाव किस प्रकार मनुष्य को सांसारिक सुखों से (विमुख ही नहीं) पराङ्मुख[10] कर देता है : **मैत्रायणी** १. २-४ के निम्न उद्धरण में सम्भवत: पहली ही बार अंकित हुआ है, यद्यपि 'जीवन में निराशा की ओर यह प्रवृत्ति' परतर भारतीय साहित्य तथा दर्शन में पग-पग पर हम प्रत्यक्ष पाते हैं :

'राजा बृहद्रथ अपने ज्येष्ठ पुत्र को सिंहासन-भार सौंप, इस देह की क्षण-भंगुरता को हृद्गत कर, वानप्रस्थ हो गए और वन में जा कर—उन्होंने घोर से घोर तपस्या शुरू कर दी।

बाहें फैला कर सारा दिन सूर्याभिमुख खड़े रहते।

इसी अवस्था में उनके एक हजार दिन बीत गए।

उधर से एक आत्मवेदी पुरुष आता दिखाई दिया। यह सत्यकाम था। सत्यकाम ने तपोधन के तप से सन्तुष्ट हो कर उसे वर मांगने को कहा। बड़े विनम्र और शोकाकुल भाव से राजा ने कहा, 'महाराज! मुझे आत्मबोध नहीं। क्या आप मुझ पर कृपा करेंगे?' सत्यकाम ने बतेरी कोशिश की कि बृहद्रथ यह जिद्द न करे; किन्तु वह तो, उलटे, फूट पड़ा: 'भगवन्! मल, मूत्र, अस्थि, मज्जा के इस पुतले को ले कर मैं क्या करूंगा? संसार की सब घृणित वस्तुओं का—वासना, क्रोध, भ्रांति, भय, ईर्ष्या, विरह, आसक्ति, भूख, प्यास, बुढ़ापा, मृत्यु, रोग और तरह-तरह के कष्टों का—निधान यह शरीर किस काम का? संसार क्षणिक है—उतना ही क्षणिक जितने कि ये फूल, पौधे, ये कीड़े मकौड़े, रोज पैदा होने वाले—रोज मरने वाले प्राणी: मैं यह खूब समझ चुका हूं। कौन प्राचीन राजा है, या वीर-पुरुष ऐसा हुआ है, या देवता ऐसा हुआ है, असुर हुआ है—जो मृत्यु का ग्रास न बना हो? छोटी-मोटी चीजों की तो कुछ बिसात ही नहीं; समुद्र तक सूख जाते हैं, पर्वतों-तक का नामोनिशान नहीं रह जाता। ध्रुव नक्षत्र भी अपनी न-क्षत्र वृत्ति को छोड़ देता है, देवता अपने परम-पद से च्युत हो जाते हैं: इसी का नाम ही तो संसार है, ना? इसमें—भला सुख का अवकाश ही कहां है? जिसका मनोरथ पूर्ण भी हो जाता है—पुण्य क्षीण होने पर वह भी लौटकर फिर इसी दुखसागर में आएगा। मैं तो यहां रहते हुए सदा ऐसे अनुभव करता हूं जैसे किसी सूखे कुएं में घिरा पड़ा हूं। आप ही अब मेरी शरण बनिये।"

इस प्रकरण की तुलना परतर बौद्ध[11] एवं संस्कृत साहित्य में कितनी ही बार की भी गई है; और स्वयं **मैत्रायणी** है भी तो एक अर्वाचीन उपनिषद् ही। भाषा और शैली भी इस उपनिषद् की शेष लौकिक वाङ्मय से कोई बहुत-भिन्न नहीं है। निश्चय-ही यह एक उत्तर-बौद्ध युग की रचना है। कुछ हो, भारतीय निराशावाद

एवं संसार की असारता के बीज यहां मौजूद हैं। "(इस असार)संसार में यदि कोई वस्तु यथार्थ है, सारवान् है, महत्त्वपूर्ण है तो बस—अजर, अमर आत्मा ही :एक ब्रह्म ही है जो भूख-प्यास से, दुःख और भ्रान्ति से, मुक्त कोई परतर वस्तु है।" इसके अतिरिक्त अन्य सब-कुछ कष्टमय है (बृहदारण्यक ३. ५)। "जो-कुछ भी, ब्रह्म के अतिरिक्त, हम यहां प्रत्यक्ष करते हैं, वह सत्य नहीं है, अर्थात्—सांसारिक जीवन का यह दुख-सुख सब असत्य है, अनित्य है : जिसने यह अनुभव कर लिया, वह सम्पूर्ण विश्व से एकात्म हो जाता है—उसे भय, कष्ट, शोक, मोह सताते नहीं। ब्रह्म-विद् के लिए सब कुछ एक-ही रूप है, सब-कुछ आनन्द-रूप हैं, सब-कुछ आत्ममय है; और यहां आ कर निराशा छिन्न-भिन्न हो जाती है, और आशा का सूर्य (स्वयं ?) उदित हो आता है। यह आशा की किरण ही—ब्रह्म है, आत्मा है : जो सब सृष्टि-चक्र का मूल एवं निलय है।" (तै० २. ९, ३. ६, ईशा० ७)

उपनिषदों की विचारधारा, इस प्रकार, किंचित् निराशाजनक प्रतीत होती है। सांसारिक जीवन को असत्य समझने के बाद उससे विमुखता एवं विद्वेष—एक ही कदम की तो दूरी रह जाती है दोनों में ; और, जब ब्रह्मानन्द का अनुभव करके तपोधन अतिशयोक्तियों में इठलाने लगता है, तब संसार का वह माया-'स्वरूप' उसे और भी निरर्थक प्रतीत होने लगता है।[१२] उपनिषदों की यही अनुभूति ही थी जो आगे चल कर कभी भारतीय दर्शनों की (असांसारिकता-दृष्टि की) मूल-प्रेरणा बनी थी।

निराशावाद ही नहीं, सम्पूर्ण दर्शन-वाङ्मय, भारतीयों का, उपनिषदों की विचार-धारा से प्रसूत है। बादरायण के ब्रह्मसूत्र का आधार भी तो उपनिषदों के मूल सिद्धान्त ही हैं। मधुसूदन सरस्वती[१३] ने एक स्थान पर इन सूत्रों को सम्पूर्ण दर्शन-परम्परा में प्रमुख स्थान दिया है और कहा है, "जिसे भी मुक्ति इष्ट होगी वह इन ब्रह्मसूत्रों की प्रशंसा तो करेगा ही।" शंकर और रामानुज का 'धार्मिक दर्शन' इसी ब्रह्मसूत्र से प्रेरणा पा कर लाखों के लिए एक जीवन-दर्शन खोल गया। भारत में जितने भी दार्शनिक एवं धार्मिक सम्प्रदायों का अभ्युदय आगे चल कर हुआ—प्राचीन ब्राह्मणधर्म का पुनर्जन्म भी और (उससे पूर्व) बौद्ध-प्रतिक्रिया भी—सभी की जन्मभूमि उपनिषदों की यही उर्वरा वनस्थलियां हैं।

दूसरी ओर—उपनिषदों को भी दैवी श्रुति स्वीकार कर लेने का परिणाम यह हुआ कि भारतीय दर्शन के प्रवाह में जो स्वतन्त्रता आ सकती थी—नहीं आई, क्योंकि—उपनिषदों में जो उद्बलता, विचार-शक्ति की जो स्वतन्त्रता, अन्तर्दृष्टि की, कृतित्व की...पदे-पदे नवलता हम पग-पग पर पाते हैं वह दर्शनों के अभ्युदय के साथ, क्रमशः, क्षीण ही होती गई; जिसके दो कारण हैं—एक तो यहां प्राचीनता

में लोगों का अन्धविश्वास, अन्य देशों की धर्मान्धता की तुलना में, कुछ कम नहीं; और दूसरे—वही अन्धविश्वास उनका उपनिषदों के शब्दों को ही दैवी श्रुति मानता है और मानता रहेगा।

किन्तु बात यह नहीं है कि उपनिषदों की कवित्वमयता में दैवी श्रुति का आभास इस अन्धविश्वास के कारण हुआ हो। कितने ही मूर्खता से भरे (ब्राह्मण ग्रन्थों में आए) प्रकरणों में भी वही आस्था हिन्दुओं की है; सो, इनका प्रभाव लोगों के जीवन में इस अन्धविश्वास के कारण हुआ हो, बात वैसी नहीं। वहां, अलबत्ता, इन उद्गारों की **कवित्वमयता** में कुछ है जो हृदय को भी उसी प्रकार से अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है जैसे कि बुद्धि को। भले ही **शोपनहा'र** इनकी प्रशंसा यह कह कर क्यों न करे कि 'इनमें मानवीय **चेतना का परम उत्कर्ष** निहित है, विकास निहित है'; और यह भी हम आधुनिकों की बुद्धि कभी स्वीकार नहीं कर सकती कि 'हजारों वर्षों तक इनकी अर्थ-पूर्णता वही बनी चलेगी'। न-ही हम दाऊसन के इस विचार से सहमत हो सकते हैं कि 'भले ही आज का वैज्ञानिक इन्हें पूर्ण रूप से विज्ञान-सम्मत अंगीकार न कर सके, फिर भी—सृष्टि के (मूल)'अन्तर्-रहस्य' को 'आत्मा की विशुद्ध अन्तर्ज्योति की छाया में' उपनिषदों के ऋषियों ने ही भांपा है। आगे चल कर, वेदान्त की व्याख्या करते हुए, दाऊसन ने प्रायः उपनिषदों की ईश्वरीयता को समर्थित करने का प्रयत्न भी किया है (यह कह कर कि 'इनकी दर्शन-धारा में जो गम्भीरता है, जो उदात्तता है वह न भारत में कभी फिर मिलती है, न विश्व में और कहीं मिलती है)।' ऐसे उद्गार प्रायः, सब, अतिशयोक्तिपूर्ण है। सत्य सिर्फ इतना है कि भारत के इन प्राचीन दार्शनिकों में वह अदम्य उत्साह है, वह प्रथम कुतूहल है, उत्कटता है—जो बुझने में ही नहीं आती! उपनिषदों में अतिमानव तत्व कुछ भी नहीं है; अपितु उनके विचारों की यह निपट मानवीयता ही है जिसका कि हमारे यहां आज भी, और सदा के लिए ही, महत्त्व कम नहीं हो सकता।

ऐतिहासिक जब विश्व की कथा लिखते हुए मानव चिन्तन-धारा का अनुसरण करता है तो वह भी इनके महत्त्व से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। उपनिषदों के **रहस्यवाद** ही का एक स्व-रूप पारसियों के **सूफी धर्म** में हम देखते हैं, तो उसी की दूसरी धारा हम धर्म की रहस्यमयता के प्रसंग में, पश्चिम में निओप्लैटानिकों तथा एलैगजैन्ड्रियन क्रिश्चनों के **ज्ञान-योग** की राह चल कर एक्-हार्ट तथा टौलर सरीखे, रहस्यवादियों के जीवन में प्रवहमान देखते हैं, और अन्त में—किस प्रकार वही प्राचीन प्रवाह १९वीं सदी के जर्मन रहस्यवादी शोपनहा'र[१४] के दर्शन को प्रेरित कर गया: यह किसको अविदित है? शोपनहा'र भारतीयों का, और उपनिषदों का, कितना ऋणी है—यह हम स्वयं उसी के मुख

से सुन चुके हैं। प्लैटो, कैण्ट, और वेद-वाङ्मय को शोपनहा'र ने अपना 'गुरु' स्वीकार किया है। अपने 'यूनिवर्सिटी लैक्चर' की पाण्डुलिपि में उसने कभी लिखा भी था कि 'जिन निष्कर्षों को मैं आपके सामने उपस्थित कर रहा हूं—आपको जान कर, शायद आश्चर्य होगा कि किस प्रकार वे (मेरे विचार) 'जीवन दर्शन' पर अभिव्यक्त किए-गए प्राचीनतम विचारों से अक्षरशः मेल खाते हैं!' जब पहले-पहल संस्कृत-वाङ्मय के स्रोत से एक मलय पश्चिम की ओर बही थी तब भी शोपनहा'र ने यह भविष्यवाणी की थी कि '१९ वीं सदी का विश्व को यह सबसे-अमूल्य उपहार है–जिसका **सर्वात्मवाद** समय आएगा, पश्चिम में भी लोक-साधारण का एकमात्र विश्वास, एक मात्र जीवन-सिद्धान्त बन जाएगा, अनुभव बन जाएगा, धर्म बन जाएगा।' उपनिषदों की विचारधारा के साथ स्वयं अपने विचारों की संगति देख कर शोपनहा'र चकित था और उसका कहना था कि 'मेरे विचारों को ये उपनिषदें अपने छोटे-छोटे वाक्यों में उपसंहृत कर देती हैं, यद्यपि सम्पूर्ण उपनिषद्-वाङ्मय को पढ़ कर मुझे कभी-भी यह प्रतीत नहीं हुआ कि मेरे-ही विचार-सूत्रों को लेकर उपनिषदों के ऋषि इन परिणामों पर पहुंचे होंगे।' और यह तो सुविदित है ही कि उपनिषदों के पन्ने शोपनहा'र की मेज पर हमेशा फड़-फड़ाते रहा करते थे। उन्हीं को पढ़ते-पढ़ते शोपनहा'र को नींद आ जाती,..उन्हीं से स्वप्न में उसे नूतन आध्यात्मिक प्रेरणाएं मिलतीं! एक स्थान पर शोपनहा'र ने कहा भी है कि, मूल संस्कृत को छोड़ कर शायद, दुनिया में कोई भी इतनी उदात्त वस्तु मुमकिन नहीं हो सकती। उपनिषदों के पृष्ठ मेरे लिए—जीवन में सान्त्वना का एक अक्षय स्रोत रहे हैं, और मृत्यु की वेला में भी रहेंगे।' 'उपनिषदों के मौलिक सिद्धान्त—**अहं ब्रह्मास्मि**—पर बेवकूफ हमेशा से हंसते आए हैं—और सयाने उसी चीज पर मुग्ध होते आए हैं। एक शब्द में—उपनिषदों का वह सिद्धान्त अ-द्वैत है: जिसका अर्थ यह होता है कि 'संसार में यह प्रत्यक्ष-सी दीखती अनेकता माया है, भ्रान्ति है। हम व्यक्तियों की असंख्य स्वार्थ-दृष्टियों में भी, सच पूछिए तो, एक ही जीवन की प्रवृत्ति है जो अपनी निरन्तरता में न समाती हुई, मानो, इस प्रकार बाहर बिखर जाती है। यदि लुडविश स्टाइन[१५] की इस उक्ति में—कि 'वर्तमान दर्शन का स्वरूप एकतावाद ही है, जो विश्व के सब रहस्यों का समाधान कर सकता है'—कुछ सचाई है, तो—वर्तमान दर्शन की इस एकता का प्रत्यक्ष (स्वानुभव) भारत में आज से तीन हजार साल पहले ही, उस बावा आदम के जमाने में कभी, हो चुका था।

७ A. E. Gough: *The Phil. of the Upanishads;* Deussen: *The Phil. of the Upanishads* (AGPh, I, 2); Barua: *A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy.*

८ *System des Vedanta*, 128; AGPh 241f.
९ Sechzig : *Upanishads*, 463.
१० Regnaud : *Le Pessimisme Brahmanique* (Annales, du Musèe Gaimet, t. I, 101 A).
११ मैत्रायणी ७. ८.—; Oldenberg : *Zur Geschichte der altindischen Prosa,* 33.
१२ M. K. Hecker : *Schopenhauer und die indische Philosophie*, 116-20.
१३ प्रस्थान-भेद.
१४ Parerga und Paralipomena, II, 417 L§ 185, Hecker, *loc. cit.*, 6ff. *Grundlage der Moral* IV, 268ff.
१५ Naue Freie Presse, Suppl. (July 10th 1904).

वेदांग साहित्य

मुण्डक उपनिषद् में एक स्थान पर सम्भवतः सर्वप्रथम **परा** और **अपरा** दो विद्याओं का पृथक्-पृथक् उल्लेख मिलता है । परा से अभिप्रेत (भारत के लिए) ऋषियों को ब्रह्मविद्या थी जबकि अपरा से वे 'ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष' का ग्रहण (मुण्डक १.१. ५)' किया करते थे। इसी प्रकरण में, सम्भवतः, सर्वप्रथम वेदांगों का संकेत मिलता है। आरम्भ में 'वेदांग' न किसी विशिष्ट पुस्तक का, और न ही किसी विशिष्ट सम्प्रदाय की, संज्ञा थी, अपितु वेदार्थ समझाने के लिए एक प्रकार की अध्ययन-प्रणाली अथवा कुछ-एक विषयों का समावेश इसमें हुआ करता था। वेदांग में परिगणित विषयों का पूर्वाभास हमें ब्राह्मणों तथा आरण्यकों में मिलता है जहां, यज्ञ-प्रक्रिया की व्याख्या करते करते मुनि शिक्षा शास्त्र, व्याकरण शास्त्र, निरुक्त शास्त्र, छन्द शास्त्र तथा ज्योतिष शास्त्र का आश्रय लेता है। ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, इन प्रारम्भिक कल्पनाओं का वैज्ञानिक विकास होता गया और वेदार्थ के सम्प्रदायों में इन छः उपांगों की भी स्वतंत्र स्थिति बन गई। इनकी रचना सूत्र-शैली में हुई जो भारतीय साहित्य में गद्य शैली का सम्भवतः सर्व-प्रथम उदाहरण है। ये सूत्र— स्मृति को सहायता देने के लिए लिखे गए थे, प्रतीत ऐसा ही होता है।

सूत्र का शब्दार्थ है 'धागा', साहित्य में इसका लाक्षणिक अर्थ होता है— 'विचार का संक्षिप्त प्रस्ताव'। जिस प्रकार सूक्ष्म तंतुओं के ताने-बाने से हम एक वस्त्र का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार विचारों में व्यवस्था, परस्पर-संगति, ला कर कल्पना को भी अनुसूत्रित' किया जा सकता है। इस प्रकार के सूत्रों के समुदाय को **'सूत्र' ग्रन्थ** नाम दिया जाता है; इनकी रचना विशुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से हुआ करती थी कि 'सूत्र' के द्वारा वज्ञानिक तथ्यों को, उनके 'इस' प्रस्तुत (संक्षिप्त) रूप में, विद्यार्थी आसानी से याद कर सकें। विश्व के इतिहास में भारतीय सूत्र-प्रणाली का निदर्शन अन्यत्र ढूंढ़ना व्यर्थ है। कितनी ही बार सूत्रकर्त्ता अपनी संक्षिप्तता में स्पष्टता को एवं बुद्धि-गम्यता को भी तिलांजलि दे देता है। पतंजलि के समय से तो विशेषकर भारतीय वैयाकरणों में एक विश्वास ही चला आता है कि आधी-मात्रा यदि बचाई जा सके, तो वैज्ञानिक को उससे पुत्रोत्पत्ति का आनन्द होता है। सूत्र-शैली को, बिना उदाहरण के, समझ सकना असम्भव है। **आपस्तम्ब धर्मसूत्र** तथा **गोभिल गृह्यसूत्र** के ये दो उदाहरण पर्याप्त होने चाहिएं :—

आपस्तम्ब (१.१.१.४-८)

सूत्र ४ : वर्ण चार होते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ।

सूत्र ५ : वर्णों में महिमा अथवा प्रभुता इसी क्रम से घटती जाती है (जो वस्तु-तः जन्म पर आश्रित होती है) ।

सूत्र ६ : (शूद्रों के अतिरिक्त) अन्य वर्णों के कर्त्तव्य ये तीन हैं—दीक्षा, वेदों का अध्ययन, अग्निचयन; इन (कर्त्तव्यों) से मनुष्य का परलोक बनता है ।

सूत्र ७ : शूद्र का कर्त्तव्य है वह शेष तीन वर्णों की आज्ञा का पालन करे ।

सूत्र ८ : शूद्र जितने ऊंचे वर्ण की सेवा करेगा, उतना ही अधिक फल उसे मिलेगा ।

गोभिल (१.५.१-५, ८-९)

सूत्र १ : दर्श तथा पूर्णमास की वेला में निम्न कर्त्तव्य गृहस्थ को करने चाहिएं—

सूत्र २ : प्रतिपदा की संध्या में उपवास ; ....।

सूत्र ३ : कई आचार्यों का मत है कि उपवास चन्द्रमा के दर्शन के कुछ बाद करना चाहिए ।

सूत्र ४ : इसके अतिरिक्त, जिस दिन चन्द्रमा न निकले उस दिन भी, इसी प्रकार उपवास का विधान है ।

सूत्र ५ : पक्ष के अन्त में उपवास का, और पक्ष के शुरू में यज्ञ का, विधान किया गया है ।

सूत्र ८ : कृष्ण पक्ष में भी, प्रतिपदा की तरह ही, उपवास विहित है ।

सूत्र ९ : चन्द्रमा की झलक ही इन कार्यों के लिए पर्याप्त समझी जानी चाहिए ।

मूल संस्कृत में कई शब्द नहीं हैं जिन्हें स्पष्ट करने के लिए अनुवाद में कुछ छूट से काम लिया गया है। आज भी परम्परा इन सूत्रों को याद कर लेने की है; अर्थ इनका बाद में गुरुदेव स्वयं, समय आने पर, समझा ही देंगे ! पीछे चल कर इन सूत्रों की व्याख्या को भी लिपिबद्ध कर दिया गया—जिसके अभाव में हम आज शायद एक पग भी न चल सकें। सूत्र-शैली का उद्भव ब्राह्मणग्रंथों के साथ होता है जहां छोटे-छोटे वाक्यों में सब-कुछ कह दिया गया है : वाक्य सरल होते हैं मिश्रित नहीं, न घुमा-फिरा कर कुछ कहना ही उन्हें आता है; और, यदि वाक्यपूरक दो चार पद संदर्भ में न लाये जायं, तो शायद सब कुछ ही विरस हो जाए। ब्राह्मणों में आवृत्तियां भी हुई हैं, किन्तु उन आवृत्तियों के बावजूद बहुत-कुछ वहां अस्पष्ट रह गया है—जिसकी पूर्त्ति मौखिक परम्परा द्वारा ही हो सकती थी। छोटे-छोटे वाक्य लिखने में एक कठिनाई भी आती है, वह यह कि इसमें वाक्य प्रायः परस्पर-असंगत होने लग जाते हैं और कई वार तो अर्थ लुप्त ही हो जाता है।

वाक्यों को और भी संक्षिप्त करने के लिए हम ब्राह्मण ग्रन्थों में समास का प्रयोग भी पहली-बार पाते हैं—जिसका दुरुपयोग शैली के रूप में, एक युग में—भारत के लौकिक वाङ्मय युग में, बहुत अधिक हुआ। खैर; यह सूत्र शैली[२] ब्राह्मण ग्रंथों में प्रवर्तित हो चुकी थी : इसका प्रमाण हमें (सूत्र-ग्रंथों में) ब्राह्मण ग्रन्थों से उद्धृत छोटे-छोटे वाक्यों में स्वयं मिल जाता है।

१ W. Garbe : *Geschichte der chinesischen Literatur*, Leipzig 1902 31

२ Lobbecke : *Uber das Verhältnis der Brāhmanas und Śrautasutren* Dss., 1908.

कल्पशास्त्र

सूत्रशैली का सर्वप्रथम रूप हमें ब्राह्मणों तथा आरण्यकों से सम्बद्ध यज्ञ याग आदि के प्रसंगों में मिलता है। ऐतरेय आरण्यक में सचमुच कितने ही स्थल ऐसे हैं जिन्हें आश्वलायन, शौनक आदि सूत्रकारों की कृति माना गया है। इसी प्रकार सामवेद के कुछ ब्राह्मण विषय की दृष्टि से भी सूत्र अधिक हैं ब्राह्मण कम। ब्राह्मणों का मुख्य विषय कल्प-विधान है; सो, सर्वप्रथम सूत्र-ग्रंथ सम्भवतः (भारत में) ये कल्पशास्त्र ही थे। पुरोहितों के सुभीते के लिए कर्मकाण्ड परक लघु-ग्रंथों की आवश्यकता देर से चली आती थी जिसे इन 'पौरुषेय' कृतियों ने पूर्ण कर दिया। कल्प सूत्रों के दो भाग होते हैं—**श्रौत** सूत्र तथा **गृह्य** सूत्र—जिनके विषय, क्रमशः, श्रौत एवं गृह्य कर्म होते हैं।

श्रौत सूत्रों में तीनों अग्नियों के चयन पर, **अग्निहोत्र** पर, दर्श तथा पूर्णमास की प्रक्रिया पर, आर्तव यज्ञों पर, पशुमेध पर तथा **सोमसत्र** के विभिन्न-रूपों में विधि-आदेश संकलित हैं। भारतीय यज्ञ-प्रणाली को समझने के लिए इनका महत्त्व बहुत है। इसी प्रकार, विश्व के इतिहास में भी यज्ञ का महत्त्व क्या है—इस समस्या पर भी इनसे पर्याप्त प्रकाश पड़ता है :[3]

गृह्य सूत्रों का विषय श्रौत सूत्रों की अपेक्षा अधिक विस्तृत होता है, और उसका हमारे लौकिक जीवन में सम्बन्ध भी कहीं अधिक होता है। गृह्य सूत्रों में भी भारतीय पारिवारिक जीवन का महत्त्व बहुत बढ़-चढ़ कर आया है। इनमें गर्भ से लेकर मृत्यु पर्यन्त **सोलह संस्कारों** से सम्पूर्ण जीवन को विभक्त कर दिया गया है—मानो, यह जीवन : आत्मा की लोकलोकांतर (निरन्तर) यात्रा के अतिरिक्त कुछ न हो! नवजात के जन्म पर, नामकरण पर, अन्नप्राशन पर, चूड़ाकर्म पर, उपनयन पर, वेदारम्भ पर, दीक्षान्त पर—क्या-क्या रीतिरिवाज, उन दिनों, प्रचलित थे, इसका विस्तृत ब्योरा हमें इन गृह्य सूत्रों में मिलता है। माता-पिता के **कर्त्तव्य** क्या हों, आचार्य का कर्त्तव्य क्या है, और पति-पत्नी का परस्पर-जीवन कैसे बीतना चाहिए—इन विषयों पर भी यहां निर्देश हैं; विशेषतः, कन्यादान तथा विवाह पर एक विस्तृत अध्याय ही इनमें अर्पित है। अन्यथा, शतपथ ब्राह्मण (११. ५. ६) के संकेतों को लेकर गृह्य सूत्रों में प्रत्येक गृहस्थ के लिए **पांच दैनिक महायज्ञ** आवश्यक उद्घोषित किए गए हैं। ये किस प्रकार महायज्ञ बने—इसका उल्लेख कहीं नहीं किया गया, क्योंकि—इनमें छोटी-

छोटी बातों का ही उल्लेख अधिक मिलता है। इन दैनिक यज्ञों का सम्बन्ध देवों-असुरों और पितरों से माना जाता है; परन्तु विधान इनका बहुत सरल है—**अग्नि-समिन्धन, अन्न की आहुति, आचमन, अतिथि-सत्कार और स्वाध्याय**। स्वाध्याय को तो विशेषतः ब्रह्मयज्ञ (अपिवा ऋषि-यज्ञ) कहने की प्रथा से स्पष्ट है कि वेद के अध्ययन को कितना पवित्र समझा जाता था। इन महायज्ञों के अतिरिक्त, गृह्य सूत्रों में दर्श, पूर्णमास तथा अन्यान्य **वार्षिक उत्सव** भी संगृहीत है जिससे अनुमान होता है कि अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, तथा चातुर्मास्य आदि यज्ञों का उद्भव संभवतः इन वार्षिक उत्सवों से ही हुआ हो; साथ ही, **उन दिनों के सब रीति-रिवाज** गृह-निर्माण, पशुपालन, कृषि, रोग-निवारण, तथा शकुन-शान्ति आदि के लिए तथा अभिशापों से मुक्ति पाने के लिए भी कितने ही रहस्यमय उपाय इन सूत्रों में बताए गए हैं। संस्कारों की समाप्ति **अन्त्येष्टि** के साथ होती है यद्यपि जीवनयात्रा अभी प्राणी की समाप्त नहीं हुई—देहान्त के पश्चात् आत्मा की सुख-शान्ति के लिए **श्राद्ध**-संस्कारों को 'श्राद्ध कल्प' नामक ग्रन्थ में पृथक् संकलित कर दिया गया है[४]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि गृह्य सूत्रों का महत्त्व साहित्य की दृष्टि से भले ही नगण्य हो, समाजशास्त्र के विद्यार्थी के लिए वे सचमुच अद्भुत निधि हैं। ऐतिहासिक जानते हैं कि यूरोपीय जातियों के पुराने रीति-रिवाजों को इतिहास में संगत बिठाने के लिए उन्हें किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, और भारत में—इन छोटी-छोटी पुस्तकों में (जिनका महत्त्व हमें शुरू में कुछ भी प्रतीत नहीं होता) प्राचीन भारतीयों का जीवन अपनी पूर्णता में अंकित है। ऐसा लगता है जैसे हम उस युग का प्रत्यक्ष दर्शन कर रहे हों। ये गृह्य सूत्र तथा कल्प सूत्र प्राचीन भारत के **वैयक्तिक तथा सामाजिक लोक-जीवन का एक सच्चा चित्र** उपस्थित करते हैं, यद्यपि—सूत्रकारों की मुख्य दृष्टि धार्मिक ही थी। किन्तु भारत में धर्म और जीवन में एक विभाजक-रेखा कभी खींची ही नहीं जा सकी। लौकिक रीति-रिवाज—प्रातःकाल से सायंकाल तक दैनिक जीवन का कोई भी अंश—धर्म-बाह्य नहीं समझा जाता था। यही नहीं, इन रीति-रिवाजों से सम्पूर्ण इण्डो-यूरोपियन वंश की जैसे एक 'दैनन्दिनी' आत्म-कथा-सी स्पष्ट हो आती है। ग्रीक, रोमन, टाइटन, तथा स्लाव जातियों में प्रचलित वैवाहिक प्रथाओं के साथ तुलनात्मक अध्ययन द्वारा एकदम स्पष्ट हो जाता है कि **विभिन्न इण्डो-यूरोपियन जातियों में परस्पर-साम्य निरा भाषागत ही नहीं था**[५]।

गृह्य सूत्रों के साथ सम्बद्ध सूत्र-श्रेणी के एक और वाङमय-अंश की उपेक्षा भी हम नहीं कर सकते। इस वाङमय को संज्ञा दी गई है—**धर्म-सूत्र** 'धर्म' का अर्थ

होता है—कर्त्तव्य भी और रीति-रिवाज भी। भारतीय धर्म में जीवन को—पार्थिव तथा अपार्थिव—दो पृथक् भागों में कभी विभक्त नहीं किया गया। इन सूत्रों में भारतीय जीवन की (वर्णाश्रम-धर्म की दृष्टि से) संगति बिठाने का प्रयत्न किया गया है। किन्तु ब्राह्मणों ने वर्णाश्रम-व्यवस्था का प्रयोग अपनी स्वार्थ वृत्ति के लिए किया, सो—इनकी गणना कानूनी साहित्य में की जाने लगी, यद्यपि—इनका मौलिक सम्बन्ध वैदिक सम्प्रदायों के विभिन्न श्रौत तथा गृह्य कल्पसूत्रों से था।

अन्त में हम **शुल्व** सूत्रों को लेते हैं जिनकी उपयोगिता, ज्यामिति की दृष्टि से अथवा वेदि-निर्माण की दृष्टि से कुछ हो तो हो, वैज्ञानिक दृष्टि से कुछ नहीं है। 'शुल्व' का शब्दार्थ होता है—'मापने की रस्सी'। किन्तु—क्या इस रस्सी का उपयोग केवल यज्ञ के प्रकरण में ही (इन सूत्रकारों को) इष्ट था ?

इसके अतिरिक्त, श्रौत तथा गृह्य सूत्र वेदार्थ-प्रतिपादन में भी पर्याप्त सहायक हैं, क्योंकि—यज्ञ-आदि के लिए इनमें कुछ नियम ही निर्दिष्ट हों, ऐसी बात नहीं; ये मंत्रों का उचित विनियोग भी निर्धारित करते हैं। वैदिक संहिताओं से यजुष् तथा ऋचाएं लेकर उन्हें यज्ञ की संगति देना इनका मुख्य ध्येय प्रतीत होता है। कई बार तो, आपाततः, इनका यज्ञ-प्रक्रिया से कोई सीधा सम्बन्ध ही प्रतीत नहीं होता—पाठक सचमुच दंग रह जाता है कि मूल प्रार्थनाओं का क्या दुरुपयोग हो रहा है और, कहीं-कहीं तो, मूल पाठ को स्वार्थ-सिद्धि के लिए पुरोहित ने कितना दूषित कर दिया है—यह देखकर तबीयत ऊबने लगती है। किन्तु, साथ ही, जब वे वेद के कुछेक गूढ़ स्थलों को स्पष्ट करने लगते हैं तब, अलबत्ता, हमें इन्हीं सूत्रकारों का कृतज्ञ होना पड़ता है। सूत्रों के बीच-बीच मन्त्र अथवा मन्त्रांश उद्धृत मिलते है, किन्तु प्रायः मन्त्रों के प्रारम्भिक दो-एक पदों का संकेत ही पर्याप्त समझ लिया गया है।

आश्चर्य तो यह है कि मूल मन्त्रों द्वारा ही कल्प सूत्रों का विविध वैदिक सम्प्रदायों के साथ सम्बन्ध निर्धारित होता है। उदाहरणार्थ—**कृष्ण** यजुर्वेद के गृह्य एवं श्रौत सूत्रों में मंत्र उसी रूप में प्रस्तुत हैं जिस रूप में कि हम तत्सम्बद्ध यजुर्वेदीय संहिताओं में उन्हें पाते हैं। यजुर्वेद के यजुषों का तो केवल संकेत ही इनमें निर्दिष्ट है (क्योंकि पुरोहित को, तथा यजमान को, यजुर्वेद की अपनी-अपनी शाखा का परिज्ञान होना ही चाहिए) जबकि ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के मंत्रों को पूर्ण रूप में ही उद्धृत किया गया है, कहीं-कहीं तो ऐसे मन्त्र भी हम इन सूत्र-ग्रन्थों में पातेहैं जो हमें उपलभ्य किसी भी संहिता में नहीं मिलते। दो गृह्य सूत्रों—**गोभिल**, से सम्बद्ध 'मन्त्र ब्राह्मण' तथा **आपस्तम्ब** से सम्बद्ध 'मन्त्र पाठ'—में तो मूल संहिता

में आने वाले मन्त्रों को, पृथक्, एक परिशिष्ट के रूप में, सम्पादित भी कर दिया गया है जो कि उनके नाम से ही स्पष्ट है।

कृष्ण यजुर्वेद से सम्बद्ध **बौधायन** तथा **आपस्तम्ब** सम्प्रदायों में ही हमें श्रौत, गृह्य, धर्म, तथा शुल्व (चारों प्रकार के) सूत्र-ग्रंथ एक साथ मिलते हैं; और उनकी आंतरिक संगति से भी स्पष्ट है कि ये चारों ग्रंथ, मूल में, जैसे किसी एक-ही महान् ग्रंथ के परम्परित भाग-विभाग हों। बौधायन तथा आपस्तम्ब इस सूत्रमाला के, संभव है, लेखक हों। ऐसा न भी हो, तब भी—कम-से-कम यजुर्वेद की (इन दो शाखाओं के सूत्र-वाङ्मय में) परस्पर-संगति अप्रत्याख्येय है।

आपस्तम्ब सूत्र-वाङ्मय मे निकट-सम्बद्ध **भारद्वाज** तथा **(सत्याषाढ़) हिरण्य-केशी** शाखाओं के सूत्रग्रंथ हैं। भारद्वाजों के श्रौत सूत्र अभी हस्तलिखित रूप में ही मिलते हैं, जबकि उनके गृह्य सूत्र प्रकाशित हो चुके हैं; हिरण्यकेशियों के श्रौत तथा गृह्य (दोनों) सूत्र-ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं, यद्यपि आपस्तम्ब तथा हिरण्य-केशी धर्म-सूत्रों में परस्पर-भेद बहुत नहीं है।

इन सूत्रों के साथ हम प्रायः अज्ञात **वाधूलों** तथा **वैखानसों** को भी ले सकते हैं जिनका **तैत्तिरीय** संहिता के साथ अति-निकट सम्बन्ध है। सूत्र-वाङ्मय में कालदृष्टि से बौधायन सबसे पहले आता है और भारद्वाज, आपस्तम्ब, हिरण्यकेशी क्रमशः उसके बाद। **मानव** शाखा के श्रौत-गृह्य सूत्रों का, तथा **काठक** गृह्यसूत्र का, सम्बन्ध मैत्रायणी संहिता से है।

क्या सभी वैदिक संहिताओं अपिवा संहिता-शाखाओं के पृथक्-पृथक् चतुर्विध कल्पसूत्र थे (जैसे कि बौधायन तथा आपस्तम्ब के हमें मिलते भी हैं)—इस विषय में निश्चय से कुछ नहीं कहा जा सकता। कृष्ण यजुर्वेद के अतिरिक्त अन्य संहिताओं में किसी का गृह्य सूत्र उपलब्ध है, तो किसी का श्रौत सूत्र। ऋग्वेद तथा शुक्ल यजुर्वेद के साथ कुछ एक धर्मसूत्र जोड़ दिये गये हैं, परन्तु वस्तुतः उनका सम्बन्ध इन संहिताओं से था भी या नहीं—एक समस्या ही है। शुक्ल संहिता से सम्बद्ध **कात्यायन** श्रौत सूत्र, **पारस्कर** गृह्य सूत्र, **कात्यायन** शुल्व सूत्र हैं, तो **आश्वलायन** श्रौत सूत्र, **आश्वलायन** गृह्यसूत्र तथा **शांखायन** गृह्य एवं श्रौत सूत्र ऋग्वेद से सम्बद्ध हैं; इसी प्रकार, सामवेद के **लाट्यायन** तथा **द्राह्यायन** श्रौत सूत्र **जैमिनीय** श्रौत एवं गृह्य सूत्र, तथा **गोभिल** ओर **खादिर** गृह्यसूत्रों में भी बड़ा निकट परस्पर-सम्बन्ध है। सामवेद वाङ्मय में **आर्षेय कल्प** (अथवा **मशक** कल्प सूत्र) की उपेक्षा भी नहीं की जा सकती, क्योंकि—इसमें सोम-सत्रों के प्रसंग में गेय विभिन्न गीतों, लयों की शिक्षा विहित है। इस सूत्र का सम्बन्ध पंचविंश ब्राह्मण से किया जाता है, और इसकी रचना निस्सन्देह लाट्यायन सूत्र से पूर्व हो चुकी थी।

और, अन्त में, अथर्ववेद वाङ्मय में एक बड़े अर्वाचीन श्रौतसूत्र **वैतान** का उल्लेख, तथा प्राचीन **कौशिक** सूत्र का उल्लेख, अप्रासंगिक न होगा। कौशिक सूत्र को हम अंशतः ही एक गृह्यसूत्र कह सकते हैं, क्योंकि, गृह्य विधियों के अतिरिक्त, अथर्ववेदीय अभिचार मंत्रों में आई जादूगीरी (अथवा ऐन्द्रजालिक विधि) का बड़ा ही सूक्ष्म विवेचन (बड़े-पैमाने पर) इसमें मिलता है। इस प्रकार अथर्ववेदीय 'मन्त्र विद्या' को स्पष्ट करने के लिए कौशिक सूत्र का महत्त्व बहुत अधिक है। इसी प्रकार का एक मंत्र-विद्यात्मक सूत्र-ग्रंथ सामवेद से सम्पृक्त भी मिलता है जिसका नाम **सामविधान-ब्राह्मण** यद्यपि कुछ भ्रामक प्रतीत होता है।

इन मुख्य सूत्रग्रन्थों के अतिरिक्त, कुछ उपसूत्र—श्राद्धकल्प तथा पितृकल्प सूत्र के नाम से मिलते हैं जिनमें कुछ का सम्बन्ध तो वैदिक संहिताओं से किया जाता है जबकि अधिकांश उनसे वस्तुतः अर्वाचीन हैं। यह सूत्र-वाङ्मय परम्परा किसी विशेष युग में समाप्त हो गई प्रतीत नहीं होती; उपनिषदों की भांति प्रायः आज तक सूत्र-वाङ्मय पल्लवित हो(ता) रहा है। श्रौत और गृह्यसूत्रों के कुछ अस्पष्ट अथवा अर्ध-स्पष्ट प्रसंगों पर प्रकाश डालने के लिए कुछ **परिशिष्ट** भी लिखे गए जिनमें गोभिल गृह्य सूत्र से सम्बन्ध **गोभिलपुत्र-कृत गृह्य-संग्रह परिशिष्ट** मिलता है और एक **धर्मप्रदीप** भी। धर्म के इतिहास में अथर्ववेद के एक परिशिष्ट का महत्त्व अभिचार-विधि, शकुन-विधि, एवं स्वस्ति-विधि की दृष्टि से बहुत अधिक है। वैतान सूत्र के अविभाज्य अंग के रूप में एक बड़ा प्राचीन '**प्रायश्चित्त सूत्र**' भी उपलब्ध हुआ है। उत्तर सूत्र-वाङ्मय में कुछेक **प्रयोग**, **पद्धति** तथा **कारिका** नामक ग्रंथों का उल्लेख किया जा सकता है। ये प्रायः वैदिक संहिताओं से सम्बद्ध पूर्ण संस्कारविधियां-ही हैं, या फिर—इनका विषय कुछेक विशेष संस्कार ही हैं जिनमें विशेष महत्त्व विवाह, समाधि-चयन तथा श्राद्धपरक निबंधों का है।

३ Hubert und manss : *Essai sur la nature et la fonction du sacrifice* (Annèe Sociologiqe, Paris, 1897-98, 29-138).

४ Caland: *Über Totenverehrung liei einigen der indo-germanischen Völker*, 1188; *Altindischen Abnenkult*, 1893; *Die altindischen Totden-und Bestattungsgebräuche*, 1896; Winternitz : *Notes on Śraddhas*, WLKM, 41, 1890, 189ff.

५ Haas und Weber (*Die Heiratsgebräuche der allen Iander, nach den Esten und einiger finnisch-ugrischer Völkerschaften im Vargleichung mit denen der indogermanischen Völker* 1888; Leist (*Altarischen Jus gentium*, 1889); Winternitz (International Folk Congress, 1891, '*Papers and Transactions*, 1892', 267-91); Schroeder : *Reallexikon der indogermanischen Altertumskunde*, 1901, 353ff); Th. Zachariae: *Zum altindischen Hockzeitsritual*, WZKM, XVII. 135ff. 211 ff.

वेदार्थ में सहायक वेदांग ग्रंथ

शिक्षा-ग्रंथ भी काल दृष्टि से प्रायः कल्पसूत्रों के समकालीन ही ठहरते हैं : कल्पसूत्रों का सम्बन्ध वेदों के ब्राह्मण भाग से था, तो शिक्षा-सूत्रोंका योग सम्बन्ध वेद की संहिताओं से होता है। शिक्षा का अर्थ होता है—'वैदिक मंत्रों (शब्दों) के सही उच्चारण सिखाने वाला लघु ग्रंथ'। शिक्षा का वेदांग रूप में परिगणन सबसे पहले सम्भवतः **तैत्तिरीय उपनिषद्** १. २ में हुआ है जहां अक्षर-विज्ञान स्वर-विज्ञान, मात्रा-विज्ञान, लय-विज्ञान, सन्धि-विज्ञान, तथा निवृत्ति-विज्ञान, को शिक्षा के छः अध्याय बताया गया है। शिक्षा की युक्ति भी, धर्मसूत्रों की भांति, धार्मिक कृत्यों से प्रसूत हुई थी, क्योंकि—किसी भी धार्मिक कृत्य के निष्पादन के लिए उस कृत्य के विधि-विधान का ज्ञान तो आवश्यक होता ही था, साथ ही उसमें आये मंत्रों आदि के,(प्राचीन परम्परा के अनुसार)यथावत् उच्चारण आदि की भी उपेक्षा न की जा सकती थी। इससे स्पष्ट निष्कर्ष यह निकलता है कि शिक्षा-ग्रंथों का जब निर्माण हुआ, संहिताओं के प्रति भारतीय जन-साधारण की आस्था बद्ध मूल हो चुकी थी। उदाहरणतया—ऋग्वेद संहिता के सम्बन्ध में तो यह सप्रमाण सिद्ध किया ही जा सकता है कि लिखित मंत्रों में प्राचीन परम्परा सुरक्षित नहीं है, क्योंकि—सम्पादकों ने संकलन करते-करते वैदिक शब्दों में यद्यपि बहुत हेर-फेर नहीं किया, तथापि शिक्षा के सिद्धान्तों के अनुसार सन्धि-नियमों का पालन करते हुए उन्होंने मूल शब्दों के आदि और अन्त में प्रायः कुछ परिवर्तन कर ही दिये थे। मूल रूप **'त्वं हि अग्ने'** का जो रूप संहिताओं में **'त्वं ह्यग्ने'** मिलता है : वह (परिवर्तन) निश्चय ही शिक्षाकारों ने किया होगा। संहितापाठ के अतिरिक्त प्रत्येक मंत्र का पदपाठ भी इन ग्रंथों में मिलता है जिसमें मन्त्र के अंगभूत पदों को पृथक्—अर्थात् सन्धि और स्वर की दृष्टि से स्वतन्त्र-अंकित करने की प्रथा है:—

अग्नि पूर्वेभिर् ऋषिभिरीड्यो नूतनैरुत ।
स देवाँ एह वक्षति ॥

का पाठ इस प्रकार होगा :—

अग्निः । पूर्वेभिः । ऋषिभिः । ईड्यः । नूतनैः । उत ।
सः । देवान् । आ । इह । वक्षति ॥

यह पदपाठ बिना शिक्षा एवं व्याकरण के ज्ञान के असम्भव है। ऋग्वेदीय

पद-पाठ-विश्लेषण ऐतरेय आरण्यक में अभिपूजित आचार्य **शाकल्य** के नाम से प्रसिद्ध है ।

इस प्रकार **संहिता** पाठ अथवा **पद** पाठ शिक्षा-विधान के पुराण फल हैं। इन शिक्षा-सम्प्रदायों का जो-कुछ रूप वेदांग-वाङ्मय के रूप में हमें मिलता है, उसे **प्रतिशाख्य** की सामान्य संज्ञा दी जाती है। प्रतिशाख्यों में संहितापाठ तथा पदपाठ के परस्पर-परिवर्तन के नियम निर्दिष्ट हैं : अर्थात्–प्रतिशाख्यों का विषय भी—शिक्षा-ग्रन्थों की भांति—उच्चारण, स्वर, सन्धि आदि का परिज्ञान कराना ही है। कहीं-कहीं वेदों में, अ-कारण, स्वर को दीर्घ रूप में उच्चारण करना होता है: ऐसे नियमों को भी यहां एकत्रित कर दिया गया है। प्रत्येक संहिता की अपनी-अपनी पृथक् शाखा होती है, अपना-अपना पृथक् प्रतिशाख्य होता है। **ऋग्वेद** प्राति-शाख्य को आश्वलायन के गुरु **शौनक** की कृति माना जाता है। प्राचीन सूत्रों में इसे एक सूत्र कहा गया है, सो—सम्भव है शौनक का यह ग्रंथ वास्तव में किसी प्राचीन सूत्र का एक नवीन-संस्करण मात्र ही हो। इसी प्रकार तैत्तिरीय संहिता से सम्बद्ध **तैत्तिरीय** प्रातिशाख्यसूत्र भी मिलता है, तथा **वाजसनेयि संहिता** तथा **अथर्ववेद संहिता** के पृथक्-पृथक् **प्रातिशाख्य सूत्र** भी मिलते हैं जिनमें **वाजसनेयिसूत्र** को कात्यायन कृत्य माना जाता है। एक **सामप्रातिशाख्य**, तथा सामवेद के उत्तर-गान के सम्बन्ध में एक **पुष्पसूत्र** भी उपलब्ध हुआ है, जब कि यज्ञ में 'सामगान' के विषय पर एक अलग **'पंच-विध-सूत्र'** भी प्राप्त हुआ है।

इन प्रातिशाख्यों का महत्त्व दो दृष्टियों से है : एक तो—भारत में **व्याकरण** का वैज्ञानिक अध्ययन इन प्रातिशाख्यों के साथ ही शुरू होता है यद्यपि यह सच है कि इन्हें व्याकरण-ग्रंथ नहीं कहा जा सकता; किन्तु जिन विषयों का विवेचन इनमें होता है वे प्रायः **व्याकरण** के विषय भी हैं—और स्वयं व्याकरण के कर्त्ता मनीषियों ने भी प्रातिशाख्यकारों का नाम-से-उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है; दूसरे—इनका महत्त्व इस दृष्टि से भी कुछ कम नहीं कि हम आज दृढ़ विश्वास के साथ यह कह सकते हैं कि **वैदिक संहिताओं का मूल स्वरूप** यदि आज तक यथावत् सुरक्षित है, तो इन प्रातिशाख्यों के कारण ही। ऋग्वेद प्रातिशाख्य की साक्षी है कि न केवल ऋग्वेद का मण्डलों में विभाजन ही उन दिनों तक हो चुका था, अपितु सूक्तों का क्रम भी अक्षरशः, उस प्राचीन युग में, वही था जिस रूप में हमारी आज की छपी पुस्तकों में वह मिलता है ! यह सब शौनक महर्षि के निर्धारित नियमों की कृपा से ही संभव हो सका था।

ये प्रातिशाख्य वस्तुतः **शिक्षा** वेदांग के प्राचीनतम अवशेष हैं, यद्यपि—स्वयं शिक्षा के नाम से प्रचलित लघु-ग्रंथ जो **भारद्वाज, व्यास, वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य** के नाम

से प्रचलित आज मिलते हैं, बहुत पीछे लिखे गए प्रतीत होते हैं। उनकी रचना प्रायः प्रातिशाख्यों के अनुकरण पर, पद्य में, उसी प्रकार हुई है जैसे प्राचीन वैदिक धर्म-सूत्रों के आधार पर मनुस्मृति आदि की रचना। इन में **व्यास-शिक्षा** का सम्बन्ध **तैत्तिरीय** प्रातिशाख्य से किया जाता है और, यद्यपि शेष शिक्षा-ग्रंथों का सम्बन्ध भी उसी प्रकार किसी न किसी प्रातिशाख्य के साथ करने की प्रथा है, तथापि—प्राचीनता की दृष्टि से उनका वह महत्त्व नहीं जो व्यास-कृत शिक्षा का है।

शौनक तथा कात्यायन ही दो प्रमुख प्रातिशाख्यकार हैं। जिनके नाम से वैदिक संहिताओं पर कुछ अन्य वेदांग सरीखे **उपांग** भी प्रसिद्ध हैं। इन उपांगों का पारिभाषिक नाम **अनुक्रमणी** होता है—जिनमें वैदिक संहिताओं के सूक्तों और मन्त्रों की संख्या, क्रम आदि का निर्देश किया जाता है और साथ ही देवता, ऋषि, छन्द आदि का भी। **शौनक** की **अनुक्रमणी** ऋग्वेद-परक है जबकि **कात्यायन** की **सर्वानुक्रमणी** में ऋग्वेद से सम्बद्ध प्रायः सभी सूक्ष्म विषयों को, मंत्रों के प्रथम शब्द ही अंकित करते हुए, एकत्र उपस्थित कर दिया गया है। शौनक के नाम से दो पद्यबद्ध ग्रंथ **बृहद्देवता** तथा **ऋग्विधान** भी प्रसिद्ध हैं जिनकी रचना—स्वयं शौनक ने नहीं, अपितु—शौनक-सम्प्रदाय के किसी उत्तरकालीन शिष्य ने की प्रतीत होती है। बृहद्देवता का ध्येय है—ऋग्वेद में आये एक-ही देवता परक सूक्तों को एक-ही स्थान पर सूचित कर देना। साथ ही इसमें इन देवी-देवताओं के सम्बन्ध में लोक-विश्रुत उपाख्यानों को भी संगृहीत कर दिया गया है। इसलिए **बृहद्देवता का महत्त्व भारतीय आख्यायन-साहित्य की दृष्टि से भी कुछ कम नहीं है**। बृहद्देवता में प्रयुक्त 'श्लोक' एवं 'त्रिष्टुभ्' वेदों और महाकाव्यों के छन्दों में बीच की कड़ी हैं। बृहद्देवता में आये उपाख्यान कई बार महाभारत में एक नये संस्करण में प्रस्तुत हुए हैं। **ऋग्विधान** भी एक सूचि-परक ग्रंथ है जिसमें ऋग्वेद संहिता के क्रम एवं मन्त्र-बल पर बल अधिक है, अर्थात्—इसकी रचना उपरि-उल्लिखित **साम-विधान ब्राह्मण** के अनुकरण पर की गई प्रतीत होती है।

इन अनुक्रमणियों का महत्त्व कम-से-कम इतना तो है ही कि हमें इन्हीं के कारण यह सान्त्वना मिलती है कि भारतीय वैदिक वाङ्मय, विशेषतः संहिता वाङ्मय, आज भी अपने उसी प्राचीन रूप में—मंत्रों के क्रम-संख्या-स्वर एवं विनियोग आदि (सभी) दृष्टियों से अपने मूल रूप में—विद्यमान है!

यास्क के **निरुक्त** के विषय में भी यही कुछ कहा जा सकता है। यह भी अपनी श्रेणी के वेदांग का एकमात्र अवशेष रह गया है, जिसकी साक्षी भी ऋग्वेद की सम्पादकीय प्रामाणिकता का एक और पोषक प्रमाण दे सकती है। वैदिक परम्परा

में गलती से निघण्टुओं को भी यास्क-कृत मान लिया गया है, जबकि सच्चाई यह है कि इन **निघण्टुओं** में आये पदों का संकलन तथा क्रम-बन्धन प्राचीन ऋषियों के वंशजों अथवा मुनियों ने वेदार्थ-बोध की सहायता के लिए किया था। और इन्हीं परम्परागत सूची-ग्रंथों पर यास्क ने अपना यह निर्वचनात्मक ग्रंथ लिखा। निघण्टु में पदों को तीन अध्यायों में विभक्त किया गया है—पहले अध्याय में जिसे **नैघण्टुक काण्ड** कहा जाता है, तीन उपविभाग हैं (जिनमें 'पृथ्वी' अर्थ वाले २१, 'स्वर्ण' अर्थ वाले १५, 'वायु' अर्थ वाले १६, 'जल' अर्थ वाले १०१, √कृ धातु-अर्थक १२२ पदों का, तथा 'शीघ्र' अर्थ वाले २६ विशेषणों एवं क्रिया-विशेषणों का . . . . . . संग्रह एकत्र उपस्थित है; **नैगम काण्ड** अपिवा **ऐकपदिक** नामक द्वितीय अध्याय में कुछ अस्पष्ट एवं दुर्बोध शब्दों का संग्रह है, तो **दैवत काण्ड** (नामक अन्तिम अध्याय) में पृथ्वी पर, अन्तरिक्ष में, और आकाश में रहने वाले देवी-देवताओं का यथा-स्थान विवेचन हुआ है। वैदिक निरुक्त-शास्त्र का आरम्भ सम्भवतः इसी प्रकार की सूचियों के सम्पादन के साथ हुआ था; पुनः, इन शब्दों पर निरुक्त की शैली में विश्लेषण-विवेचन वैदिक ऋचाओं के उद्धरणों के साथ प्रस्तुत करना वेद-व्याख्यान में एक नया पग था जिसका अनुसरण एक स्वतंत्र वाङ्मय के रूप में सायण आदि ने आगे चल कर किया भी। कुछ हो, इसमें सन्देह की गुंजाइश नहीं रह जाती कि यास्क से पूर्व भी कितने ही निरुक्त-कार हो चुके थे, यद्यपि स्वात्मनि परिपूर्णता के कारण आज यास्क का ग्रंथ ही बच रहा है।

छन्द तथा **ज्योतिष**परक वेदांगों की रचना वेदांग युग का सम्भवतः अर्वाचीन-तम अंग है। सामवेद के साथ सम्बद्ध वेदांग-सूत्र में छन्दों की विवेचना के अतिरिक्त उक्थ, स्तोम तथा गान का वैज्ञानिक विश्लेषण भी मिलता है। व्याकरण की दृष्टि से भी इसका पर्याप्त महत्त्व है, यद्यपि—भारतीय प्रथा में इसे भी पतंजलि-कृत मान लिया गया है। वही भारतीय परम्परा पुनः **पिंगल के छन्दः-सूत्र** को ऋग्वेद तथा यजुर्वेद से सम्बन्धित करती है। पिंगल-सूत्र के जो दो रूपान्तर हमें मिलते हैं, भाषा और शैली की दृष्टि से स्पष्ट ही किसी परतर युग की रचना हैं, क्योंकि—इनमें लौकिक-संस्कृत छन्दों का ही अध्ययन हुआ है। एक छोटा-सा पद्यमय लघु-ग्रंथ **ज्योतिष-वेदांग** के नाम से भी मिलता है जिसके यजुर्वेदीय संस्करण में ४३ पद्य है तो ऋग्वेदीय में ३६। ज्योतिष-वेदांग का मुख्य विषय उत्तरायण तथा दक्षिणायन के समय सूर्य और चन्द्रमा की स्थिति, विविध राशियों के प्रसंग में २७ नक्षत्रों के अपने-अपने मण्डल, और उन वृत्तों में पुनः प्रतिपदा तथा पूर्णिमा की अवस्थिति, अथवा एतद्-विषयक गणना के सम्बन्ध में कुछ-और निर्देश भी हैं। इस ग्रंथ की रचना पद्य में ही हुई, इसका अर्थ भी स्पष्ट है कि यह किसी परतर युग

की रचना है और, हां—इसकी कोई परिपूर्ण व्याख्या भी सही-अर्थों में आज तक नहीं हो सकी ।

व्याकरण परक प्राचीन वेदांग ग्रंथ सर्वथा लुप्त हो चुके हैं। प्रारम्भ में व्याकरण-विज्ञान की रचना भी, वैदिक परिषदों के अनुसार वेदार्थ को सुगम करने के लिए हुई होगी, क्योंकि—आरण्यक ग्रंथों में भी व्याकरण-शास्त्र की थोड़ी-बहुत परिभाषाएं जहां-तहां बिखरी मिलती हैं । व्याकरण-शास्त्र के प्राचीन-तम ग्रंथ **पाणिनीय अष्टाध्यायी** में वैदिक प्रकरण को बहुत ही कम छुआ गया है; पाणिनि का सम्बन्ध न किसी वैदिक संहिता से है, न किसी सम्प्रदाय से है । इसकी रचना भी किसी ऐसे युग में हुई थी जबकि व्याकरण-शास्त्र की धार्मिक सम्प्रदायों से सर्वथा पृथक्, कुछ स्वतंत्र, परम्पराएं, निर्धारित हो चुकी थीं । और भारत में अध्ययन-अध्यापन की यह एक 'राष्ट्रिय' विशेषता ही रही है कि एक 'विज्ञान' का (या उस विज्ञान के एक अंश का) सूक्ष्म विवेचन शुरू-शुरू में एक धार्मिक-अध्ययन का अंग बन कर हुआ तो, आगे चल कर, उसका विकास प्रायः एक स्वतंत्र दिशा ही पकड़ गया !

वेदों का काल-निर्णय

वेदों से आरम्भ करके वेदांगों तक—सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का परिचय हो लिया। अब इसके काल-सम्बन्धी प्रश्न को और स्थगित नहीं किया जा सकता। इस सम्बन्ध में हम पहले ही बता दें कि यदि किसी प्रकार ऋग्वेद तथा अथर्ववेद के प्राचीन सूक्तों को ही हम कुछ निश्चित शतियों के अन्दर भी निर्धारित कर सकते तो वेद के काल के सम्बन्ध में एक अलग अध्याय लिखने की आवश्यकता ही न रह जाती ? किन्तु खेद इस बात का है कि बड़े-से-बड़े वैदिक-विद्वानों में इस विषय पर (शतियों नहीं सहस्राब्दियों-तक का वैमत्य है। कुछ के अनुसार ऋग्वेद के सूक्तों का निर्माण एक हजार ई० पू० में हुआ तो दूसरे उन्हीं सूक्तों को ३०००-२००० ई० पू० में निर्मित मानते हैं। जब प्रसिद्ध विद्वानों की यह अवस्था हो, तो साधारण-पाठक के लिये कुछ अनिश्चित-सी तिथियां प्रस्तुत कर देने से वेद की प्राचीनता अथवा अर्वाचीनता के विषय में, बिना ऐसे मतों की समर्थक युक्तियां उपस्थित किये, बात कुछ बनती नहीं। किन्तु वेद भारतीय वाङ्मय की प्राचीनतम कृति है, इण्डो-आर्यन सभ्यता का मूल आधार एवं स्रोत है; सो, प्रस्तुत प्रश्न का किंचित् समाधान ऐतिहासिकों, पुरातत्वविदों, अपिच भाषाविदों के लिए भी पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है। और सचमुच, यदि इण्डो-आर्यन तथा इण्डो-यूरोपियन संस्कृतियों के ऐतिहासिक युगों का कुछ निश्चित क्रम बिठाया जा सकता है, तो वह भी भारतवर्ष में निष्पन्न आर्य-संस्कृति के प्राचीनतम अवशेषों के विभिन्न कालों को यथाक्रम स्थिर करके ही (सिद्ध किया जा सकता है); अन्यथा नहीं।

—इन परिस्थितियों में, विशेषतः अ-विशेषज्ञ साधारण-जन के सम्मुख, लेखक अपनी अज्ञता एवं सीमा प्रारम्भ में ही प्रकट कर दे, यह भी आवश्यक प्रतीत होता है।

आरम्भ में जब भारतीय वाङ्मय से पाश्चात्य विद्वानों का कुछ-कुछ परिचय हुआ था, तो उनकी प्रथम प्रतिक्रिया प्राचीन 'आर्य वाङ्मय' को बावा-आदम के युग से यथावत् सुरक्षित, परम्परित ग्रहण करने की थी। श्लीगल ने क्या, सचमुच, यह आशा प्रकट नहीं की थी कि इस वाङ्मय के प्रकाश में आने से प्राचीन विश्व के अन्धकारमय इतिहास में कुछ स्पष्टता आने लगेगी ? वेबर ने भी अपने इतिहास के प्रथम संस्करण (१८५२ में) प्रकट किया था कि भारतीय वाङ्मय ही विश्व वाङ्मय का प्राचीनतम रूप है (यद्यपि १८७६ में अपने इतिहास के द्वितीय संस्करण में उसने यह माना था कि मिश्र के प्राचीन अभिलेख तथा असीरियन

साहित्य के अवशेष, जो हाल ही में प्रकाश में आये हैं, शायद हमारी वेद-सम्बन्धी प्राचीन स्थापनाओं को संदिग्ध कर दें)। **वेबर** के इस निर्णय का आधार मुख्यतया भूगोल तथा धर्म के इतिहास की युक्ति थी। ऋग्वेद के प्राचीन अंशों में हम भारतीयों को पंजाब के आसपास बस गया पाते हैं। बहुत धीरे-धीरे उन्होंने उत्तर-भारत में गंगा की ओर प्रगति की—इसके प्रमाण हमें परतर वैदिक साहित्य में मिलते हैं। महाभारत तथा रामायण के वीरगाथा युग में ब्राह्मण-धर्म के इस विकास की दिशा दक्षिणाभिमुख हो चुकी है। यह विकास प्राचीन आदिवासियों को कुचले बिना असंभव था। इसके लिए सदियां चाहियें। यही नहीं, ऋग्वेद की प्रकृति-पूजा को उपनिषदों की दार्शनिकता में परिणत होने के लिये भी कितनी ही शतियां अपेक्षित हैं; और तीन सौ ईसवी तक पहुंचते-पहुंचते—मेगास्थनीज ने किस धार्मिक पतन का प्रत्यक्ष आर्यों के अन्धविश्वासों में तथा मूर्तिपूजा आदि में किया था? ऐसी स्थिति में वेबर वैदिक काल-निर्णय को अनिवार्य उद्घोषित न करता, तो: उसके पास और चारा भी क्या था? सचमुच उसने एक बार स्वीकार भी किया था कि इस दिशा में सब प्रयत्न व्यर्थ है[1]।—

प्राचीन भारतीय वाङमय की कुछ निश्चित अनुक्रमणी प्राप्त करने के लिए सर्वप्रथम-प्रयत्न शायद, १८५९ में, **मैक्समूलर** ने किया था। मैक्समूलर के 'संस्कृत साहित्य के इतिहास' में केन्द्रीय तिथि-बिन्दु—सिकन्दर का भारत में आक्रमण तथा भारत में बौद्धधर्म का उदय है। संक्षेप में मैक्समूलर की युक्ति यह है कि बौद्धधर्म का जन्म ब्राह्मण-धर्म के यज्ञयागीय आडम्बर की प्रतिक्रिया में हुआ था। इसलिए यह असंदिग्ध ही है कि संहिता-ग्रन्थ, ब्राह्मण-ग्रन्थ, आरण्यक ग्रन्थ तथा उपनिषद्-ग्रन्थ—अर्थात् (सम्पूर्ण) वैदिक वाङमय के सभी अंश—तब तक अपने विनिश्चित रूप में आ चुके थे। अर्थात् वैदिक वाङमय की शृंखला को ५०० ई० पू० तक यदि सुनिश्चित मान लिया जाय तो वेदांग अथवा सूत्र वाङमय को प्रायः बौद्धधर्म के आदि युग में ही निष्पन्न हुआ समझना चाहिये। इन 'सूत्रों' की रचना शेष ब्राह्मण-साहित्य के आधार पर ही प्रवृत्त होती है—जिसका काल मैक्समूलर की कल्पना में ६००-२०० ई० पू० में मान लिया गया है। (यही कल्पना, किसी निश्चित-आधार पर टिकी न होने के कारण, मैक्समूलर की युक्ति को बहुत दुर्बल कर देती है।) ब्राह्मणग्रन्थों में भी प्राचीन तथा अर्वाचीन अंश मिलते हैं; इन ग्रन्थों में स्वयं प्राचीन वंशावलियां परिगणित हैं: जिनके विकास के लिए—२०० वर्ष की अवधि कुछ उपयुक्त नहीं जंचती। इन ब्राह्मणों का काल मैक्समूलर की स्थापना के अनुसार ८००-६०० ई० पू० निश्चित होता है। ये ब्राह्मण-ग्रन्थ स्वयं किसी आधार पर खड़े हुए थे, और यह आधार उनका-वेद-चतुष्पदी थी। चारों संहिताओं की रचना को, अपिवा उनके सम्पादन-संकलन को, दो-सौ साल और देकर

मैक्समूलर १००० ईसवी पू० तक जा पहुंचता है। किन्तु संहिताओं के ग्रथित होने से पूर्व—अर्थात् वेदों के कर्मकाण्ड का अविभाज्य अंग बनने से पूर्व—वैदिक कविता के स्वतन्त्र-विकास के लिए भी तो एक युग चाहिये। सो, इस काव्य-युग के लिए भी मैक्समूलर बड़ी उदारता के साथ २०० वर्ष और जोड़ कर, १२०० ई० पू० से वैदिक वाङमय का उदय शुरू कर देता है।

इस सिद्धान्त (की आलोचना) के सम्बन्ध में हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि दो-दो सौ वर्ष की यह अवधि केवल कल्पना पर ही आधारित प्रतीत होती है। (**स्वयं मैक्समूलर ने भी यही-कुछ लिखा है कि कम-से-कम इतना अन्तर तो हमें वैदिक साहित्य के दो युगों में मान ही लेना चाहिये।**) इसीलिए १८८९ में गिफ़र्ड लैक्चर्स के दौरान में उसने स्पष्ट कहा भी था कि "एक हजार ईसवी पूर्व तक वेद बन चुके थे; १५०० या २०००, या ३००० ई०पू०—कब प्रथम वैदिक कविता सुनी गई—इसे जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं"। और सचमुच—विज्ञान के क्षेत्र में कोई कल्पना कितनी दूर तक बद्धमूल हो सकती है—इसका एक अद्भुत प्रमाण मैक्समूलर के बाद आने वाले गवेषकों द्वारा इस स्थापना को बिना किसी नई युक्ति के आंख मूंद कर मान लेना है। ह्विट्नी ने[२] मैक्समूलर की इस अन्ध-परम्परा की एक बार स्पष्ट शब्दों में निन्दा भी की थी; श्रेडर[३] आदि विद्वानों ने डरते-डरते ही १५०० या २००० ई० पू० तक वैदिक वाङमय को पहुंचाने का परामर्श दिया था; और तभी—**याकोबी** ने जब एकाएक ज्योतिष-विज्ञान की गणना के आधार पर वेदों को चौथी सहस्राब्दी ई० पू० में स्थापित करने की एक नई युक्ति दी, तब पाश्चात्य जगत् में उसका कितना विरोध हुआ था—जैसे याकोबी की वह 'युक्ति' एक महान् अतिशयोक्ति ही हो? —याकोबी के विरोधी कितनी सुगमता के साथ यह भूल ही गये थे कि जिस सिद्धान्त को (मैक्समूलर के) वे आज तक मानते आये थे उसका आधार भी कितना अस्थिर था!

नक्षत्र-गणना के आधार पर वैदिक-युग की कालगणना करना कोई बहुत नया विचार नहीं है। **लुड्विग** ने सूर्य ग्रहण[४] के आधार पर एक ऐसा प्रयत्न इससे पूर्व किया भी था। बात यह है कि भारतवर्ष में भी, रोम के पादरियों की तरह, पुरोहितों का कर्त्तव्य होता था कि वे यज्ञ-सम्बन्धी घड़ियों को गिन कर पंचांग तय्यार कर दें। सम्पूर्ण ग्रहमण्डल की परिस्थिति का परिज्ञान यज्ञ-पूर्ति के लिए आवश्यक होता था। ब्राह्मणों तथा सूत्रों में पंचांग-संबन्धी असंख्य निर्देश इस सम्बन्ध में मिलते भी हैं—जिनमें तारा-गृहों ('नक्षत्रों') का महत्त्व अ-प्रत्याख्येय होता है। प्राचीन भारतीय गणनाविदों को यह ज्ञात था कि चन्द्रमा को एक मण्डल से दूसरी मण्डल में संक्रमण के लिए २७ दिन और २७ रात की अवधि अपेक्षित होती है। माण्डलिक मास की हर रात चन्द्रमा की स्थिति विभिन्न नक्षत्र में (मण्डल में)

होती है। चन्द्रमा के वृत्त से कुछ ही दूरी पर 'माण्डलिक' इन २७ नक्षत्रों के अपने-अपने क्षेत्र होते हैं, अपनी-अपनी राशि होती है—जिसके आधार पर किसी भी विशिष्ट क्षण में चन्द्रमा की आपेक्षिक स्थिति बड़ी सुगमता से जानी जा सकती है[५]। किस नक्षत्र के योग में अमुक यज्ञ किया जाय—इसका विधान प्राचीन विधि-पुस्तकों में (भारत में) प्रायः निर्दिष्ट मिलता है। कहीं-कहीं तो इस 'योग' का अर्थ होता है—दर्श तथा पूर्णमास के अवसर पर उन-उन नक्षत्रों की राशिगत स्थिति। पुराने वैदिक साहित्य में एक और आधार नक्षत्र-गणना के विषय में—वर्ष के बारह मास—भी कहीं-कहीं प्रचलित था, जिसके लिए २७ के स्थान पर पहले कभी केवल १२ नक्षत्रों का चन्द्र-योग ही अंकित मिलता है। वर्ष का विभाजन चान्द्र मासों पर आश्रित हो कर पुनः सौर मासों के नाम से भी बिना किसी परिवतन के होने लग गया। परिणामतः—वैदिक काल में भी इन सौर एवं चान्द्र तिथियों में संगति बिठाना, किसी न किसी प्रकार, आवश्यक था; **और, सो, स्वभावतः प्रश्न उठता है—पूर्णिमा म विशिष्ट-नक्षत्रों के आधार पर वर्ष के आरम्भ अथवा ऋतुओं के योग की युक्ति पर स्वयं इन काल-गणना सम्बन्धी सिद्धान्तों का आधार ही क्यों-न निश्चित कर लिया जाय**? हमारा अभिप्राय कहने का यह है कि कालगणना के ये सिद्धान्त किसी विशिष्ट समय की किन्हीं विशिष्ट परिस्थितियों पर आश्रित हैं। और इस प्रकार जिस-जिस ने भी इन गणनाओं को आधार मान कर कुछ निश्चित परिणाम निकालने की की है उनकी तिथियों में परस्पर आसमान-पाताल का अन्तर है।—ऐसा क्यों? **याकोबी** बॉन में, तथा बाल गंगाधर **तिलक** बम्बई में, भिन्न-भिन्न, स्वतन्त्र, दिशाओं से एक ही निष्कर्ष पर पहुंचे कि ब्राह्मण-युग में कृत्तिकाओं की स्थिति ('नक्षत्र-अभियान' की दृष्टि मे) उत्तरायण में थी—जबकि कुछ वैदिक स्थलों में उत्तरायण का योग (किसी प्राचीन पंचांग के अनुसार) मृगशिरा के साथ पड़ता था[६]—कृत्तिकाओं की ये दो प्रारंभिक-स्थितियां ज्योतिर्गणना में—अनुवर्तन के आधार पर—क्रमशः २५०० ई० पू० तथा ४५००ई० पू० स्थिर होती है। यहां तक दोनों विद्वानों का निष्कर्ष एक है; किन्तु याकोबी, ऋग्वेद के सूक्तों को, वैदिक सभ्यता की परिपक्वावस्था में रचित मानते हुए, उनका काल ४५०० ई० पू० में मान कर ही सन्तुष्ट है; तिलक उसी नक्षत्र-स्थिति को १५०० वर्ष और-पीछे ले जाता है। याकोबी के अनुसार वैदिक-सूक्तों की रचना ४५००-२५०० ई० पू० में होती रही—जिसके समर्थन में विवाह के प्रकरण में (गृह-प्रवेश के समय गृह्यसूत्रों में) विहित वर द्वारा वधू को 'ध्रुव' नक्षत्र दिखाने का प्रसंग लाता है: विवाह-विधि में पति-पत्नी के अटूट सम्बन्ध के प्रतीक जिस 'उज्ज्वल नक्षत्र' को दिखाया जाता है उसका उदय गृह्यसूत्र के युग में 'ब्रह्माण्ड-ध्रुव' के इतना निकट होता था कि जैसे वह स्थिर ही हो!

किन्तु ग्रह-गणना के निश्चित सिद्धान्तों के आधार पर हम यह जानते हैं कि ज्यों-ज्यों नक्षत्र-मण्डल की यह अक्ष-रेखा अपनी दिशा बदलती चलती है, ब्रह्माण्ड-'ध्रुव' नक्षत्र भी स्वयं अपना स्थान क्रमशः बदलता चलता है—जिस परिवर्तन में उसे ब्रह्माण्ड-वृत्त के ध्रुव-बिन्दु के गिर्द २३½° व्यासार्ध का एक चक्कर पूरा करने में २६००० साल लग जाते हैं, अर्थात्—हर सितारा धीरे-धीरे प्रगति-मार्ग में उत्तराभिमुख बढ़ता है और, अपने समय में, सम्पूर्ण ग्रहमण्डल के लिए अ-चल ('ध्रुव') बन जाता है। किन्तु यह अवस्था बहुत कम ही आती है कि कोई चमकता हुआ सितारा 'मूल ध्रुव' के इतना निकट आजाय कि 'नि-ध्रुवि' में और उसमें कोई अन्तर ही हम न जान सके ! आजकल ब्रह्माण्ड के 'उत्तरार्ध' में एल्फा नाम का एक 'गौण' नक्षत्र 'ध्रुव-पुच्छ' से पृथक् हो कर हमारे लिए ध्रुव बना हुआ है। इस नक्षत्र को हम वैदिक युग का ध्रुव नहीं मान सकते, क्योंकि—आज से दो हजार वर्ष पूर्व—यह मूल ध्रुव से पर्याप्त दूरी पर था, (सो, उसे ध्रुव कहने की सम्भावना तब हो ही न सकती थी)। इस सम्भावना के लिए हमारी 'निकट तिथि' यदि कोई हो सकती है तो वह है २७८०ई०पू०—क्योंकि तब एल्फा ड्रैकोनिस प्रायः ५०० वर्ष लगातार अपनी उसी नि-ध्रुवि स्थिति में अविचल स्थितिमान् रहा ! इसलिए, ध्रुव का नामकरण तथा विवाह में ध्रुव का प्रत्यक्ष-दर्शन : इस प्रथा को हम ३००० ई० पू० के प्रथमार्ध में नक्षत्र-गणना के आधार पर डाल सकते हैं। ऋग्वेद के विवाह-मन्त्रों में अभी ध्रुव दिखाने की इस प्रथा का जन्म ही नहीं हुआ था, इसीलिए—याकोबी की स्थापना भी यही है कि ऋग्वेद की इस ध्रुव-मूल-क वैवाहिक प्रथा का काल मानव सभ्यता के इतिहास में ३००० ई० से पूर्व ही होना चाहिए[७]।

हम ऊपर बतला चुके हैं कि याकोबी और तिलक के इन निष्कर्षों का विरोध तब कितना हुआ था। कृत्तिकाओं की युक्ति के विरुद्ध भी सबसे बड़ा आक्षेप हमारा यही था कि—बाबाआदम के उस जमाने में भारतीयों को नक्षत्रों की स्थिति से अभिप्रेत उनकी चन्द्रमापेक्षया, सूर्य की अपेक्षा से नहीं, दूरी व निकटता होती भी थी? और यह भी अब तो सिद्ध हो चुका है कि उस जमाने में भारतीयों के उत्तरायण-दक्षिणायण विषयक ज्ञान का कोई प्रमाण—इन ग्रन्थों में तो—नहीं मिलता। **शतपथ** २. १. २. ३ के जिस प्रकारण का अर्थ किया जाता है कि **ये कृत्तिकाएं पूर्व से विचलित नहीं होतीं**, सम्भवतः, कुल-पुरोहित का अभिप्राय वहां यही था कि ये कृत्तिकाएं पूर्व में उदित होती हैं, (जिसके लिए तीसरी सहस्राब्दी में उन दिनों केवल उत्त-रायण का ज्ञान ही आवश्यक सिद्ध होता है)। सही अर्थ इस वाक्य का यह भी हो सकताहै कि पूर्व में पर्याप्त समय तक हर-रात इनको हर-कोई तब प्रत्यक्ष देख सकता था; **और यह स्थिति—११००ई०पू० पूर्व में थी**। नव-वर्ष की युक्ति के सम्बन्ध

में हम केवल इतना ही कहना चाहेंगे कि--क्योंकि भिन्न-भिन्न सहस्त्राब्दियों में कभी नव वर्ष का विधान वसन्त के साथ किया गया है तो कभी शरत् के साथ, वर्षा के साथ (और ये ऋतुएं भी वर्ष में कभी तीन हैं कभी ५, ६): सो, इसमें भी उलझने की आवश्यकता नहीं ध्रुव नक्षत्र की युक्ति के सम्बन्ध में भी भारी आक्षेप समय-समय पर उठते रहे हैं। हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं कि उन दिनों भारतवर्ष के नभोमण्डल पर ध्रुवपुच्छ-सप्तक में से किसी एक नक्षत्र की सम्भावना ध्रुववत् स्थिर होने की थी ही नहीं। १२५० ई० के आसपास, और उसके बहुत देर बाद तक, ऐसे किसी-न-किसी ध्रुव की प्रामाणिकता हम स्वयं सिद्ध कर सकते हैं। खैर; और न-ही ऋग्वेद में ध्रुव-दर्शन की प्रथा का उल्लेख-न-होना हमें किसी निश्चित परिणाम की ओर पहुंचा सकता है, क्योंकि--ब्राह्मणों में तथा गृह्यसूत्रों में आई सभी वैवाहिक प्रथाओं का संकेत ऋग्वेद में आवश्यक नहीं। सो, इसी एक प्रथा के बारे में किसी अपवाद की अपेक्षा हम क्यों करें ?

नक्षत्र-विज्ञान की इन युक्तियों के द्वारा तिलक और याकोबी वह सिद्ध न कर सके जो-कुछ सिद्ध करने के लिए कि वे चले थे, यद्यपि उनके विमर्शों का परिणाम इतना अवश्य हुआ कि आज विद्वज्जगत् उक्त समस्या पर सचमुच नये सिरे से सोचने लगा है कि क्या वैदिक संस्कृति को प्राचीनतर सिद्ध करने के लिए कोई अन्य प्रमाण भी सुझाये जा सकते हैं ; और, सचमुच, भारतीय इतिहास की व्यापक दृष्टि से सोचने पर हमें कोई ऐसी युक्ति नहीं मिलती जो वैदिक वाङ्मय को तीसरी सहस्त्राब्दी, और भारतीय संस्कृति को चौथी सहस्त्राब्दी, ईसवी पूर्व पीछे धकेलने से हमें रोक सके। यदि कुछ निश्चित तथ्य आज हम इस काल-गणना के सम्बन्ध में, कुछ निश्चित रूप में, प्रस्तुत कर सकते हैं, तो वह यही कि--भारतीय इतिहास की राजनैतिक, साहित्यिक एवं धार्मिक प्रगति के सम्बन्ध में हमारा आधुनिक परिज्ञान मैक्समूलर की १२०० या १५०० ई० पू० की कल्पना को समर्थित नहीं कर सकता। जार्ज ब्यू'लर के निष्कर्षों के बाद अब उक्त सिद्धान्त को यहीं ठप कर देना ही उचित प्रतीत होता है।[८]

अभिलेखों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि तीसरी सदी ईसवी-पूर्व में दक्षिण भारत आर्यों की राजनीतिक एवं सांस्कृतिक अधीनता में आ चुका था। **बौधायन** तथा **आपस्तम्ब** आदि वैदिक सम्प्रदायों का जन्म दक्षिण में हुआ : यह बात, उलटे, आर्यों की उक्त विजय को सातवीं, आठवीं सदी ईसवी पूर्व तक ले जाती प्रतीत होती है, क्योंकि--सम्पूर्ण भारत पर आर्य अपिवा ब्राह्मण संस्कृति रातों-रात यहां तक छा जाय कि सुदूर दक्षिण में नवीन वैदिक वेदांगों का प्रवर्तन उ चले--बुद्धि नहीं मानती। परन्तु, जैसा कि **ब्यू'लर**[१] ने कहा है, "७००-६०० ई० पू०

में आर्यों की यह दक्षिण-विजय इस सिद्धान्त को (कि १२०० या १५०० ई० पू० में वे भारत के उत्तरीय छोर पर और पूर्वी अफगानिस्तान में बस चुके थे) सर्वथा उन्मूलित कर देती है, और यह कल्पना भी—कि इण्डो-आर्यन लोगों का वह कबीला जो वैदिक युग में आन्तरिक द्वेष-विद्वेष से सर्वथा शिथिल पड़ चुका था—विशीर्ण हो चुका था, पंजाब, आसाम और बर्मा के अतिरिक्त भारत के एक-लाख तेईस-हजार वर्ग मील क्षेत्र पर हावी हो गया, और जगह-जगह राज्यों की स्थापना करते हुए ५-७ सदियों की लघ्ववधि में सम्पूर्ण भारत को एक-रूप कर गया : उपहासास्पद प्रतीत होती है। सबसे बड़ी मुश्किल शायद इस तथाकथित विजय की राह में यह थी कि इन प्रदेशों में बसने वाले लोग जंगली नहीं थे अपितु, सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से, आर्यों की अपेक्षा किसी-दर्जे कम भी न थे। इस सफलता के लिए जो समय पर्याप्त समझ लिया गया है उससे दुगुने समय में भी उसकी सिद्धि आसान नहीं लगती।"

इस सम्बन्धमें कोई कह सकता है, और ओल्डनबर्ग[10] ने सचमुच कहा भी है, कि ७०० वर्ष की अवधि, इस प्रकार, किसी भी राष्ट्र-व्यापी प्रगति के लिए पर्याप्त है : "हम क्यों बड़ी आसानी से भुला देते हैं कि उत्तरी तथा दक्षिणी अमेरिका के विपुल भूखण्ड की काया इस ४०० साल में कितनी पलट चुकी है?" यह तुलना भी कुछ उपयुक्त नहीं जंचती, क्योंकि—जिन जातियों और सभ्यताओं की मुठभेड़ अमेरिका में हुई थी, उनकी स्थिति भारतीय आर्यों-अनार्यों के उस प्राचीन संग्राम से बहुत भिन्न थी। **राजनीतिक स्थिति** भारत में तब क्या थी—इसका कुछ परिचय ऋग्वेद में तथा **महाभारत-रामायण** में उपवर्णित आर्यों के परस्पर कलहों, युद्धों के नैरन्तर्य से हमें आज भी मिल सकता है। इन परिस्थितियों में भारत की राष्ट्र-विजय उन दिनों बड़ी धीमी रफ्तार के साथ, एक कदम के बाद दूसरा उठाते हुए, ही सिद्ध हो सकती थी; और सचमुच यदि भारतीय इतिहास के दो प्राचीन युगों की हम परस्पर तुलना करें, तो—आर्यों की पूर्व की ओर और दक्षिण की ओर प्रगतियों में भी हम आकाश-पाताल का अन्तर पाते हैं। ऋग्वेद के सूक्तों में ये इण्डो-आर्यन लोग अभी भारत के सुदूर उत्तर-पश्चिम में, और पूर्वी अफगानिस्तान में, ही अपना कुछ ठिकाना बना पाये थे, किन्तु—ऋग्वेद के उन्हीं सूक्तों के विकास के लिए एक 'सदियों की' अवधि अपेक्षित है। भाषा की अकाट्य युक्ति की कसौटी पर ऋग्वेद में भी पूर्व और उत्तर युग स्पष्ट हैं, क्योंकि—कुछ तथा-कथित ऋषियों की परिगणना अनुक्रमणियों में ही नहीं, ब्राह्मणों में भी, प्राचीन ऋषियों में होने लग चुकी है। स्वयं सूक्तों में ही पुरानी शैली का, पुराने सूक्तों तथा (पुराने) ऋषियों का, स्मरण किया गया है। ब्लूमफील्ड— ने यह सिद्ध कर दिखाया है कि ऋग्वेद के ४०००० पदों में ५००० आवृत्ति-मात्र है, जिसका अर्थ भी यही निकलता है कि—जब ऋग्वेद

का सम्पादन शुरू हुआ, उस युग के 'आधुनिक' कवि जहां-कहीं से पंक्तियां सुन कर उन्हें अपनी स्वतन्त्र रचनाओं में समाविष्ट कर लिया करते थे ; सवाल अपनी-अपनी रुचि का है। इसके अतिरिक्त, ऋग्वेद में तथा शेष वैदिक वाङ्मय में कितना अन्तर है---इसको एक बार फिर से सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं। वही महान् अन्तर हम पुनः वैदिक गद्य और पद्य में पाते हैं। दोनों युगों की सभ्यता में, संस्कृति में, कितना परस्पर-भेद है। ब्राह्मण-आरण्यक-उपनिषद् युग का मूलाधार, वैदिक ऋचाएं ही नहीं, अन्य संहिताओं के 'अति प्राचीन' मन्त्र-तन्त्र भी हैं। बात यह है कि प्राचीन उपाख्यानों, गीतों एवं 'मन्त्रों' की उस मूल भावना को लोक-परम्परा सर्वथा भुला चुकी थी। ऐतरेय ब्राह्मण तथा ऋग्वेद के सूक्तों में संकलित एक ही उपाख्यान (शुनःशेप) के दो रूपों की परस्पर तुलना ही इस प्रसंग में पर्याप्त होनी चाहिए।

तब ग्रन्थों को मौखिक परम्परा में सुरक्षित रखा जाता था; न लिखने के साधन थे, न उसकी प्रथा थी। सो, इस सुरक्षा के लिए भी पर्याप्त समय चाहिए। गुरु-शिष्यों की कितनी परम्पराएं, कितनी पीढ़ियां, महाकाल के गर्त में विलुप्त हो चुकी होंगी, जब---'युगान्तर' के उस विस्मृत लोक-वाङ्मय ने वैदिक परिषदों में कुछ निश्चित रूप धारण किया होगा। **सार यह कि भाषा, साहित्य तथा संस्कृति की दृष्टि से कितनी ही शतियों का अन्तर अपेक्षित है---पूर्व इसके कि जहां-तहां बिखरे वाङ्मय को संहृत करके सुरक्षित किया जा सके**! ऋग्वेद संहिता एक ऐसे ही युग का अवसान है; और, इसी प्रकार, ऋग्वेद में और शेष संहिताओं तथा ब्राह्मणों में एक और मन्वन्तर अपेक्षित प्रतीत होता है। स्वयं ब्राह्मणों में ही---एक ब्राह्मण के एक ही सम्प्रदाय को अथवा उपसम्प्रदाय को ले लीजिये---गुरु-शिष्यों की परम्परा (ओं) का अन्त होने में ही नहीं आता; एक उन्हीं के उदय और विकास के लिए भी कितनी सदियां चाहिएं, . . इस वाङ्मय के प्रसार के लिए---ब्राह्मण-संस्कृति के प्रसार के लिए, धर्म-विज्ञान के प्रसार के लिए, और ब्राह्मण वर्ण के सर्वातिशायी आधिपत्य के लिए---एक पूरे युग की अपेक्षा है। स्वयं उपनिषदों में ही हम कितने युगान्तरों, कितनी पीढ़ियों---के संकेत सुरक्षित पाते हैं। इस प्रकार, **वेदों की उस प्रथम उषा से आरम्भ करके उपनिषदों की निशामुखी लालिमा में निलीयमान जिस महायुग को हम वैदिक वाङ्मय के नाम से जानते हैं**, उसमें---अर्थात् उस विपुल अवधि में भी---सिंध और गंगा के मध्य का कितना भारतीय प्रदेश हमारे इण्डो-आर्यन अपनी प्रभुता में ला सके थे? **यदि उत्तर-पश्चिम से पूर्व में गंगा के मैदान तक पहुंचने में इतनी देर लग सकती है तो मध्य-भारत और दक्षिण भारत को विजित करने के लिए कितना समय और चाहिए**! सारांश यह कि---७०० साल की अवधि राष्ट्रों की सांस्कृतिक विजय-पराजय के लिए कोई पर्याप्त अवधि नहीं है।

कुछ और युक्तियां भी इनके अतिरिक्त दी जा सकती हैं। पांचवीं सदी ईसवी पूर्व में बौद्ध धर्म के अभ्युदय को इतिहास की एक निश्चित तिथि के रूप में निर्धारित करके, सम्पूर्ण वैदिक वाङमय को बुद्ध से पूर्व निष्पन्न दिखलाने के लिए हम मैक्समूलर के सदा ऋणी रहेंगे। कुछ विद्वानों का विचार यह (रहा) है[12] कि प्राचीनतम उपनिषदों को छठी सदी ईसवी पूर्व से और पीछे ले जाने की आवश्यकता नहीं है; यद्यपि ओल्डनबर्ग[13] ने इस स्थापना का खण्डन करते हुए बड़े स्पष्ट रूप में दिखाया है कि प्राचीनतम उपनिषदों में तथा प्राचीनतम बौद्ध वाङमय में सदियों का अन्तर अपेक्षित है; और यह तो बौद्ध-वाङमय ही स्वयं कितनी-ही-बार स्वीकार कर चुका है कि न केवल ऋग्वेद और शेष तीन संहिताएं ही अपितु छहों वेदांग भी, और ब्राह्मण-ग्रन्थों में संग्रथित विपुल वाङमय एवं विज्ञान भी, बुद्ध से पूर्व अपने परिनिष्ठित रूप में आ चुका था। इसके अतिरिक्त, आज कितने ही नूतन अनुसन्धान प्राचीन भारत की धार्मिक दशा के सम्बन्ध में नया प्रकाश डाल चुके हैं, जब कि—**मैक्समूलर के दिनों में हमारा ज्ञान ही इस क्षेत्र में इतना नगण्य था कि भारत की सम्पूर्ण धर्म-परम्परा को बुद्ध के जन्म तक उदित, विकसित, विस्मृत कर देने के लिए ७०० साल की संक्षिप्त अवधि को पर्याप्त समझा जा सकता था**! वेदों के विरुद्ध प्रतिक्रिया बुद्ध से सदियों पूर्व शुरू हो चुकी थी। कम-से-कम जैनों की परम्परा में इस प्रतिक्रिया के स्पष्ट निर्देश मिलते हैं; और जैन धर्म की संस्थापना ७५० ई०पू० में हो चुकी थी—इस विषय में जैनों की अन्यथा-विश्वसनीय कालबुद्धि और कालगणना को यहां (और यहीं पर ?) झुठलाने की आवश्यकता नहीं। ब्यू'लर का तो यह विश्वास था ही कि वेदों (और ब्राह्मण-धर्म) की प्रगति तथा वेद-विरोध की प्रगति, दोनों, प्रायः समानान्तर ही होती रही हैं। दुर्भाग्यवश, एक निश्चित सिद्धान्त के रूप में यह साधित करने से पूर्व ही ब्यू'लर की मृत्यु हो गई।

१९०७ में एशिया-माइनर के अन्तर्गत **बोगाजकोई**[14] में ह्यगो विंक्लर की खुदाइयों ने ऋग्वेद तथा वैदिक संस्कृति के प्रश्न पर वाद-विवाद को जैसे फिर से जगा दिया है। प्राचीन हित्ती साम्राज्य की राजधानी के दबे 'प्राच्य' अवशेषों में कुछ मिट्टी की मुद्राएं भी मिली हैं जिन पर १४वीं सदी ई० पू० के शुरू में **हित्तियों और मितन्नियों के बीच हुई एक सन्धि** का उल्लेख एक राजकीय अनुशासन के रूप में मिलता है। सन्धिपत्र पर, शपथ खाते हुए, दोनों जातियों ने प्राचीन बेबिलोनियन तथा हित्ती देवताओं के साथ मित्र, वरुण, इन्द्र तथा नासत्या को भी पुकारा है। प्रश्न उठता है कि—एशिया-माइनर के मितन्नियों में ये वैदिक देवता कहां से पहुंच गये, और कैसे पहुंच गये? विद्वानों में इस विषय पर पर्याप्त मतभेद हैं। प्रसिद्ध ऐतिहासिक एडवर्ड मेयर के अनुसार ये देवता अविभक्त इण्डो-ईरानियन आर्यों के समय के अवशेष और हैं, (मेयर के ही अनुसार) भाषा और धर्म की एकता

को लिये थे, 'आर्यन' उन दिनों पश्चिमी मैसोपोटामिया और मीरिया के क्षितिज पर प्रकट हो चुके थे जबकि साथ ही साथ, दूसरी ओर—प्रायः समानान्तर, उत्तर-पश्चिम भारत में भी आर्यों की एक शाखा पृथक्-रूप से विकसित हो चुकी थी—जिसका प्रमाण १५०० ई० पू० के आसपास रचित अथवा संकलित वैदिक सूक्तों में हम पा सकते हैं। प्रायः इसी प्रकार का ही एक विचार प्रो० जाइल्स ने भी प्रकट किया है, जब कि —ओल्डनबर्ग के मत में—सन्धिपत्र में उल्लिखित ये देवता भारतीयों से मिलती-जुलती किसी पश्चिमीय आर्य-जाति के देवता थे (दोनों 'आर्यों' का मूल स्रोत सम्भवतः कोई **एक और प्राचीन परम्परा** रही होगी)। ओल्डनबर्ग ने इस प्रश्न को, अलबत्ता, नहीं छुआ कि ये आर्य लोग जरथुष्ट्र से पूर्व युग के ईरानी लोग थे अथवा कोई तीसरी ही जाति; कुछ हो, ओल्डनबर्ग की धारणा अडिग है कि 'बोगाजकोई के वर्तमान अनुसन्धान के आधार पर' वेदों को प्राचीनतर मानने की कोई नवीन आवश्यकता नहीं उठती।

अलबत्ता, यह सच है कि **वरुण, मित्र, इन्द्र और नासत्या** के इस संयोग की गवेषणा यदि कहीं हो सकती है तो वह भारतीयों के वेद-वाङमय में ही। इसलिए हम याकोबी, कोनो और हिल्लीब्रांट के इस विचार से सर्वथा सहमत हैं कि ये देवता विशुद्ध भारतीय वैदिक देवता ही हैं, इन्हें किसी और राष्ट्र या देश के देवता मानने की आवश्यकता नहीं। हां, इसके लिए—जैसे कि आर्य लोग पश्चिम की ओर से भारत में आये, उसी प्रकार—हमें यह भी मानना ही पड़ेगा कि कुछेक टुकड़ियां इन आर्यों की समय-समय पर वापिस (पश्चिम की ओर) भी जाती रहीं। इस वापसी का कारण युद्ध या बदला या वैवाहिक सम्बन्ध—कुछ भी हो सकता है। और हां, हम यह भी न भुला दें कि ऋग्वेद **के समय में भारत के आर्य भौगोलिक दृष्टि से भी, पूर्व की अपेक्षा, पश्चिम के निकट अधिक थे**। ऐतिहासिक काल गणना में बोगाजकोई के अभिलेखों से जो-कुछ तथ्य हमें मिलता है, वह इतना ही है कि प्रायः दूसरी सहस्त्राब्दी ईसवी पूर्व में वैदिक देवताओं को पूजने वाले ये आर्य भारत के उत्तर-पश्चिम में काफी समय से बस चुके होंगे क्योंकि इनकी कितनी ही उपजातियां १४०० ई० पू० के आसपास पश्चिम की ओर वापिस जा चुकी थीं, यह चीज ऊपर-ऊपर से देखने में, बहुत मामूली-सी लगती है, किन्तु—एक निर्णायक युक्ति के तौर पर इसका महत्त्व बहुत है (यदि भावी अनुसन्धानों से बोगाजकोई के लेखों में भारतीय 'गणना-अङ्क' हमें संयोगवश कल मिल जाएं[५]!

वेद के सम्बन्ध में ३००० ई० पू० की इस तिथि का कुछ भी आधार नहीं रह जाएगा यदि किसी तरह यह सिद्ध किया जा सके कि इण्डो-यूरोपियन जनगणों का वह मूल-वंश अभी उस तीसरी सहस्राब्दी में तितर-बितर नहीं हुआ था। इस कल्पना का सिरा प्रायः उन्हीं विद्वानों ने पकड़ा है जो भारतीय संस्कृति को अर्वाचीन-

से-अर्वाचीन सिद्ध करना ही अपना जीवन-ध्येय समझते हैं। हर्टल[16] का दावा है कि ऋग्वेद का निर्माण, उत्तर-पश्चिमी भारत में नहीं, ईरान में हुआ था और कि उसके काल को जरथुष्ट्र (हर्टल द्वारा गृहीत तिथि ५०० ई० पू०) से बहुत इधर-उधर नहीं किया जा सकता। ह्युमिङ्[17] का दावा, तो इससे भी कहीं बढ़-चढ़ कर है, क्योंकि—प्राचीन क्यूनिफार्म अभिलेखों में आये राजाओं के नामों को वह इस हद तक तोड़-मरोड़ देता है कि वे सचमुच भारतीय प्रतीत होने लगते हैं; और इन स्थापनाओं की 'सत्यता' पर वह निष्कर्ष निकालता है कि १००० ई० पू० के लगभग 'भारतीय लोग' आर्मीनिया की ओर से अफगानिस्तान में आ बसे थे—जहां उन्होंने ऋग्वेद की रचना की और, एक और युगान्तर में, उन्हें भारत की ओर दुम दबा कर आगे-भागना पड़ा! ब्रुनहॉफर की एक कल्पना का सहारा ले कर ह्यूमिङ् बड़ी आसानी से यह भी मान लेता है कि एक ग्रीक अभिलेख में उल्लिखित सीथियनों का राजा कनितास (दूसरी सदी ईसवी पूर्व) और कोई नहीं ऋग्वेद का 'कानीत पृथुश्रवम्' (ऋग्वेद ८. ४. ६. २१; शांखा. श्रौत० १६. २. २३) ही है—जिसका अर्थ दो शब्दों में यह हुआ कि इन सूक्तों को संहिता का रूप, पूर्णरूपेण, अभी दूसरी सदी ईसवी पूर्व में नहीं दिया जा सका था! (क्या वैदिक काल को अथवा ऋग्वेद की रचना को इससे भी अधिक अर्वाचीन सिद्ध किया जा सकता है?)

वेदों की अर्वाचीनता के सम्बन्ध में यदि कोई निश्चित युक्ति उपस्थित की जा सकती है तो वह है वेद और **अवस्ता** का भाषागत एवं धर्मगत परस्पर सम्बन्ध:[18] धार्मिक समानताओं के साथ उधर असमानताएं भी, उसी प्रकार की, कुछ कम नहीं हैं और, इसके अतिरिक्त—इन समानताओं की व्याख्या तो बड़ी आसानी से यह कह कर की जा सकती है कि भारतीय और ईरानी कितना लम्बा-अरसा किसी पूर्व-वैदिक, (पूर्व-अवस्तिक) युग में एक अविभक्त परिवार के रूप में—और फिर पड़ोसियों के रूप में भी—रहते आये थे। भाषाओं की समानताओं की दृष्टि से किसी भी नूतन परिवर्तन के लिए कोई निश्चित अवधियां नहीं बांधी जा सकतीं, क्योंकि—भाषा-भाषा पर एक ही नियम लागू नहीं हो सकता : कुछ भाषाएं ऐसी होती हैं जो अपना रूप बहुत जल्दी बदल लेती है, और कुछ ऐसी होती हैं जिनमें सदियों कुछ अन्तर नहीं आता। और यह अपरिवर्तन-शीलता[19] हम विशिष्ट धर्मों की अपनायी (ईश्वरीय!) भाषाओं में विशेष रूप से साक्षित देखते भी हैं।

खैर, अन्य भाषाओं तथा उपभाषाओं के इतिहास से जो-कुछ विचार हमारे स्थिर हो पाये हैं, उनके आधार पर—हमें यह विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता कि भाषाएं दस, बीस, तीस सहस्राब्द बिल्कुल-ही न-बदलें[20]। इस दृष्टि से—**भूगर्भ**

विद्या के व्यपदेश से, अथवा ग्रह-गणना की कल्पना से—वेदों को सोलह-हजार या पच्चीस-हजार ईसवी पूर्व तक पहुंचा देना महज एक खिलवाड़-सा प्रतीत होता है। इन तिथियों को स्वीकार कर लेने का अर्थ होगा कि–**इतने विपुल मन्वन्तरों में भारतीयों की-सी प्रतिभा से सम्पन्न उस प्राचीन युग में व राष्ट्र में कुछ भी सांस्कृतिक परिवर्तन नहीं हुआ !** इन गणनाओं की निस्सारता पुनः वैदिक संस्कृति तथा ब्राह्मण संस्कृति की परस्पर तुलना में भी स्वतः-सिद्ध हो जाती है। और, इसके अतिरिक्त, मुख्यतया ब्राह्मणग्रन्थों की भाषा के आधार पर निर्धारित पाणिनीय व्याकरण की तुलना अशोक के तीसरी सदी ईसवी पूर्व के अभिलेखों की भाषा के साथ जब हम करते हैं, तो दोनों की परस्पर-निकटता दोनों के बीच (गवेषकों द्वारा व्यर्थ प्र-क्षिप्त) सहस्राब्दियों के इस व्यवधान को एक-दम छूमन्तर कर देती है।

अन्त में, वैदिक काल-गणना के विषय में, परिणामतः, हमारे निष्कर्ष इन शब्दों में उपस्थित किये जा सकते हैं :—

१. नक्षत्र-विज्ञान के आधार पर वैदिक काल-निर्णय कुछ निश्चित नहीं हो पाता, क्योंकि—ऐसे प्रकरणों की व्याख्या के सम्बन्ध में ही अभी तक पर्याप्त मतभेद है। सो—वैज्ञानिक दृष्टि से ये तिथियां कितनी-ही सही हों, काल-निर्धारण के लिए उनका मूल्य तब तक कुछ-भी नहीं—जब तक कि उक्त प्रकरणों के सम्बन्ध में विद्वान् एक-मत नहीं हो जाते।

२. क्यूनिफार्म अभिलेखों में अथवा बोगजकोई के सिक्कों में आये ऐतिहासिक तथ्य अपने आप में इतने अनिश्चित हैं; और वैदिक प्राचीनता का इण्डो-यूरोपियन युग के साथ परस्पर-सम्बन्ध भी एक ऐसी अस्थिर सी युक्ति है—कि जिसके आधार पर विद्वान् अद्यावधि नितान्त-विभिन्न निष्कर्षों पर पहुंचते रहे हैं। हां, एशिया-माइनर तथा पश्चिमी-एशिया के साथ भारतीयों के सम्बन्ध की युक्ति, अलबत्ता, वैदिक युग को दूसरी सहस्राब्दी ईसवी पूर्व से बहुत इधर नहीं ला सकती।

३. वेद और अवस्ता में, वैदिक और लौकिक में, (भाषा-गत) परस्पर सादृश्य-विभेद की युक्ति भी हमें किन्हीं निश्चित तथ्यों पर पहुंचाती प्रतीत नहीं होती।

४. अलबत्ता, भाषा की यही युक्ति हमें सचेत अवश्य कर देती है कि—व्यर्थ ही हम भूगर्भ-विद्या अथवा हिरण्यगर्भ-विद्या के झांसे में आकर वेदों को कहीं बीस-चालीस हजार साल ईसवी पूर्व तक लेजाने न लग जायं।

५. और, अन्त में, जब सभी युक्तियां—सभी साक्षियां—व्यर्थ सिद्ध हो जाती हैं,तब–वेद की तिथि के सम्बन्ध में एक ही प्रमाण बच रहता है—और वह

(प्रमाण) हैः भारतीय वाङमय की ऐतिहासिक परम्परा का स्वतो-ऽभ्युदयः भारत के ऐतिहासिक पुराणपुरुष पार्श्व, महावीर, बुद्ध—सम्पूर्ण वैदिक वाङमय की सत्ता को अपने से पूर्व 'विनिश्चित' स्वीकार करते हैं, अर्थात् वैदिक वाङमय के किसी भी अंग को हम ५०० ई० पू० से इधर (किसी भी हालत में) नहीं ला सकते; और सुविधा के लिए यदि १२०० या १५०० ई० पू० को हम वैदिक वाङमय का अराम्भ-बिन्दु मान लें, तो—शेष साहित्य की विपुलता को हम ७०० वर्षों की छोटी-सी अवधि में फलता-फूलता नहीं देख सकते। सो, इस महान् साहित्यिक युग का श्रीगणेश २५००।२००० ई० पू० में हुआ और अन्त ७५०।५०० ई० पू० में—ऐसा मानने से हम दोनों प्रकार की अतियों से भी बच जाते हैं: इससे न तो वेद इतने प्राचीन हो जाते हैं कि उनमें पौरुषेयता का अंश निपट दुर्लभ हो जाय और न इतने अर्वाचीन ही कि उनकी साहित्यिक संगति निपट-'आधुनिक' प्रतीत होने लगे—'अ-वैदिक' ही प्रतीत होने लगे।

१ Weber : HIL, 2ff, 6ff.

२ *Oriental and Linguistic studies*, First Series, N. Y. 1872, 78.

३ *Indian Literatur and Kultur*, 291f.

४ *Uber die Erwähnung Sonnenfinsternissen im Rigveda.*

५ Thibaut : *Astronomie* (Grundriss III, 9), 12ff ; Oldenberg : *Nakṣatra und Sieou*, NGGW 1909, 544ff; Macdonell and Keith : *Vedic Index*, I, 527ff; Hommel: ZDMG, 54, 1891, 592ff.

६ *Festgruss an Roth*, 68-93; Thibaut : *Ind. Ant.*, 24, 85ff; Barth : JA, 1894. 156ff; Tilak, *Report*, 1883-84, 38, etc., etc.

७ ZDMG, 50, p. 71.

८ *Ind. Ant.*, 23, 1894, 245ff.

९ *Ind. Ant*, 23, 247 ff.

१० ZDMG, 49, 479.

११ *Vedic Concordance; Rigveda Repetitions*; JAOS (29, 1908, 287ff; 31, 1910, 49ff).

१२ Hopkins : JAOS, 22, 336n; Rapson : *Ancient India*, 181.

१३ *Die Lehre der Upanishaden und die Aufänge des Buddhismus*, 288. 359.

१४ Garbe : Beiträge Zur indischen Kulturgeschichte, 27ff; Winckler : *Mitteilungen der Deutschen Orient Gesellschaft*, 35, 1907, 51s; *Orientalist (Literaturzeitung*, 13, 1910, 289ff), *Mittenlungen der Vorderasiatischen Gesellschaft* 18, 1913, 114, 75ff).

१५ Rv, 8. 26.8 (cf. *Calcutta Review*, May 1924, 287ff). किन्तु क्या व्रात्यों और आर्यों में कोई 'ऐतिहासिक' सम्बन्ध तब (बन चुका) था ?

१६ *Indogerman* (Forschungen 41, 1923), 1923; *Die Zeit zoroaster*, 1924; *Die Himmelstore im Veda und im Avesta*, 7ff; Clemen : *Die Griechischen und latineischen Nachrichten über die persische Religion*, 11 ft; Reichelt : *Festschrift für Streitberg*, 282.

१७ Die Inder in Boghazköi, in Prace Linguistyczne oflarowane Janowi Baudouinowi de Courtenay, 151ff.

१८ Macdonell : ERE, 7, 1914, 49 ff.

१९ Procedings of the Indian Oriental Conference, I xviiff, II 20ff; Quarterly Journal of the Mythic Society, XII, 1, p. 4.

२० A. C. Das : *Rigvedic India*, I; *Calcutta Review*, March 1924 (540ff). Mukhopadhyaya : *Journal of the Department of Science*, Cal. Uni., 1923 ("The Hindu Naksatra").

अनुक्रम

अणुवँ भूमा

'पद-वाक्य-प्रमाण'त्वात् (त्रि-तोऽपि सन्)
स उ आप्त्यः